• प्रकाशक

भारतीय विद्या प्रकाशन

किशोर चंद जैन

पो० बा० १०८, कचौड़ीगली

वा रा ण सी

• विषय

जैन साहित्य और संस्कृति

• प्रथम संस्करण

महावीर जयंती

अप्रैल, १९७०

मूल्य	मुद्रक
सजिल्द : १०·००	शरदकुमार 'साधक'
अजिल्द : ८·००	मानव मंदिर मुद्रणालय, वाराणसी

समर्पण

साहित्य के गंभीर अध्येता

एवं

संस्कृति के सजगप्रहरी

परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य

श्री पुष्कर मुनि जी म०

को

लेखक की कलम से

साहित्य मानव-मस्तिष्क की एक विशिष्ट सम्पत्ति है। वह विचारशील मानवों की अमर अभिव्यक्ति है। साहित्य के साथ मानव-जीवन का आज से नहीं, किन्तु अज्ञातकाल से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। रोटी के अभाव में मानव जीवित रह सकता है किन्तु साहित्य के अभाव में उसका जीवित रहना कथमपि सभव नही है। समाज और राष्ट्र एक दिन नष्ट हो सकता है किन्तु साहित्य का कभी भी और किसी समय भी नाश नही हो सकता, वह अमर है। एतदर्थ ही अनन्तगोपाल शेवडे ने लिखा है "राजनीति क्षणभगुर है, चचल है परन्तु साहित्य चिरस्थायी है, मगलमय है, उसके आधारभूत मूल्यो की क्षति नही होती"। इटली के महान् विचारक सिसेरो ने भी लिखा है 'साहित्य का अध्ययन युवकों का पालन पोषण करता है, वृद्धो का मनोरजन करता है, संस्कृति का शृगार करता है, विभिन्न व्यक्तियो को धीरज देता है, घर में प्रमोदमय वातावरण रखता है और बाहर में मानव को वह विनीत बनाता है। साहित्य के साधकों ने साहित्य के इस उद्यान को अपने हृदय की मधुर कामना से सीचा है। यही कारण है कि साहित्य-सुमन की सुमधुर सौरभ से मानव का हृदय सदा प्रफुल्लित होता रहा है'। जर्मन के विद्वान् गेटे के अभिमतानुसार "साहित्य क पतन राष्ट्र के पतन का द्योतक है"। साहित्य से ही जन जन के अन्तर्मानस का सही परिज्ञान होता है। सुप्रसिद्ध समालोचक श्रीरामचन्द्र शुक्ल के शब्दो में कहा जाय तो "प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्त वृत्ति का सचिता प्रतिविम्ब होता है"। साहित्य के सम्बन्ध मे अग्रेजी कवि मिल्टन ने कहा है 'मुझे आप किसी देश की भाषा सिखा दीजिए। मुझे उस देश में जाने की जरूरत नही, मैं बतलादूँगा कि वहाँ के लोग कैसे हैं? तग खयाल के हैं, कमजोर हैं, मजबूत हैं या तगड़े हैं। क्योकि साहित्य और भाषा देश का दर्पण है।" मै समझता हूँ कि साहित्य के सम्बन्ध में इससे बढ़कर अन्य सुन्दर विचार नहीं हो सकते।

साहित्य की उपमा एक विचारक ने आदित्य से दी है। जैसे आदित्य विश्व के अंधकार को नष्ट करता है वैसे ही साहित्य भी समाज और राष्ट्र के अज्ञान-अंधकार को नष्ट करता है। कवि ने कहा है :—

अन्धकार है वहाँ जहाँ आदित्य नही है।
मुर्दा है वह देश, जहाँ साहित्य नही है॥

एक बार पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने कहा था–'देश के निर्माण की जिम्मेदारी वस्तुत. दो प्रकार के लोगो पर है—साहित्यकार और इन्जीनियर। दूसरे लोग जो दफ्तरो में काम करते हैं वे रहें या न रहें; काम चल सकता है। उक्त दो प्रकार के लोग देश की तरक्की की निशानी हैं। साहित्य और संस्कृति का देश को बढ़ाने में बहुत बडा हाथ है। अगर देश इसकी ओर ध्यान न दे और धन-दौलत कमाने में ही लग जाए, तो देश की प्रतिभा खत्म हो जाएगी। चमक निकल जाएगी। सच्ची चमक सोने-चाँदी में नही, साहित्य मे रहती है। देश को बढ़ाने में साहित्य और सस्कृति का बहुत बड़ा हिस्सा होता है।'

ज्ञान राशि के संचित कोश का नाम साहित्य है जिसके चिन्तन, मनन और परिशीलन से आध्यात्मिक व बौद्धिक विकास होता है। संस्कृत-साहित्य के यशस्वी विद्वान् राजशेखर ने साहित्य को पंचमी विद्या कहा है। अन्य चार विद्याएँ उसी में आजाती हैं। संक्षेप में कहा जाय तो मानव-समाज का जो हित चिन्तन है वह साहित्य है चाहे वह गद्य में हो या पद्य में हो।

प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचन्द्र जी ने लिखा है—जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें गति और शक्ति पैदा न हो, हमारा सौन्दर्य प्रेम जागृत न हो, जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयो पर विजय प्राप्त करने की सच्ची दृढता उत्पन्न न करे, वह साहित्य हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहलाने का अधिकारी नही है।

साहित्य कुसंस्कारो के स्थान पर सुसंस्कार उत्पन्न करता है। जीवन में विविध रसों की सृष्टि करता है। आनन्द का सृजन करता है। 'सत्य शिवं सुन्दरम्' से जीवन को चमकाता है। साहित्य फोटोग्राफी का कैमरा नही है जो केवल यथार्थ चित्र ही उपस्थित करे, वह तो कलाकार की तूलिका का चमत्कार है जिसमें यथार्थवाद और आदर्शवाद का मधुर समन्वय है। साहित्य के लिए दोनों वादों का समन्वय ही अपेक्षित है। क्योकि केवल आदर्शवाद कल्पना प्रधान होता है जो जीवन का ठोस सत्य प्रदान नही कर सकता और केवल यथार्थवाद अशुभ का उद्घाटन कर कुरुचि उत्पन्न करता है अतः आदर्शमूलक यथार्थवाद

ही श्रेयस्कर है। सुप्रसिद्ध समालोचक गंगा प्रसाद पाण्डे ने लिखा है—"उषा क्षितिज पर आती है तो केवल कमलदल को खिलाने के लिए नही अपितु समस्त सृष्टि को चैतन्य देने के लिए ही उसका उदय होता है।" साहित्य रूपी उषा भी इसी तरह जीवन क्षितिज पर किसी व्यक्ति विशेष या समाज विशेष को आनन्द देने के लिए नही है किन्तु इससे तो जन-जन का मन आनन्द-विभोर हो उठता है।

भारतीय साहित्य में जैन साहित्य का विशिष्ट स्थान है। वह पारमार्थिक के साथ लौकिक भी है, धार्मिक के साथ व्यावहारिक भी है, दार्शनिक के साथ वैज्ञानिक भी है, कोई भी ऐसा विषय नही जिस पर जैन विद्वानो ने साधिकार न लिखा हो। न्याय, दर्शन, योग, आचार, पुराण, इतिहास, कथा, व्याख्यान, स्तुति, नीति, रीति, विधिविधान, स्तोत्र, काव्य, नाटक, चम्पू, छन्द, अलंकार, निरुक्त, शिक्षा, कोष, व्याकरण, भूगोल, खगोल, ज्योतिष, गणित, मत्र, तंत्र, शकुन, सामुद्रिक अष्टांग, आयुर्वेद, नाड़ी-प्राण-विद्या, वनस्पति विद्या, मृग पक्षी विद्या, प्रभृति सभी विषयो पर अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। जिस विराट् वाङ्मय को निहार कर यह कहना किञ्चित् मात्र भी अतिशयोक्ति नही है कि जैन भारती विश्वभारती है।

जैन साहित्य किसी एक भाषा में निर्मित नही है। जैन लेखको ने किसी एक भाषा का मोह नही रखा है। उन्होने जनता की बोलचाल की भाषा को अपने साहित्य का माध्यम बनाया है। यही कारण है कि प्राकृत, संस्कृत, मागधी, शोर-सेनी, महाराष्ट्री, गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी, तामिल, तेलगू, कन्नाडी, प्रभृति भारत के उत्तर और दक्षिण की, पूर्व और पश्चिम की नई और पुरानी सभी भाषाओ में लिखा है।

भारतीय साहित्य के इतिहास का अवगाहन करने पर सखेद आश्चर्य होता है। इतिहास लेखको ने जैन साहित्य का उचित मूल्याकन नही किया। हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक विकास क्रम में इनके अस्तित्व तक की अवमानना की गई। इसका मुख्य कारण कुछ तो विद्वानो का साम्प्रदायिक अभिवेश, और कुछ जैन साहित्य के समुचित प्रकाशन का अभाव है। आज भी अधिकांश जैन साहित्य प्राचीन भण्डारो में लावारिस सम्पत्ति की तरह अस्त-व्यस्त बिखरा पड़ा है, न जाने कितने यशस्वी, और तेजस्वी साहित्यकार एवं भावुक भक्त कवि काल कवलित हो गये। दीमक के उदर में समा गये। आज आवश्यकता है प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थालयो का अनुशीलन, परिशीलन कर विद्वानों के समक्ष सर्वाङ्ग सम्पूर्ण जैन साहित्य का इतिहास प्रस्तुत किया जाय।

आगम प्रभावक श्री पुण्यविजय जी म०, स्वर्गीय नाथूराम प्रेमी, मोहनलाल दलीचन्द देसाई, डा० कामता प्रसाद जैन, अगरचन्द जी नाहटा प्रभृति विज्ञो के प्रयास से कुछ अज्ञात जैन साहित्यकार प्रकाश मे आये हैं पर अभी तक वहुत से साहित्यकार अन्धकाराच्छन्न है। उन्हे प्रकाश में लाने की आवश्यकता है, क्यो कि विना साहित्य के सस्कृति का सही परिज्ञान नही हो सकता। साहित्य सस्कृति का अक्षय वसन्त है। साहित्य के साथ संस्कृति का सम्बन्ध कव से है? यह कह सकना सरल नही है तथापि यह अविकार की भाषा में कहा जा सकता है कि साहित्य और संस्कृति मानव-जीवन के लिए वरदान हैं। उनका परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। किसी को भी किसी से पृथक् नही किया जा सकता। जैसे गुलाव के फूल मे से सौरभ को पृथक् करना संभव नही है क्योकि उसका जन्म गुलाव के साथ ही हुआ है, वह गुलाव के अणु अणु में व्याप्त है। गुलाव से सौरभ को पृथक् करने का अर्थ है उसके अस्तित्व को समाप्त करना। जिस देश, समाज और राष्ट्र का ध्यान साहित्य और संस्कृति से हटकर केवल धन-धान्य के संग्रह में ही लगा रहता है वह अपनी वास्तविक चमक-दमक को समाप्त कर देता है। राष्ट्र का गौरव चमचमाते हुए हीरे-पन्ने-माणक-मोती व स्वर्ण-चांदी में नहीं रहा हुआ है किन्तु साहित्य और सस्कृति में है। साहित्य और संस्कृति ही पशुत्व से ऊपर उठाकर मानव की प्रतिष्ठा करती है। पं० जवाहर लाल नेहरू ने कहा है—"एक इन्सान और जानवर में फर्क है! फर्क यह है कि जानवर को वात वहुत अर्से तक याद नही रहती, क्योकि उसके पास न भाषा है, न साहित्य है और न संस्कृति है, परन्तु मनुष्य जाति ने अपने विचारो को स्थायी बनानेके लिए भाषा और साहित्य व संस्कृति का आविष्कार किया है।"

संस्कृति शब्द का उद्गम सस्कार शब्द से हुआ है जिसका अर्थ है कि वह क्रिया जिसके द्वारा मन को माजा जाता है, जीवन को परिष्कृत किया जाता है, मानवता को निखारा जाता है और विचारो को संस्कारित किया जाता है वह संस्कृति है।

संस्कृति के लिए अग्रेजी में कल्चर शब्द का प्रयोग हुआ है और सभ्यता के लिए सिविलाइजेशन शब्द का। कुछ चिन्तक सिविलाइजेशन के अर्थ में ही कल्चर शब्द का प्रयोग करते है किन्तु वस्तुत कल्चर शब्द का अर्थ सिविलाइजेशन नही है अपितु विचारो का उत्कर्ष है। Twentieth Century Dictionary में कल्चर शब्द के तीन अर्थ दिये हैं. १ उत्पादन, २ विचारो का उत्कर्ष, और ३ संशोधन। इन तीनों के अतिरिक्त इसका सभ्यता अर्थ भी किया गया है किन्तु वस्तुत कल्चर शब्द का प्रयोग विचारो के माजने के अर्थ

आगम-साहित्य : एक पर्यवेक्षण

जैन आगम-साहित्य भारतीय साहित्य की अनमोल उपलब्धि है, अनुपम निधि है और ज्ञान-विज्ञान का अक्षय भण्डार है। अक्षरदेह से वह जितना विशाल और विराट् है उससे भी कही अधिक उसका सूक्ष्म एवं गम्भीर चिन्तन विशद व महान् है। जैनागमो का परिशीलन करने से सहज ही ज्ञात होता है कि यहाँ केवल कमनीय कल्पना के गगन मे विहरण नही किया गया है, न बुद्धि के साथ खिलवाड ही किया गया है और न अन्य मत-मतान्तरो का खण्डन-मण्डन ही किया गया है। जैनागम जीवन के क्षेत्र में नया स्वर, नया साज और नया शिल्प लेकर उतरते हैं। उन्होने जीवन का सजीव यथार्थ व उजागर दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, जीवनोत्थान की प्रबल प्रेरणा प्रदान की है, आत्मा की शाश्वत सत्ता का उद्घोष किया है और उस की सर्वोच्च विशुद्धि का पथ प्रदर्शित किया है। उसके साधन रूप में त्याग, वैराग्य और संयम से जीवन को चमकाने का सन्देश दिया है। सयम-साधना आत्म-आराधना और मनोनिग्रह का उपदेश दिया है।

जैनागमो के पुरस्कर्ता केवल दार्शनिक ही नही, अपितु महान् व सफल साधक रहे हैं। उन्होने 'काण्ट' की भाँति एकान्त-शान्त स्थान पर बैठकर तत्त्व की विवेचना नही की है और न 'हेगेल' की भाँति राज्याश्रय में रहकर अपने विचारो का प्रचार किया है और न उन वैदिक ऋषियो की भाँति आश्रमो में रहकर कंद मूल फल खाकर जीवन-जगत् की समस्याओ को सुलझाने का प्रयास किया है, किन्तु उन्होने सर्वप्रथम मन के मैल को साफ किया, आत्मा को साधना की अग्नि में तपाकर स्वर्ण की तरह निखारा। प्रथम स्वयं ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की साधना की, कठोर तप की आराधना की, और अन्त में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मों को नष्ट कर आत्मा में अनन्त परमात्मिक ऐश्वर्य के दर्शन किये। उसके पश्चात् उन्होने सभी जीवो की रक्षा रूप दया के लिए प्रवचन किये[1]। आत्मसाधना का नवनीत जन-जन के समक्ष प्रस्तुत किया। यही कारण है कि जैनागमो में जिस

१. सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिय।

—प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार

प्रकार आत्म-साधना का वैज्ञानिक और क्रम बद्ध वर्णन उपलब्ध होता है, वैसा वर्णन किसी भी प्राचीन पौर्वात्य और पाश्चात्य विचारक के साहित्य में नही मिलता। वेदों में आध्यात्मिक चिन्तन की अपेक्षा लोक चिन्तन अधिक हुआ है। उसमें जितना देवस्तुति का स्वर मुखरित है, उतना आत्म-साधना का नही। उपनिषद् आध्यात्मिक चिन्तन की ओर अवश्य ही अग्रसर हुए हैं किन्तु उनका ब्रह्मवाद और आध्यात्मिक विचारणा इतनी अधिक दार्शनिक है कि उसे सर्व-साधारण के लिए समझना कठिन ही नही, कठिनतर है। जैनागमो की तरह आत्मसाधना का अनुभूत मार्ग उनमें नही है। डाक्टर हर्मन जेकोबी, डाक्टर शुब्रिंग, प्रभृति पाश्चात्य विचारक भी यह सत्य-तथ्य एक स्वर-से स्वीकार करते हैं कि जैनागमो मे दर्शन और जीवन का, आचार और विचार का, भावना और कर्तव्य का, जैसा सुन्दर समन्वय हुआ है, वैसा अन्य साहित्य में दुर्लभ है।

आगम के पर्यायवाची

वैदिक शास्त्रो को जैसे 'वेद', बौद्ध शास्त्रो को जैसे 'पिटक' कहा जाता है वैसे ही जैन शास्त्रो को 'श्रुत' 'सूत्र' या 'आगम' कहा जाता है। आज-कल आगम शब्द का प्रयोग अधिक होने लगा है किन्तु अतीत काल में श्रुत शब्द का प्रयोग अधिक होता था[१]। श्रुत केवली, श्रुत स्थविर[२] शब्दो का प्रयोग आगमो में अनेक स्थलो पर हुआ है किन्तु कही पर भी आगम केवली या आगम स्थविर का प्रयोग नही हुआ है।

श्रुत, सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, प्रवचन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापन, आगम[३] आप्तवचन, ऐतिह्य, आम्नाय और जिन वचन[४], श्रुत ये सभी आगम के ही पर्यायवाची शब्द हैं।

आगम की परिभाषा

आगम शब्द—आ—उपसर्ग और गम् धातु से निष्पन्न हुआ है। आ—उपसर्ग का अर्थ समन्तात् अर्थात् पूर्ण है और गम्-धातु का अर्थ गति-प्राप्ति है व

आगम शब्द की अनेक परिभाषाएँ आचार्यों ने की हैं। 'जिससे वस्तुतत्त्व (पदार्थ-रहस्य) का परिपूर्ण ज्ञान हो, वह आगम है[५] जिससे पदार्थों का यथार्थ

---

१. नन्दी सू० ४१

२ स्थानाङ्ग० सू० १५९

३. सुयसुत्त ग्रन्थ सिद्धंतपवयणे आणवयण उवएसे पण्णवण आगमे या एगट्ठा पज्जवा सुत्ते—अनुयोग द्वार ४, विशेषावश्यक भाष्य गा० ८।९७।

४. तत्त्वार्थ भाष्य० १-२०

५. आ—समन्ताद् गम्यते वस्तुतत्त्वमनेनेत्यागम.॥

ज्ञान हो, वह आगम है।[१] जिससे पदार्थों का परिपूर्णता के साथ मर्यादित ज्ञान हो, वह आगम है।[२] जो तत्त्व आचार परम्परा से वासित होकर आता है, वह आगम है।[३] आप्त वचन से उत्पन्न अर्थ (पदार्थ) ज्ञान आगम कहा जाता है। उपचार से आप्त वचन भी आगम माना जाता है[४]। आप्त का कथन आगम है।[५] जिससे सही शिक्षा प्राप्त होती है, विशेष ज्ञान उपलब्ध होता है वह शास्त्र आगम या श्रुतज्ञान कहलाता है।[६] इस प्रकार आगम शब्द समग्र श्रुति का परिचायक है, पर जैन दृष्टि से वह विशेष ग्रथो के लिए व्यवहृत होता है।

जैन दृष्टि से आप्त कौन है ? प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है कि जिन्होने राग-द्वेष को जीत लिया है वह जिन तीर्थङ्कर सर्वज्ञ भगवान् आप्त हैं और उनका उपदेश एवं वाणी ही जैनागम है[७] क्योकि उनमे वक्ता के साक्षात् दर्शन एवं वीतरागता के कारण दोष की सभावना नही होती और न पूर्वापर-विरोध तथा युक्ति बाध ही होता है।

---

१ आगम्यन्ते मर्यादयाऽवबुद्धयन्तेऽर्था अनेनेत्यागम।

—रत्नाकरावतारिका वृत्ति

२ आ—अभिविधिना सकलश्रुतविषयव्याप्ति रूपेण, मर्यादया वा यथा-वस्थितप्ररूपणारूपया गम्यन्ते—परिच्छिद्यन्ते अर्था येन स आगम.।

—आवश्यक मलयगिरि वृत्ति

—नन्दीसूत्रवृत्ति

३ आगच्छत्याचार्यपरम्परया वासनाद्वारेणेत्यागम.।

—सिद्धसेनगणी कृत भाष्यानुसारिणी टीका पृ० ८७।

४. आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागम । उपचारादाप्त वचन च।

—स्याद्वाद मंजरी ३८ श्लो० टीका०।

५. आप्तोपदेश शब्द.। न्यायसूत्र १।१।७।

६. सासिज्जइ जेण तयं सत्थं तं वा विसेसियं नाणं।
आगम एव य सत्थं आगमसत्थं तु सुयनाणं॥

—विशेषावश्यकभाष्य गा० ५५९।

७. जं णं इम अरिहतेहिं भगवतेहिं उप्पण्णणाण-दंसण-धरेहिं तीय-पच्चुप्प-ण्णमणागय–जाणएहिं तिलुक्कवहित महितपूइएहिं सव्वण्णूहिं सव्व-दरिसीहिं–पणी यं दुवालसंगं गणिपिडग, तं जहा–आयारो जाव दिट्ठवाओ। —अनुयोग द्वार सूत्र ४२

(ख) नन्दी सूत्र ४०।४१

(ग) वृहत्कल्प भाष्य गा० ८८

निर्युक्तिकार भद्रबाहु कहते हैं—'तप-नियम-ज्ञान रूप वृक्ष के ऊपर आरूढ होकर अनन्तज्ञानी केवली भगवान् भव्यात्माओ के विबोध के लिए ज्ञानकुसुमो की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धि-पट में उन सकल कुसुमो को झेलकर प्रवचनमाला गूंथते हैं'।[1]

(तीर्थङ्कर केवल अर्थ रूप में उपदेश देते है और गणधर उसे ग्रन्थवद्ध या सूत्रबद्ध करते हैं।[2] अर्थात्मक ग्रंथ के प्रणेता तीर्थङ्कर होते हैं एतदर्थ आगमो मे यत्र तत्र 'तस्सणं अयमट्ठे पण्णगे' (समवाय) शब्द का प्रयोग हुआ है। जैन आगमो को तीर्थङ्कर प्रणीत कहा जाता है।[3] यहाँ पर यह विस्मरण नही होना चाहिए कि जैनागमो की प्रामाणिकता केवल गणधर कृत होने से ही नही है अपितु उसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थङ्कर की वीतरागता एवं सर्वार्थ साक्षात्कारित्व के कारण है।

जैन अनुश्रुति के अनुसार गणधर के समान ही अन्य प्रत्येक बुद्ध-निरूपित आगम भी प्रमाण रूप होते हैं।[4] गणधर तो केवल द्वादशाङ्गी की ही रचना करते हैं। अग वाह्य रूप से प्रसिद्ध आगमो की रचना स्थविर करते हैं।[5]

---

१ तवनियमनाणरुक्ख आरूढो केवली अमियनाणी।
तो मुयइ नाणवुट्ठिं भवियजणविवोहणट्ठाए॥
तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिण्हिउं निखसेसं।
तित्थयरभासियाइं गंथंति त ओ पवयणट्ठा॥
—आवश्यक निर्युक्ति गा० ८९-९०

२ अत्थ भासइ अरहा, सुत्तं गन्थन्ति गणहरा निउण।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्त पवत्तइ॥
—आवश्यक निर्युक्ति गा० १९२

(ख) धवला भाग १ पृ० ६४ तथा ७२

३. नन्दीसूत्र ४०

४. सुत्त गणहरकथिदं, तहेव पत्तेयबुद्धकथिदं च।
सुदकेवलिणा कथिदं अभिण्णदसपूव्वकथिदं च॥—मूलाचार ५-८०
(ख) जयधवला पृ० १५३
(ग) ओघनिर्युक्ति द्रोणाचार्य टीका० पृ० ३

५ (क) विशेषावश्यकभाष्य गा० ५५०।
(ख) वृहत्कल्पभाष्य १४४
(ग) तत्त्वार्थभाष्य १–२०
(घ) सर्वार्थसिद्धि–१–२०

यह भी माना जाता है कि गणधर सर्वप्रथम तीर्थङ्कर भगवान् के समक्ष यह जिज्ञासा अभिव्यक्त करते हैं कि—भगवान् ! तत्त्व क्या है ? (भगवं कि तत्तं ?) उत्तर में भगवान् उन्हे 'उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइवा' यह त्रिपदी प्रदान करते है। त्रिपदी के फल स्वरूप वे जिन आगमो का निर्माण करते हैं वे आगम अंगप्रविष्ट कहलाते हैं, और शे ा सभी रचनाएँ अंग बाह्य[1]। द्वादशागी अवश्य ही गणधर कृत है क्योकि वह त्रिपदी से उद्भूत होती है किन्तु गणधर कृत समस्त रचनाएँ अग में नही आती। त्रिपदी के विना जो मुक्त व्याकरण से रचनाएँ होती हैं वे चाहे गणधर कृत हो या स्थविर कृत, अंग बाह्य कहलाती हैं।

स्थविर दो प्रकार के होते हैं .—

(१) संपूर्ण श्रुतज्ञानी और

(२) दशपूर्वी

सम्पूर्ण श्रुतज्ञानी चतुर्दशपूर्वी होते हैं। वे सूत्र और अर्थ रूप से सम्पूर्ण द्वादशागी रूप जिनागम के ज्ञाता होते है। वे जो कुछ भी कहते है या लिखते हैं उसका किंचित् मात्र भी विरोध मूल जिनागम से नही होता। एतदर्थ ही वृहत्कल्पभाष्य मे कहा है कि—'जिस बात को तीर्थङ्कर ने कहा है उस बात को श्रुत केवली भी कह सकता है'[2] श्रुतकेवली भी केवली के सदृश ही होता है। उसमें और केवली में विशेष अन्तर नही होता। केवली समग्र तत्त्व को प्रत्यक्षरूपेण जानते हैं, श्रुत केवली उसी समग्र तत्त्व को परोक्षरूपेण—श्रुतज्ञान द्वारा जानते हैं। एतदर्थ उनके वचन भी प्रामाणिक होते है। प्रामाणिक होने का

---

१ यद् गणधरै साक्षाद् लब्ध तदङ्गप्रविष्ट तच्च द्वादशाङ्गमेतत्पुन स्थविरैर्भद्रबाहु स्वामिप्रभृतिभि राचार्यैरुपनिबद्ध तदनङ्गप्रविष्ट, तच्चावश्यकनिर्युक्त्यादि। अथवा वारत्रय गणधरपृष्टेन सता भगवता तीर्थङ्करेण यत्प्रत्युच्यते 'उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा' इति यत्त्रय तदनुसृत्य यन्निष्पन्न तदङ्गप्रविष्ट, यत्पुनर्गणधरप्रश्नव्यतिरेकेण शेषकृतप्रश्नपूर्वकं वा भगवतो मुत्कलं व्याकरणं तदधिकृत्य यन्निष्पन्न जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्यादि, यच्च वा गणधर वचास्येवोपजीव्य दृब्धमावश्यक निर्युक्त्यादि पूर्वस्थविरैस्तदङ्ग प्रविष्ट ''सर्वपक्षेषु द्वादशाङ्गानामङ्गप्रविष्टं शेषमनङ्गप्रविष्ट।

(ख) आवश्यक मलयगिरिवृत्ति पत्र ४८

२. वृहत्कल्पभाष्य गा० ९६३—९६६

एक कारण यह भी है कि चतुर्दश पूर्वधर और दशपूर्वधर साधक नियमत सम्यग्दशी होते है।[1] 'तमेव सच्चं णीसकं ज जिणेहिं पवेइय'[2] तथा 'णिग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे' उनका मुख्य घोष होता है। वे सदा निर्ग्रन्थ प्रवचन को आगे करके ही चलते है।[3] एतदर्थ उनके द्वारा रचित ग्रन्थो मे द्वादशागी से विरुद्ध तथ्यो की सभावना नही होती, उनका कथन द्वादशागी से अविरुद्ध होता है। अत. उनके द्वारा रचित ग्रन्थो को भी आगम के समान प्रामाणिक माना गया है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि उनमें स्वत. प्रामाण्य नही, परत प्रामाण्य है। उनका परीक्षणप्रस्तर द्वादशागी है। अन्य स्थविरो द्वारा रचित ग्रन्थो की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता का मापदण्ड भी यही है कि वे जिनेश्वर देवो की वाणी के अनुकूल है तो प्रामाणिक है और प्रतिकूल हैं तो अप्रामाणिक।

पूर्व और अंग

जैन आगमो का प्राचीनतम वर्गीकरण समवायांग में मिलता है। वहाँ आगम साहित्य का पूर्व और अग के रूप में विभाजन किया गया है। पूर्व संख्या की दृष्टि से चौदह थे[4] और अग बारह[5]।

---

१. वृहत्कल्पभाष्य गा० १३२
२. आचाराग ५।१६३। उद्दे० ५
३. भगवती २।५
४. चउद्दस पुव्वा प० तं०—

उप्पायपुव्यमग्गेणियं च तइय च वीरियं पुव्वं।
अत्थीनत्थि पवाय तत्तो नाणप्पवायं च ॥
सच्चप्पवायपुव्व तत्तो आयप्पवायपुव्वं च।
कम्मप्पनायपुव्य पच्चक्खाणं भवे नवमं ॥
विज्जाअणुप्पवायं अवंझपाणाउ बारस पुव्वं।
इत्तो किरियविसालं पुव्वं तह बिंदुसार च ॥

—समवायाङ्ग, समवाय १४

५ दुवालसगे गणिपिडगे प० त०—
आयारे, सूयगडे, ठाणे, समवाए, विवाहपन्नत्ती, णायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हावागरणाइ, विवागसुए, दिट्ठिवाए।

—समवायाङ्ग, समवाय १३६

पूर्व

पूर्व श्रुत व आगम साहित्य की अनुपम मणि-मजूषा है। कोई भी विषय ऐसा नही है जिसके सम्बन्ध में पूर्व साहित्य मे विचार-चर्चा न की गई हो। पूर्वश्रुत के अर्थ और रचना काल के सम्बन्ध में विज्ञो के विभिन्न मत हैं। आचार्य अभय देव आदि के अभिमतानुसार द्वादशागी से प्रथम पूर्व साहित्य निर्मित किया गया था। इसी से उसका नाम 'पूर्व' रखा गया है।[१] कुछ चिन्तको का यह मंतव्य हैं कि पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा की श्रुत राशि है। श्रमण भगवान् महावीर से पूर्ववर्ती होने के कारण यह 'पूर्व' कहा गया है।[२] जो हो, इतना तो स्पष्ट है कि पूर्वो की रचना द्वादशाङ्गी से प्रथम हुई।

वर्तमान में पूर्व द्वादशागी से पृथक् नही माने जाते हैं। दृष्टिवाद बारहवाँ अंग है। पूर्वगत उसी का एक विभाग है तथा चौदह पूर्व इसी पूर्वगत के अन्तर्गत हैं। जैन अनुश्रुति के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर ने सर्वप्रथम 'पूर्वगत' अर्थ का निरूपण किया था और उसे ही गौतम प्रभृति गणवरो ने पूर्व श्रुत के रूप में निर्मित किया था। किन्तु पूर्वगत श्रुत अत्यन्त क्लिष्ट और गहन था, अत उसे साधारण अध्येता समझ नही सकता था। एतदर्थ अल्प मेधावी व्यक्तियो के लिए आचराग आदि अन्य अङ्गो की रचना की गई। जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण ने स्पष्ट कहा है—दृष्टि वाद में समस्त शब्द ज्ञान का अवतार हो जाता है तथापि ग्यारह अगो की रचना अल्प मेधावी पुरुषो और

---

१. प्रथमं पूर्वं तस्य सर्वप्रवचनात् पूर्वं क्रियमाणत्वात्।

—समवायाग वृत्ति पत्र १०१

(ख) सर्वश्रुतात् पूर्व क्रियते इति पूर्वाणि, उत्पादपूर्वाऽदीनि चतुर्दश।

—स्थानाङ्ग सूत्रवृत्ति १०।१

(ग) जम्हा तित्थकरो तित्थपवत्तणकाले गणधराणं सव्वसुत्ताधारत्तणतो पुव्वं पुव्वगतसुत्तत्थं भासति तम्हा पुव्व ति भणिता।

—नन्दी सूत्र (विजय दानसूरि सशोधित चूर्णि पृ० १११ अ

२ अन्ये तु व्याचक्षते पूर्वं पूर्वगत सूत्रार्थं मर्हन् भाषते, गणधरा अपि पूर्वं पूर्वगतसूत्रं विरचयन्ति पश्चादाचारादिकम्।

—नन्दी, मलयगिरि प. २४०

(ख) पुव्वाणं गयं पत्त-पुव्वसरूव वा पुव्वगयमिदि गणणामं।

—षट्खण्डागम (धवला टीका) वीरसेनाचार्य पुस्तक १ पृ ११४

महिलाओ के लिए की गई[1]। जो श्रमण प्रबल प्रतिभा के होते थे, वे पूर्वों का अध्ययन करते थे[2] और जिनमे प्रतिभा की तेजस्विता नही होती थी, वे ग्यारह अंगो का अध्ययन करते थे।[3]

जब तक आचाराग आदि अग साहित्य का निर्माण नही हुआ था तब तक भगवान् महावीर की श्रुत-राशि चौदह पूर्व या दृष्टिवाद के नाम से ही पहचानी जाती थी। जब आचार प्रभृति ग्यारह अंगो का निर्माण हो गया तब दृष्टिवाद को बारहवें अंग में स्थान दे दिया गया।

आगम साहित्य में द्वादश अंगो को पढ़ने वाले,[4] और चौदह पूर्व पढने वाले[5] दोनो प्रकार के साधको का वर्णन मिलता है किन्तु दोनो का तात्पर्य एक ही है। जो चतुर्दशपूर्वी होते थे, वे द्वादशागवित् भी होते थे क्योकि बारहवें अंग में चौदह पूर्व है ही।

अङ्ग—

जैन, बौद्ध, और वैदिक तीनो ही भारतीय परम्पराओ में 'अङ्ग' शब्द का प्रयोग हुआ है। जैन परम्परा मे उसका प्रयोग मुख्य आगम ग्रन्थ गणिपिटक के अर्थ में हुआ है। 'दुवाल संगे गणिपिडगे'[6] कहा गया है।

---

१. जइवि य भूतावाए, सव्वस्स वओमयस्स ओयारो।
   निज्जूहणा तहावि हु, दुम्मेहे पप्प इत्थी य॥
   —विशेपावश्यक भाष्य गा ५५४
   (ख) प्रभावक चरित्र, श्लो ११४-१६ प्रभाचन्द सूरि

२ चोद्दसपुव्वाइ अहिज्जइ। —अतगड, ३ वर्ग अ ९
   (ख) सामाइयमाइयाइं चोद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ।
   —अंतगड ३, वर्ग अ १
   (ग) भगवती ११-११-४३२।१७-२-६१७।

३ सामाइय माइयाइ एकारस अंगाइं अहिज्जइ।
   —अंतगड, ६ वर्ग अ १५
   (ख) वही ८ वर्ग अ १
   (ग) भगवती २।१।९।
   (घ) ज्ञाताधर्म अ. १२। ज्ञाता २।१।

४ अन्तगड वर्ग ४, अ. १

५ अन्तगड वर्ग ३, अ. ९

६. समवायाङ्ग प्रकीर्णक समवाय सूत्र ८८

(१) आचार (२) सूत्रकृत (३) स्थान (४) समवाय (५) भगवती (६) ज्ञाता धर्मकथा (७) उपासक दशा (८) अन्तकृद् (९) अनुत्तरोपपातिक (१०) प्रश्नव्याकरण (११) विपाक और (१२) दृष्टि-वाद । ये बारह अंग हैं ।

आचार प्रभृति आगम श्रुत-पुरुष के अङ्गस्थानीय होने से भी अङ्ग कहलाते हैं[1] ।

वैदिक परम्परा मे वेद के अर्थ मे अङ्ग शब्द व्यवहृत नही हुआ है अपितु वेद के अध्ययन में जो सहायक ग्रथ है, उनको अग कहा गया है और वे छह हैं[2] —

(१) शिक्षा—शब्दोच्चारण के विधान का प्ररूपक ग्रन्थ ।

(२) कल्प—वेद-निरूपित कर्मों का यथावस्थित प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ ।

(३) व्याकरण—पद-स्वरूप, और पदार्थ निश्चय का वर्णन करने वाला ग्रन्थ ।

(४) निरुक्त—पदो की व्युत्पत्ति का वर्णन करने वाला ग्रन्थ ।

(५) छन्द—मन्त्रो का उच्चारण किस स्वर विज्ञान से करना, इसका निरूपण करने वाला ग्रन्थ ।

(६) ज्योतिष—यज्ञ-याग आदि कृत्यो के लिए समय शुद्धि को बताने बताने वाला ग्रन्थ ।

बौद्ध साहित्य के मूल ग्रन्थ त्रिपिटक माने जाते हैं किन्तु उनके साथ अंग शब्द का प्रयोग नही हुआ है । किन्तु पालि-साहित्य में बुद्ध के वचनो को नवाग[3] और द्वादशाग[4] अवश्य ही कहा गया है । नवाङ्ग इस प्रकार है —

---

१ मूलाराधना ४।५९९ विजयोदया ।

२. पाणिनीय शिक्षा—४१, १२

३ सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र, २ ३४, [डाक्टर नलिनाक्ष दत्त का देवनागरी संस्करण, रायल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता सन् १९५३]

४ सूत्र गेय व्याकरण, गाथोदानावदानकम् ।
इतिवृत्तकं निदान, वैपुल्यं च सजातकम् ।
उपदेशाद्भुतो धर्मो, द्वादशागमिद वच ।।
—बौद्ध सस्कृत ग्रन्थ, अभिसमयालकार को टीका—पृ. ३५

(१) सुत्त—बुद्ध का गद्यमय उपदेश ।

(२) गेय्य—गद्य पद्य मिश्रित अंश ।

(३) वेयाकरण—व्याख्यात्मक ग्रन्थ ।

(४) गाथा—पद्य में निर्मित ग्रन्थ ।

(५) उदान—बुद्ध के मुखारविन्द से निसृत भावपूर्ण प्रीति-उद्गार ।

(६) इतिवुत्तक—लघु प्रवचन, जो 'बुद्ध ने इस प्रकार कहा' से प्रारंभ होते हैं ।

(७) जातक - बुद्ध के पूर्व-भव ।

(८) अब्भुतधम्म—चामत्कारिक वस्तुओ और विभूतियो का वर्णन करने वाले ग्रन्थ ।

(९) वेदल्ल—प्रश्नोत्तर शैली में लिखे गये उपदेश ।

द्वादशांग इस प्रकार हैं :—

(१) सूत्र, (२) गेय, (३) व्याकरण, (४) गाथा, (५) उदान, (६) अवदान, (७) इति वुत्तक, (८) निदान, (९) वैपुल्य, (१०) जातक, (११) उपदेश धर्म और (१२) अद्भुत धर्म ।

अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य

आगमो का दूसरा वर्गीकरण देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के समय का है । उन्होने आगमो को अग-प्रविष्ट और अग बाह्य इन दो भागो मे विभक्त किया ।[1]

अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य का विश्लेषण करते हुए जिन भद्रगणी क्षमा श्रमण ने तीन हेतु बतलाये हैं । अग प्रविष्ट श्रुत वह है—

(१) जो गणधर के द्वारा सूत्र रूप से बनाया हुआ होता है ।

(२) जो गणधर के द्वारा प्रश्न करने पर तीर्थङ्कर के द्वारा प्रतिपादित होता है ।

(३) जो शाश्वत सत्यो से सम्बंधित होने के कारण ध्रुव एवं सुदीर्घ-कालीन होता है ।[2]

---

१. अहवा त समासओ दुविह पण्णत्त, त जहा—अङ्गपविट्ठं अंग बाहिरं च ।
—नन्दी सूत्र ४३

२ गणहर थेरकयं वा, आएसा मुक्क—वागरणओ वा ।
ध्रुव-चल विसेसओ वा अंगाणगेसु नाणत्त ॥
—विशेषावश्यक भाष्य गा० ५५२

एतदर्थ ही समवायाग[१] एवं नन्दी सूत्र[२] मे स्पष्ट कहा है—द्वादशागभूत गणिपिटक कभी नही था, ऐसा नही है, कभी नही है, ऐसा भी नही है, और कभी नही होगा, यह भी नही। वह था, है, और होगा। वह ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है और नित्य है।

अंग वाह्य श्रुत इससे विपरीत होता है

(१) जो स्थविर कृत होता है,

(२) जो विना प्रश्न किये तीर्थङ्करो द्वारा प्रतिपादित होता है।

वक्ता के भेद की दृष्टि से भी अगप्रविष्ट और अंगवाह्य ये दो भेद किये गये है[३]। जिस आगम के मूल वक्ता तीर्थंकर हो और संकलनकर्ता गणधर हो वह अंग प्रविष्ट है। पूज्यपाद ने वक्ता के तीन प्रकार वतलाये है—(१) तीर्थंकर, (२) श्रुत केवली, (३) आरातीय।[४] आचार्य अकलक ने कहा है कि आरातीय आचार्यों के द्वारा निर्मित आगम अंगप्रतिपादित अर्थ के निकट या अनुकूल होने के कारण अंगवाह्य कहलाते है।[५]

समवायाङ्ग और अनुयोग द्वार में तो केवल द्वादशागी का ही निरूपण है किन्तु नन्दी सूत्र में, अंग-प्रविष्ट, अंग—वाह्य का तो भेद किया ही गया है, साथ ही अगवाह्य के आवश्यक, आवश्यकव्यतिरिक्त, कालिक और उत्कालिक रूप मे आगम की सम्पूर्ण शाखाओ का परिचय दिया गया है जो इस प्रकार है —

---

१. दुवालसंगे ण गणि पिडगे ण कयावि णत्थि, ण कयाइ णासी, ण कयाइ ण भविस्सइ।

भुविं च, भवति य भविस्सति य, अयले धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे।

—समवायाङ्ग समवाय १४८, मुनि कन्हैयालाल 'कमल' सम्पादित पृ० १३८

२ नन्दी सूत्र ५७

३. वक्तृ-विशेषाद् द्वैविध्यम्। —तत्वार्थभाष्य १।२०

४ त्रयो वक्तार.—सर्वज्ञस्तीर्थंकर इतरो वा श्रुतकेवली आरातीयश्चेति —सर्वार्थसिद्ध १।२० पूज्यपाद

५ आरातीयाचार्यकृताङ्गार्थप्रत्यासन्नरूपमङ्गवाह्यम्। —तत्त्वार्थ राजवार्तिक, १।२०, अकलक

आगम

अंगप्रविष्ट

आचार
सूत्रकृत
स्थान
समवाय
भगवती (विआहे)
ज्ञाताधर्मकथा
उपासकदशा
अन्तकृत् दशा
अनुत्तरौपपातिकदशा
प्रश्नव्याकरण
विपाक
दृष्टिवाद

आवश्यक

सामायिक
चतुर्विशतिस्तव
वन्दना
प्रतिक्रमण
कायोत्सर्ग
प्रत्याख्यान

कालिक

उत्तराध्ययन
दशाश्रुतस्कंघ
कल्प
व्यवहार
निशीथ
महानिशीथ
ऋषिभाषित
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
द्वीपसागर प्रज्ञप्ति
चन्द्रप्रज्ञप्ति
क्षुल्लिकाविमानप्रविभक्ति
महल्लिका विमानप्रविभक्ति
अग चूलिका
वंग चूलिका
विवाह चूलिका
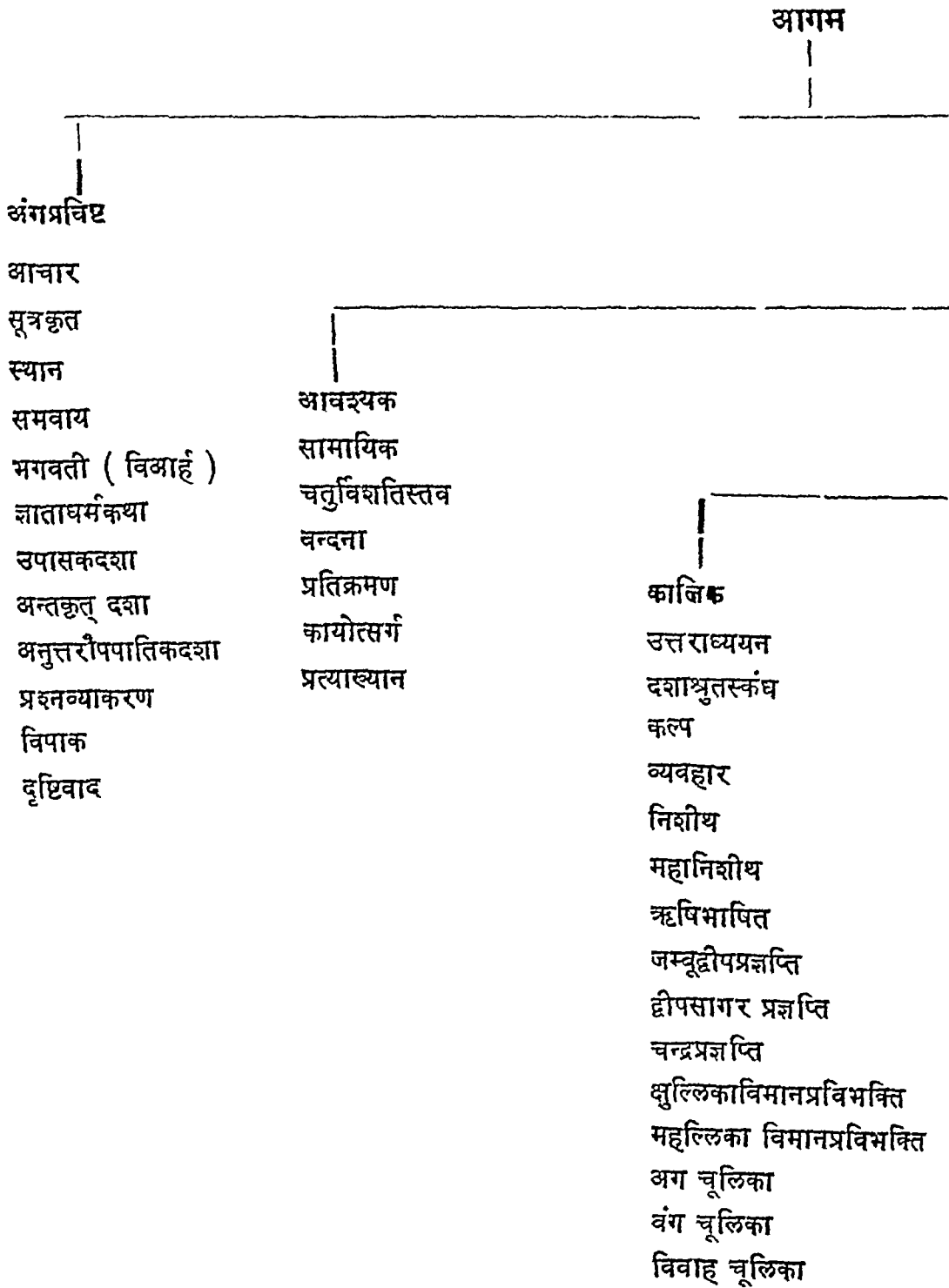
अंगबाह्य

आवश्यक व्यतिरिक्त

उत्कालिक

अरुणोपपात	दशवैकालिक	सूर्यप्रज्ञप्ति
वरुणोपपात	कल्पिकाकल्पिक	पौरुषीमंडल
गरुलोपपात	चुल्लकल्पश्रुत	मण्डलप्रवेश
धरणोपपात	महाकल्पश्रुत	विद्याचरणविनिश्चय
वेसमणोपपात	औपपातिक	गणि विद्या
वेलन्धरोपपात	राजप्रश्नीय	ध्यानविभक्ति
देविन्दोपपात	जीवाभिगम	मरण विभक्ति
उत्थानश्रुत	प्रज्ञापना	आत्मविशोधि
समुत्थानश्रुत	महाप्रज्ञापना	वीतरागश्रुत
नागपरियापनिका	प्रमादाप्रमाद	संलेखना श्रुत
निरयावलिका	नन्दी	विहार कल्प
कल्पिका	अनुयोगदार	चरणविधि
कल्पावतंसिका	देवेन्द्रस्तव	आतुरप्रत्याख्यान
पुष्पिका	तन्दुलवैचारिक	महाप्रत्याख्यान
पुष्पचूलिका	चन्द्रवेध्यक	
वृष्णिदशा		

दृष्टिवाद

परिकर्म[1]

(१) सिद्ध श्रेणिका	(२) मनुष्य श्रेणिका	(३) पुष्ट श्रेणिका	(४) अवगाढ श्रेणिका	(५) उपसंपत् श्रेणिका
मातृकापद	मातृकापद	पृथक् आकाशपद	पृथक् आकाशपद	पृथक् आकाशपद
एकार्थिकपद	एकार्थिकपद	केतुभूत	केतुभूत	केतुभूत
अर्थपद	अर्थपद	राशिबद्ध	राशिबद्ध	राशिबद्ध
पृथक् आकाशपद	पृथक् आकाशपद	एकगुण	एकगुण	एकगुण
केतुभूत	केतुभूत	द्विगुण	द्विगुण	द्विगुण
राशिबद्ध	राशिबद्ध	त्रिगुण	त्रिगुण	त्रिगुण
एकगुण	एकगुण	केतुभूत	केतुभूत	केतुभूत
द्विगुण	द्विगुण	प्रतिग्रह	प्रतिग्रह	प्रतिग्रह
त्रिगुण	त्रिगुण	संसार-प्रतिग्रह	संसार प्रतिग्रह	संसार प्रतिग्रह
केतुभूत	केतुभूत	नन्दावर्त	नन्दावर्त	नन्दावर्त
प्रतिग्रह	प्रतिग्रह	पुष्टावर्त	अवगाढावर्त	उपसपदावर्त
संसार-प्रतिग्रह	संसार प्रतिग्रह			
नन्दावर्त	नन्दावर्त			
सिद्धावर्त	मनुष्यावर्त			

---

१. नन्दी सूत्र ९-९७
२. वही ९९
३. ,, १०१
४. ,, ११६
५. ,, ११८
६. ,, ११९ चार पूर्वो की चूलिकाओ की है, शेष पूर्वों की नही ।

सूत्र[२] पूर्वगत[३] अनुयोग[४] चूलिका[६]

(६) विप्रहाण श्रेणिका	(७) च्युताच्युत श्रेणिका	ऋजुसूत्र / परिणतापरिणत / बहुभंगिक	उत्पाद / अग्रायणीय / वीर्य	मूलप्रथमानुयोग	गंडिकानुयोग[५]
पृथक् आकाशपद	पृथक् आकाशपद	विजयचरित	आस्तिनास्तिप्रवाद		कुलकर गंडिका
केतुभूत	केतुभूत	अनन्तर	ज्ञान प्रवाद		तीर्थंकर गडिका
राशिबद्ध	राशिबद्ध	परम्पर	सत्यप्रवाद		चक्रवर्ती गडिका
एकगुण	एकगुण	सयान (मासान)	आत्मप्रवाद		दशार्ह गडिका
द्विगुण	द्विगुण	सयूथ	कर्मप्रवाद		बलदेव गंडिका
त्रिगुण	त्रिगुण	संभिन्न	प्रत्याख्यान		वासुदेव गंडिका
केतुभूत	केतुभूत	यथात्याग	विद्यानुप्रवाद		गणधर गंडिका
प्रतिग्रह	प्रतिग्रह	सौवस्तिकघंट	अवन्ध्य		भद्रबाहु गंडिका
संसार-प्रतिग्रह	संसार प्रतिग्रह	नन्दावर्त	प्राणायु		तप कर्मगंडिका
नन्दावर्त	नन्दावर्त	बहुल	क्रियाविशाल		हरिवंश गंडिका
विप्रहाणावर्त	च्युताच्युतावर्त	पृष्टापृष्ट	लोकबिंदुसार		अवसर्पिणी गडिका
		(वि) यावर्त			उत्सर्पिणी गडिका
		एवंभूत			चित्रान्तर गडिका
		द्वयावर्त			
		वर्तमान पद			
		समभिरूढ			
		सर्वतोभद्र			
		पन्यास			
		दुष्प्रतिग्रह			

उत्पादपूर्व	अग्रायणीय	वीर्य	अस्तिनास्तिप्रवाद
चार चूलिकाएँ	बारह चूलिकाएँ	आठ चूलिकाएँ	दस चूलिकाएँ

दिगम्बर मान्यतानुसार आगमों का वर्गीकरण

आगम[1]

अंगप्रविष्ट	अंगबाह्य
आचार	सामायिक
सूत्रकृत	चतुर्विंशतिस्तव
स्थान	वन्दना
समवाय	प्रतिक्रमण
व्याख्या प्रज्ञप्ति	कृतिकर्म
ज्ञात धर्मकथा	दशवैकालिक
उपासकदशा	उत्तराध्ययन
अन्तकृतदशा	कल्प व्यवहार
अनुत्तरीयपातिकदशा	कल्पाकल्प
प्रश्नव्याकरण	महाकल्प
विपाक	पुडरीक
दृष्टिवाद	महापुरीक
	अशीतिका

दृष्टिवाद

- परिकर्म
  - चन्द्रप्रज्ञप्ति
  - सूर्यप्रज्ञप्ति
  - जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
  - द्वीपसागर प्रज्ञप्ति
  - व्याख्याप्रज्ञप्ति
- सूत्र
- प्रथमानुयोग
- पूर्वगत
  - उत्पाद
  - अग्रायणीय
  - वीर्यानुप्रवाद
  - अस्तिनास्तिप्रवाद
  - ज्ञान प्रवाद
  - सत्यप्रवाद
  - आत्मप्रवाद
  - कर्मप्रवाद
  - प्रत्याख्यान प्रवाद
  - विद्यानुप्रवाद
  - कल्याण
  - प्राणावाय
  - क्रियाविशाल
  - लोकविंदुसार
- चूलिका
  - जगलता
  - स्थलगता
  - मायागता
  - आकाशगता
  - रूपगता

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र १।२० श्रुतसागरीवृत्ति ।

अनुयोग

आर्य वज्र के पश्चात् आर्य रक्षित होते हैं। इनके गुरु का नाम 'आचार्य तोसलि पुत्र' था। आर्य रक्षित नौ पूर्व और दसवें पूर्व के २४ यविक के ज्ञात थे[१]। इन्होने सर्व प्रथम अनुयोगो के अनुसार सभी आगमो को चार भागो मे विभक्त किया—

(१) चरण-करणानुयोग--कालिक श्रुत, महाकल्प, छेद श्रुत आदि।
(२) धर्म कथानुयोग—ऋषि भाषित, उत्तराध्ययन आदि।
(३) गणितानुयोग--सूर्य प्रज्ञप्ति, आदि।
(४) द्रव्यानुयोग--दृष्टिवाद आदि[२]।

विषय सादृश्य की दृष्टि से प्रस्तुत वर्गीकरण किया गया है। व्याख्या-क्रम की दृष्टि से आगमो के दो रूप होते हैं .—

(१) अपृथक्त्वानुयोग।
(२) पृथक्त्वानुयोग।

आर्य रक्षित से पहले अपृथक्त्वानुयोग का प्रचलन था। अपृथक्त्वानुयोग में हरेक सूत्र की व्याख्या चरण–करण, धर्म, गणित और द्रव्य की दृष्टि से होती थी। यह व्याख्या अत्यधिक क्लिष्ट और स्मृति सापेक्ष थी। आर्य-रक्षित के चार मुख्य शिष्य थे—(१) दुर्वलिका पुष्य मित्र (२) फल्गुरक्षित, (३) विन्ध्या और (४) गोष्ठामाहिल। उनके शिष्यो मे विन्ध्य प्रवल मेधावी था। उसने आचार्य से अभ्यर्थना की कि सहपाठ से अत्यधिक विलम्ब होता है अत ऐसा प्रबन्ध करें कि मुझे शीघ्र पाठ मिल जाए। आचार्य के आदेश से दुर्वलिका पुष्य मित्र ने उसे पढ़ाने का कार्य अपने ऊपर लिया। अध्ययनक्रम चलता रहा। समयाभाव के कारण दुर्वलिकापुष्य मित्र अपना स्वाध्याय व्यवस्थित रूप से प्रारंभ नही रख सके। वे नौवे पूर्व को भूलने लगे, तो आचार्य ने सोचा कि प्रवल प्रतिभा सम्पन्न दुर्वलिका पुष्य मित्र की भी यह स्थिति है तो अल्पमेधावीमुनि किस प्रकार स्मरण रख सकेंगे ?[३]

---

१. प्रभावक चरित्र आर्य रक्षित श्लोक ८२–८४

२ (क) आवश्यक निर्युक्ति : ३६३–७७७
(ख) विशेषावश्यकभाष्य २२८४–२२९५
(ग) दशवैकालिक निर्युक्ति ३ टी०

३. ततो आयाहिएहिं दुब्बलिय पुस्स मित्तो तस्स वायणायरिओ दिण्णो, ततो सो कइवि दिवसे वायण दाऊण आयरिय मुवट्ठितो भणइ मम वायण देंतस्स नासति, जं च सण्णायघरे नाणुप्पेहिय, अतो मम अज्झरतस्स

पूर्वोक्त कारण से आचार्य आर्य रक्षित ने पृथक्त्वानुयोग का प्रवर्तन किया। चार अनुयोगो की दृष्टि से उन्होने ही आगमो का वर्गीकरण भी किया[1]।

सूत्रकृताङ्ग चूर्णि के अभिमतानुसार अपृथक्त्वानुयोग के समय प्रत्येक सूत्र की व्याख्या चरण-करण, धर्म, गणित, और द्रव्य आदि अनुयोग की दृष्टि से व सप्तनय की दृष्टि से की जाती थी, परन्तु पृथक्त्वानुयोग के समय चारो अनुयोगो की व्याख्याएँ अलग-अलग की जाने लगी।[2]

उल्लिखित वर्गीकरण करने पर भी यह भेद-रेखा नही खीची जा सकती कि अन्य आगमो में अन्य वर्णन नही है। उत्तराध्ययन मे धर्म कथाओ के अतिरिक्त दार्शनिक तत्त्व भी पर्याप्त रूप से है। भगवती सूत्र तो सभी विषयो का महासागर है ही। आचाराग आदि मे भी यही बात है। साराश यह है कि कुछ आगमो को छोडकर शेष आगमो में चारो अनुयोगो का समिश्रण है। एतदर्थ प्रस्तुत वर्गीकरण को स्थूल वर्गीकरण कह सकते हैं।

दिगम्बर साहित्य मे इन चार अनुयोगो का वर्णन कुछ रूपान्तर से मिलत है। उनके नाम इस प्रकार है—(१) प्रथमानुयोग, (२) करणानुयोग, (३) चरणानुयोग, (४) द्रव्यानुयोग।

प्रथमानुयोग मे महापुरुषो का जीवनचरित है। करणानुयोग में लोकालोक विभक्तिकाल, गणित आदि का वर्णन है। चरणानुयोग में आचार का निरूपण है और द्रव्यानुयोग मे द्रव्य, तत्त्व आदि का विश्लेषण है।

नवम पुव्व नासिहिति ताहे आयरिया चिंतति-'जइ ताव एयस्स परममेहाविस्स एवं झरंतस्स नासइ अन्नस्स चिरगढ्ढं चेव।'

—आवश्यक वृत्ति पृ० ३०

१. (क) अपुहत्ते अणुओगो चत्तारि दुवार भासई एगो।
पहुत्ताणुओगकरणे ते अत्था तओ उ वुच्छिन्ना॥
देविदवंदिएहि महाणुभावेहि रक्खिअअज्जेहि।
जुममासज्ज विहत्तो अणुओगो ताकओ चउहा॥

—आवश्यक निर्युक्ति गा० ७७३-७७४

(ख) चतुर्ष्वेकैकसूत्रार्था—ख्याने स्यात् कोपि नक्षम।
ततोऽनुयोगांश्चतुर. पार्थक्येन व्यधात् प्रभु.॥

—आवश्यक कथा १७४

२. जत्थएते चत्तारि अणुयोगा पिहप्पिहं वक्खाणिज्जति पुहुत्ताणुयोगे अपुहुत्ताणुजोगो, पुण जं एक्केक्कं सुत्त एतेहि चउहि वि अणुयोगेहि सत्तहि णयसतेहि वक्खाणिज्जति। —सूत्रकृतचूर्णि पत्र ४

दिगम्बर परम्परा आगमों को लुप्त मानती है अतएव प्रथमानुयोग में महापुराण और पुराण, करणानुयोग में त्रिलोक-प्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार, चरणानुयोग में मूलाचार, और द्रव्यानुयोग में प्रवचनसार, गोम्मटसार आदि का समावेश किया गया है[१]।

श्री मद् राजचन्द्र ने चारो अनुयोगो का आध्यात्मिक उपयोग बताते हुए लिखा है—'यदि मन शंकाशील हो गया है तो द्रव्यानुयोग का चिन्तन करना चाहिए, प्रमाद में पड़ गया है तो चरण करणानुयोग का, कषाय से अभिभूत है तो धर्म कथानुयोग का और जड़ता प्राप्त कर रहा है तो गणितानुयोग का'।

अनुयोगो की तुलना वैदिक साधना के साथ की जाय तो द्रव्यानुयोग का सम्बन्ध ज्ञानयोग से है, चरणकरणानुयोग का कर्मयोग से, धर्म कथानुयोग का भक्तियोग से। गणितानुयोग मन को एकाग्र करने की प्रणाली होने से राजयोग से मिलता है।

अंग, उपाङ्ग, मूल, और छेद

आगमो का सबसे उत्तरवर्त्ती चतुर्थ वर्गीकारण है—

अंग, उपाङ्ग, मूल और छेद।

नन्दी सूत्रकार ने मूल और छेद ये दो विभाग नही किये हैं और न वहाँ पर उपाङ्ग शब्द का ही प्रयोग हुआ है। उपाग शब्द भी नन्दी के पश्चात् ही व्यवहृत हुआ है। नन्दी में उपाग के अर्थ में ही अंग बाह्य शब्द आया है।

आचार्य उमास्वाति ने, जिनका समय प० सुखलालजी ने विक्रम की पहली शताब्दी से चतुर्थ शताब्दी के मध्य माना है[२], तत्त्वार्थभाष्य में अंग के साथ

---

१. प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरित पुराणमविपुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोध समीचीन ॥ ४३ ॥

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनाञ्च ।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगञ्च ॥ ४४ ॥

गृहमेध्यनगाराणा चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्।
चरणानुयोगसमय सम्यग्ज्ञान विजानाति ॥ ४५ ॥

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बधमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीप. श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥ ४६ ॥

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार अधिकार १ पृ ७१ से ७३

२ तत्त्वार्थ सूत्र—पं० सुखलाल जो विवेचन पृ० ९।

उपाग शब्द का प्रयोग किया है। उपाङ्ग से उनका तात्पर्य अंग बाह्य आगमों से से ही है।[१]

आचार्य श्री चन्द्र ने, जिनका समय ई० ११११२ से पूर्व माना जाता है, सुख बोधा समाचारी की रचना की। उसमे उन्होने आगम के स्वाध्याय की तपोविधि का वर्णन करते हुए अङ्ग बाह्य के अर्थ मे 'उपाङ्ग' शब्द प्रयुक्त किया है।[२]

आचार्य जिनप्रभ, जिन्होने ई० १३०६ में 'विधिमार्गप्रपा' ग्रन्थ पूर्ण किया था, उन्होने उसमें आगमो की स्वाध्याय की तपोविधि का वर्णन करते हुए 'इयाणि उवंगा' लिखकर जिस अंग का जो उपाङ्ग है, उसका निर्देश किया है[३]।

जिनप्रभ ने 'वायणाविही' की उत्थानिका में जो वाक्य दिया है, उसमें भी उपाङ्ग-विभाग का उल्लेख हुआ है।[४]

पण्डित बेचरदास जी दोशी का अभिमत है कि चूर्णि-साहित्य में भी उपाङ्ग शब्द का प्रयोग हुआ है।[५] किन्तु सर्वप्रथम किसने किया, यह अन्वेषण का विषय है।

मूल और छेद सूत्रो का विभाग किस समय हुआ, यह निश्चित रूप से तो नही कहा जा सकता किन्तु इतना स्पष्ट है दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि की निर्युक्ति, चूर्णि और वृत्तियो[६] में मूल सूत्र के संबन्ध में किञ्चित् मात्र भी चर्चा नही की गई है। इससे यह अनुमान होता है कि ग्यारहवी शताब्दी तक 'मूल सूत्र' इस प्रकार का विभाग नही हुआ था। यदि हुआ होता तो अवश्य ही उसका उल्लेख इन ग्रन्थो में होता।

---

१ अन्यथा हि अनिवद्धमङ्गोपाङ्गश. समुद्रप्रतरवणद्दुरध्यवसेयं ,स्यात्।
—तत्त्वार्थ भाष्य १–२०

२. सुखवोधा समाचारी पृ० ३१-से ३४।

३. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भाग १ की प्रस्तावना में पृ० ३८ पं० दलसुख मालवणिया।

४. एव कप्पतिप्पाइविहिपुरस्सरं साहू समाणियसयलजोगविही मूलग्गन्थ-नन्दिअणुओगदार–उत्तरज्झयण–इसिभासिय–अंग उवाङ्ग पइन्नय-छेयग्गन्थआगमेवाइज्जा।
—वायणा विही पृ० ६४, जैन सा० वृ० इ० पुस्तावना पृ० ४०-४१ से।

५. जैन साहित्य का इतिहास भा० १ 'जैन श्रुत' पृ० ३०।

६. देखिए—दशवैकालिक हारिभद्रीय वृत्ति, और उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य कृत वृहद् वृत्ति।

श्रावकविधि के लेखक धनपाल ने, जिनका समय विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी माना जाता है, अपने ग्रन्थ में पैंतालीस आगमो का निर्देश किया है[1] और विचारसार-प्रकरण के लेखक प्रद्युम्नसूरि ने भी जिनका समय विक्रम को तेरहवी शताब्दी है, पैंतालीस आगमो का तो निर्देश किया है[2] पर मूल सूत्र के रूप में विभाग नही किया है।

विक्रम संवत् १३३४ में निर्मित प्रभावकचरित्र में सर्वप्रथम अंग, उपाग, मूल और छेद का विभाग मिलता है,[3] और उसके पश्चात् उपाध्याय समयसुन्दर गणी ने भी समाचारीशतक मे उसका उल्लेख किया है।[4] फलितार्थ यह है कि मूल सूत्र विभाग की स्थापना तेरहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हो चुकी थी।

दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि आगमो को 'मूल सूत्र' यह अभिधा क्यो दी गई, इसके संवन्ध में विभिन्न विज्ञो ने विभिन्न कल्पनाएं की हैं।

प्रो० विन्टरनित्ज का मन्तव्य है कि इन आगमो पर अनेक टीकाए हैं। इनसे मूल ग्रन्थ का पृथक्करण करने के लिए इन्हें मूलसूत्र कहा गया है।[5] किन्तु उनका यह तर्क वजनदार नही है क्यो कि उन्होने पिण्ड निर्युक्ति को मूल सूत्र में माना है, जब कि उसकी अनेक टीकाएं नहीं है।

---

१. गाथासहस्री में समय सुन्दर गणी ने धनपाल कृत 'श्रावक विधि' का निम्न उद्धरण दिया है—'पणयालीस आगम' श्लो० २९७ पृ० १८।

२. विचारलेस, गाथा ३४४-३५१ (विचार सार प्रकरण)

३. ततश्चतुर्विध. कार्योऽनुयोगोऽत परं मया।
ततोऽङ्गोपाङ्गमूलाख्यग्रन्थच्छेदकृतागम ॥ २४१ ॥

—प्रभावक चरितम्, 'दूसरा आर्य रक्षित प्रवन्ध,
प्र० सिंघी जैन ग्रन्थमाला अहमदावाद।

४ समाचारी शतक पत्र—७६।

५ A history of Indian Literature Part II Page 446—

Why these texts are called "root-Sutras" is not quite clear. Generally the word Mula is used of fundamental text, in the contradiction to the commentary. Now as there are old and important commentaries in existence precisely in the case of these texts they are probably termed "Mula-Texts".

डा० सारयेन्टिर,[1] डा० ग्यारीनो[2] और प्रोफेसर पटवर्धन[3] आदि का अभिमत है कि इन आगमो में भगवान् महावीर के मूल शब्दो का संग्रह है, एतदर्थ उन्हें मूल सूत्र कहा गया है। किन्तु उनका यह कथन भी युक्ति-युक्त प्रतीत नही होता कि भगवान् महावीर के मूल शब्दो के कारण ही किसी आगम को मूल सूत्र माना जाता है तो सर्व प्रथम आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध को मूल

---

१. The Uttradhyayana Sutra—Page 32.

In the Buddhista work Mahavytpatti 245, 1265 Mulagratnha seems to mean original text that is the words of Buddha himself. Consequently there can be no doubt whatsoever that the Jainas too may have used Mula in the sense of 'Original text" and perhaps not so much in opposition to the later abridgements and commentaries as merely to denote actual words of Mahavira himself

२ ल रिलिजियन द जैन पृ० ७९ (La Religion the Jain) Page 79.

The word Mul-Sutra is translated as trates originaux.'

३. The Dashvai Kalika Sutra—A Study Page 16.

We find however the word Mula often used in the sense of "original text", and it is but reasonable to hold that the word Mula appearing in the expression Mula-Sutra has got the same sense Thus the term Mulasutra would mean the "original text" i e, "The text containing the original words of Mahavira (as received directly from his mouth)". And as a matter of fact we find that the style of Mula Sutras No. 183 (उत्तराध्ययन and दशवैकालिक) as ufficiently ancient to justify the claim made in their favour by original title, that they present and preserve the original words of Mahavira.

मानना चाहिए, क्योकि वही सबसे प्राचीन भगवान् महावीर के मूल शब्दो का संकलन है।

हमारे मन्तव्यानुसार जिन आगमो मे मुख्य रूप से श्रमण के आचार सम्बन्धी मूल गुणों महाव्रत, समिति, गुप्ति, आदि का निरूपण है और जो श्रमण-जीवन चर्या में मूल रूप से सहायक बनते हैं और जिन आगमो का अध्ययन श्रमण के लिए सर्व प्रथम अपेक्षित है उन्हे मूल सूत्र कहा गया है।

हमारे इस कथन की पुष्टि इस बात से भी होती है कि पूर्वकाल में आगमो का अध्ययन आचारांग से प्रारंभ होता था। जब दशवैकालिक सूत्र का निर्माण हो गया तो सर्वप्रथम दशवैकालिक का अध्ययन कराया जाने लगा और उसके पश्चात् उत्तराध्ययन पढ़ाया जाने लगा[१]।

पहले आचाराग के 'शस्त्र परिज्ञा' प्रथम अध्ययन से शैक्ष की उपस्थापना की जाती थी परन्तु दशवैकालिक की रचना होने के पश्चात् उसके चतुर्थ अध्ययन से उपस्थापना की जाने लगी[२]।

मूल सूत्रो की सख्या के संबंध में भी मतैक्य नही है। समयसुन्दर गणी ने (१) दशवैकालिक, (२) ओघ निर्युक्ति, (३) पिण्ड निर्युक्ति, (४) और, उत्तराध्ययन ये चार मूल सूत्र माने हैं।[३] भाव प्रभवसूरि ने (१) उत्तराध्ययन, (२) आवश्यक, (३) पिण्डनिर्युक्ति—ओघनिर्युक्ति, और (४) दशवैकालिक ये चार मूल सूत्र माने हैं।[४]

---

१ आयारस्स उ उर्वारि, उत्तरज्झयणा उ आसि पुव्वं तु।
दसवेयालिय उर्वारि इयाणिं किं तेन होवती उ।।

—व्यवहार भाष्य उद्देशक ३ गा १७६

(सशोधक मुनि माणक, प्र वकील केशवलाल प्रेमचन्द भावनगर)

२ पुव्व सत्यपरिण्णा, अधीय पढियाइ होइ उवट्ठवणा।
इणिंह च्छज्जीवणया, किं सा उ न होउ उवट्ठवणा।

—व्यवहार भाष्य उद्दे० ३, गा० १७४

३. समाचारी शतक

४. अथ उत्तराध्ययन—आवश्यक-पिण्डनिर्युक्ति तथा ओघनिर्युक्ति-दशवैकालिक-इति चत्वारि मूलसूत्राणि।

—जैनधर्मवरस्तोत्र, श्लो० ३० की स्वोपज्ञ वृत्ति।
—(ले० भावप्रभसूरि, प्र० जव्हेरी जीवनचन्द साकर चन्द्र)।

प्रो० वेबर और प्रो० वूलर ने (१) उत्तराध्ययन (२) आवश्यक, एव (३) दशवैकालिक को मूल सूत्र कहा है।

डाक्टर सरपेन्टियर, डा० विन्टर नित्ज और डा० ग्यारिनो ने (१) उत्तराध्ययन (२) आवश्यक, (३) दशवैकालिक, एव (४) पिण्ड निर्युक्ति को मूल सूत्र माना है।

डा० सुब्रिंग ने उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक, पिण्ड निर्युक्ति और ओघ निर्युक्ति को मूल सूत्र की संज्ञा दी है।[1]

स्थानकवासी और तेरापंथी सम्प्रदाय उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दी और अनुयोग द्वार को मूल सूत्र मानता है।[2]

कहा जा चुका है कि 'मूल' सूत्र की तरह 'छेद' सूत्र का नामोल्लेख भी नन्दी सूत्र में नही हुआ है। 'छेद सूत्र' का सबसे प्रथम प्रयोग आवश्यक निर्युक्ति में हुआ है।[3] उसके पश्चात् विशेषावश्यक भाष्य[4] और निशीथ भाष्य[5] आदि में भी वह शब्द व्यवहृत हुआ है। तात्पर्य यह है कि हम आवश्यक निर्युक्ति को यदि ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के भ्राता द्वितीय भद्रबाहु की कृति मानते हैं तो वे विक्रम की छट्ठी शताब्दी मे हुए हैं[6] उन्होने इसका प्रयोग किया है। स्पष्ट है कि 'छेद सूत्त' इस शब्द का प्रयोग 'मूल सुत्त' से पहले हुआ है।

---

१. ए हिस्ट्री ऑफ दी केनोनिकल लिटरेचर ऑफ दी जैन्स पृ० ४४-४५ ले० एच० आर० कापडिया।

२. जैन दर्शन, डा० मोहनलाल मेहता पृ० ८९ प्र० सन्मति ज्ञानपीठ आगरा।
 (ख) जैन साहित्य का वृहद् इतिहास प्रस्तावना पं० दलसुख मालवणिया पृ० २८।

३ जं च महाकप्पसुयं, जाणि असेसाणि छेअसुत्ताणि चरणकरणाणुओगो त्ति कालियत्थे उवगयाणि ॥ —आवश्यकनिर्युक्ति ७७७

४. जं च महाकप्पसुय, जाणि असेसाणि छेअसुत्ताणि चरणकरणाणुओगो त्ति कालियत्थे उवगयाणि ॥ —विशेषावश्यक भाष्य २२९५

५ छेदसुत्ताणिसीहादी, अत्थो य गतो य छेदसुत्तादी। मंतनिमित्तोसहिपाहुडे, य गाहेंति अण्णत्थ ॥ —निशीथभाष्य ५९४७
 (ख) केनोनिकल लिटरेचर पृ० ३६ भी देखिए।

६. जैनागमधर और प्राकृत वाड्मय ले० पुण्यविजय जी, मुनि हजारीमल स्मृति ग्रन्थ पृ० ७१८

अमुक आगमो को 'छेदसूत्र' यह अभिधा क्यो दी गई ? इस प्रश्न का उत्तर प्राचीन ग्रन्थो में सीधा और स्पष्ट प्राप्त नही है। हाँ यह स्पष्ट है कि जिन सूत्रो को 'छेदसुत्त' कहा गया है वे प्रायश्चित्त सूत्र है।

स्थानाङ्ग में श्रमणो के लिए पाँच चारित्रो का उल्लेख है। (१) सामायिक (२) छेदोपस्थापनीय, (३) परिहारविशुद्धि (४) सूक्ष्मसपराय (५) यथाख्यात।[१] इनमें से वर्तमान में तीन अन्तिम चारित्र विच्छिन्न हो गये हैं। सामायिक चारित्र स्वल्प कालीन होता है, छेदोपस्थानिक चारित्र ही जीवन पर्यन्त रहता है। प्रायश्चित्त का सम्बन्ध भी इसी चारित्र से है। संभवत. इसी चारित्र को लक्ष्य में रखकर प्रायश्चित्त सूत्रो को छेद सूत्र की संज्ञा दी गई हो।

मलयगिरि की आवश्यक वृत्ति[२] में छेद सूत्रो के लिए पद-विभाग, समाचारी शब्द का प्रयोग हुआ है। पद-विभाग और छेद ये दोनो शब्द समान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। संभवत. इसी दृष्टि से छेद सूत्र नाम रखा गया हो। क्योकि छेद सूत्रो में एक सूत्र का दूसरे सूत्र से सम्बन्ध नही है। सभी सूत्र स्वतंत्र हैं। उनकी व्याख्या भी छेद-दृष्टि से या विभाग दृष्टि से की जाती है।

दशाश्रुतस्कंध, निशीथ, व्यवहार, और वृहत्कल्प ये सूत्रनौवें प्रत्याख्यानपूर्व से उद्धृत किये गये हैं[३], उससे छिन्न अर्थात् पृथक् करने से उन्हे छेद सूत्र की सज्ञा दी गई हो, यह भी संभव है।

छेद सूत्रो को उत्तम श्रुत माना गया है।[४] भाष्यकार भी इस कथन का समर्थन करते हैं।[५] चूर्णिकार जिनदास महत्तर स्वय यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि छेद सूत्र उत्तम क्यो है ? फिर स्वयं ही उसका समाधान देते है कि छेद सूत्र में प्रायश्चित्तविधि का निरूपण है, उससे चारित्र की विशुद्धि होती है,

---

१. स्थानाङ्ग सूत्र ५ उद्देशा २, सूत्र ४२८
   (ख) विशेषावश्यक भाष्य गा० १२६०-१२७०

२. पद विभाग, समाचारी छेदसूत्राणि।
   —आवश्यक निर्युक्ति ६६५ मलयगिरि वृत्ति

३. कतर सुत्तं ? दसाउकप्पो ववहारो य। कतराती उद्धृत ? उच्यते— पच्चक्खाणपुव्वाओ। —दशाश्रुतस्कंधचूर्णिपत्र २

४. निशीथ १९।१७

५ छेयसुयमुत्तमसुयं —निशीथ भाष्य ६१८४

एतदर्थ यह श्रुत उत्तम माना गया है।[1] श्रमण-जीवन की साधना का सर्वाङ्गीण विवेचन छेद-सूत्रो मे ही उपलब्ध होता है। साधक की क्या मर्यादा है ? उसका क्या कर्तव्य है ? इत्यादि प्रश्नो पर उसमें चिन्तन किया गया है। जीवन में से असयम के अश को काट कर पृथक् करना, साधना में से दोष जन्य मलिनता को निकाल कर साफ करना, भूलो से बचने के लिए पूर्व सावधान करना, भूल हो जाने पर प्रायश्चित्त ग्रहण कर उसका परिमार्जन करना, यह सब छेद सूत्र का कार्य है।

समाचारीशतक में समयसुन्दर गणी ने छेदसूत्रों की संख्या छ. बतलाई है[2] :—

(१) दशाश्रुतस्कध, २ व्यवहार, (३) बृहत्कल्प (४) निशीथ, (५) महानिशीथ, (६) जीतकल्प।

जीतकल्प को छोडकर शेप पाँच सूत्रो के नाम नन्दी सूत्र में भी आये है।[3] जीतकल्प जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण की कृति है, एतदर्थ उसे आगम की कोटि में स्थान नही दिया जा सकता। महानिशीथ का जो वर्तमान संस्करण है, वह आचार्य हरिभद्र (वि० ८ वी शताब्दी) के द्वारा पुनरुद्धार किया हुआ है। उसका मूल संस्करण तो उसके पूर्व ही दीमको ने उदरस्थ कर लिया था। अतः वर्तमान में उपलब्ध महानिशीथ भी आगम की कोटि में नही आता। इस प्रकार मौलिक छेद सूत्र चार ही हैं—(१) दशाश्रुत स्कंध, (२) व्यवहार, (३) बृहत्कल्प और (४) निशीथ।

श्रुत पुरुष

नन्दी सूत्र की चूर्णि मे श्रुत-पुरुष की एक कमनीय कल्पना की गई है।[4] पुरुष के शरीर मे जिस प्रकार बारह अंग होते हैं—दो पैर, दो जंघाएं, दो ऊरु,

---

१. छेद सुय कम्हा उत्तम सुत ? भण्णति—जम्हा एत्थं सपायच्छित्तो विधी भण्णति, जम्हाये तेणच्चरणविशुद्धि करेति, तम्हा त उत्तमसुत्तं।
—निशीथभाष्य ६१८४ की चूर्णि

२ समाचारी शतक, आगम स्थापनाधिकार।

३. कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा—दसाओ कप्पो, ववहारो, निसीहं, महानिसीह। —नन्दीसूत्र सू० ७७

४. इच्चेतस्स सुतपुरिसस्स जं सुत अंगभागठित त अगपविट्ठ भण्णइ।
—नन्दी चूर्णि पृ० ४७

दो गात्रार्ध (उदर और पीठ) दो भुजाएँ, गर्दन और सिर उसी प्रकार श्रुत-पुरुष के भी बारह अग है।[१]

दाँया पैर	आचाराग
बाँया पैर	सूत्रकृताङ्ग
दाँयी जंघा	स्थानाङ्ग
बाँयी जंघा	समवायाङ्ग
दाँया ऊरु	भगवती
बाँया ऊरु	ज्ञाता धर्म कथा
उदर	उपासक दशा
पीठ	अन्तकृत्दशा
दाँयी भुजा	अनुत्तरोपपातिक
बाँयी भुजा	प्रश्न व्याकरण
ग्रीवा	विपाक
शिर	दृष्टिवाद

श्रुतपुरुष की अल्पना आगमो के वर्गीकरण की दृष्टि से एक अतीव सुन्दर कल्पना है। प्राचीन ज्ञान भण्डारो मे श्रुतपुरुष के हाथ से बनाये हुए अनेक कल्पना-चित्र मिलते हैं। द्वादश उपाङ्गो की रचना होने के पश्चात् श्रुतपुरुष के प्रत्येक अंग के साथ एक-एक उपाग की भी कल्पना की गई है, क्यों कि अगो

---

१. पायदुगं जंघा उरू गायदुगद्धं तु दो य बाहू यं।
गीवा सिरं च पुरिषो बारस अंगो सुयविसिट्ठो।

—नन्दी वृत्ति, पृ० २, ३

इह पुरुषस्य द्वादश अगानि भवन्ति तद्यथा—द्वौ पादौ, द्वे जङ्घे, द्वे उरुणी, द्वे गात्रार्धे, द्वौ बाहू, ग्रीवा, शिरश्च, एव श्रुतरूपस्य अपि परमपुरुषस्य आचारादीनि द्वादशअङ्गानि क्रमेण वेदितव्यानि ...... श्रुतपुरुपस्य अंगेपु प्रविष्टम् अंगभावेन व्यवस्थितमित्यर्थ.। यत् पुनरेतस्यैव द्वादशाङ्गत्मकस्य श्रुतपुरुषस्य व्यतिरेकेण स्थितम् अगबाह्यत्वेन व्यवस्थित तद् अनङ्गप्रविष्टम्।

—नन्दी मलयागिरिवृत्ति पृ० २०३

(ग) श्रुतं पुरुष मुखचरणाद्यङ्गस्थानीयत्वाऽगशब्देनोच्यते।

—मूलाराधना ४।५९९ विजयोदया

मे कहे हुए अर्थो का स्पष्ट वोध कराने वाले उपाग सूत्र है।[1] किस अग का उपांग कौन हैं, यह इस प्रकार है ,—

अंग	उपांग
आचाराग	औपपातिक
सूत्रकृत	राजप्रश्नीय
स्थानाङ्ग	जीवाभिगम
समवाय	प्रज्ञापना
भगवती	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
ज्ञाताधर्मकथा	सूर्यप्रज्ञप्ति
उपासकदशा	चन्द्रप्रज्ञप्ति
अन्तकृत्दशा	निरयावलिया-कल्पिका
अनुत्तरौपपातिकदशा	कल्पावतंसिका
प्रश्न व्याकरण	पुष्पिका
विपाक	पुष्प चूलिका
दृष्टिवाद	वृष्णिदशा

श्रुत-पुरुष को तरह वैदिक वाड्मय में भी वेद पुरुष की कल्पना की गई है। उसके अनुसार छन्द पैर हैं, कल्प हाथ हैं, ज्योतिष नेत्र हैं, निरुक्त श्रोत है, शिक्षा वेद की नासिका है और व्याकरण मुख है।[2]

निर्यूहण आगम

जैन आगमो की रचनाएँ दो प्रकार से हुई हैं। (१) कृत (२) निर्यूहण। जिन आगमो का निर्माण स्वतंत्र रूप से हुआ है वे आगम कृत कहलाते हैं। जैसे गणधरो के द्वारा द्वादशागी की रचना की गई है और भिन्न-भिन्न स्थविरो के द्वारा उपाङ्ग साहित्य का निर्माण किया गया है, वे सब कृत हैं। निर्यूहण आगम ये माने गये है[3] —

---

१ अगार्थस्पष्टवोधविधायकानि उपागानि। —औपपातिक टीका

२ छन्द पादौ तु वेदस्य, हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयन चक्षु निरुक्त श्रोतमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं च वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्सागमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥
—पाणिनीय शिक्षा ४१, ४२

३. आगमयुग का जैन दर्शन—पृ० २१-२२ प० दलसुखभाई मालवणिया, प्र० सन्मति ज्ञानपीठ आगरा।

(१) आचार चूला
(२) दशवैकालिक
(३) निशीथ
(४) दशाश्रुतस्कन्ध
(५) वृहत्कल्प,
(६) व्यवहार
(७) उत्तराध्ययन का परीषह अध्ययन ।

आचार चूला यह चतुर्दश पूर्वी भद्रबाहु के द्वारा निर्यूहण की गई है, यह बात आज अन्वेषणा के द्वारा स्पष्ट हो चुकी है। आचाराग से आचार चूला की रचना-शैली सर्वथा पृथक् है। उसकी रचना आचाराग के बाद हुई है। आचाराग-निर्युक्तिकार ने उसको स्थविर कृत माना है[1]। स्थविर का अर्थ चूर्णिकार ने गणधर किया है[2] और वृत्तिकार ने चतुर्दश पूर्वी किया है[3] किन्तु उनमें स्थविर का नाम नही आया है। विज्ञो का अभिमत है कि यहाँ पर स्थविर शब्द का प्रयोग चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु के लिए ही हुआ है।

आचारांग के गंभीर अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए 'आचार-चूला' का निर्माण हुआ है। निर्युक्तिकार ने पाँचो चूलाओ के निर्यूहण स्थलो का संकेत किया है[4]।

दशवैकालिक चतुर्दशपूर्वी शय्यंभव के द्वारा विभिन्न पूर्वों से निर्यूहण किया गया है। जैसे-चतुर्थ अध्ययन आत्मप्रवाद पूर्व से, पञ्चम अध्ययन कर्मप्रवाद

---

१ थेरेहिऽणुग्गहट्ठा, सीसहिअं होउ पागडत्थं च ।
आयाराओ अत्थो, आयारंगेसु पविभत्तो ॥
—आचाराग निर्युक्ति गा० २८७

२ थेरे गणधरा —आचाराग चूर्णि पृ० ३२६

३. 'स्थविरै.' श्रुतवृद्धैश्चतुर्दशपूर्वविद्भि —आचाराग वृत्ति २९०

४. बिइअस्स य पंचमए, अट्ठमगस्स बिइयमि उद्देसे ।
भणिओ पिंडो सिज्जा, वत्थं पाउग्गहो चेव ॥
पंचमगस्स चउत्थे इरिया, वण्णिज्जई समासेणं ।
छट्ठस्स य पंचमए, भासज्जायं वियाणाहि ॥
सत्तिक्कगाणि सत्तवि, निज्जूढाइं महापरिन्नाओ ।
सत्थपरिन्ना भावण, निग्गूढाओ धुयविभुत्ती ॥
आयारपकप्पो पुण, पच्चक्खाणस्स तइयवत्थूओ ।
आयारनामविज्जा, वीसइमा पाहुडच्छेया ॥
—आचाराग निर्युक्ति गा० २८८-२९१

पूर्व से, सप्तम अध्ययन-सत्यप्रवाद पूर्व से और शेष अध्ययन प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु से उद्धृत किये गये हैं।[1]

द्वितीय अभिमतानुसार दशवैकालिक गणिपिटक द्वादशागी से उद्धृत है।[2]

निशीथ का निर्यूहण प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व से हुआ है। प्रत्याख्यान पूर्व के वीस वस्तु अर्थात् अर्थाधिकार हैं। तृतीय वस्तु का नाम आचार है। उसके भी वीस प्राभृतच्छेद अर्थात् उपविभाग हैं। वीसवें प्राभृतच्छेद से निशीथ का निर्यूहण किया गया है।[3]

पंचकल्प चूर्णि के अनुसार निशीथ के निर्यूहक भद्रबाहु स्वामी हैं।[4] इस मत का समर्थन आगम प्रभावक मुनि श्री पुण्य विजय जी ने भी किया है।[5]

दशाश्रुतस्कंध, वृहत्कल्प और व्यवहार, ये तीनो आगम चतुर्दश पूर्वी भद्रबाहु स्वामी के द्वारा प्रत्याख्यान पूर्व से निर्यूढ हैं।[6]

दशाश्रुत स्कंध की निर्युक्ति के मन्तव्यानुसार वर्तमान में उपलब्ध दशाश्रुत-स्कंध अग प्रविष्ट आगमो में जो दशाए प्राप्त हैं उनसे लघु हैं। इनका निर्यूहण

---

१ आयप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती।
कम्मप्पवायपुव्वा पिंडस्स उ एसणा तिविधा॥
सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्क सुद्धीउ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थुओ॥
—दशवैकालिक निर्युक्ति गा० १६-१७

२ वीओऽवि अ आएसो, गणिपिडगाओ दुवाल सगाओ।
एअं किर णिज्जूढं मणगस्स अणुग्गहट्ठाए॥
—दशवैकालिक निर्युक्ति गा० १८

३. णिसीहं णवमा पुव्वा पच्चक्खाणस्स ततियवत्थूओ।
आयारनामधेज्जा, वीसतिमा पाहुडच्छेदा॥
—निशीथ भाष्य ६५००

४. तेण भगवता आयारपकप्प-दसा-कप्प-ववहारा य नवमपव्वनीसंदभूता निज्जूढा। —पंचकल्पचूर्णि पत्र १ (लिखित)

५. वृहत्कल्प सूत्र भाग ६ प्रस्तावना पृ० ३

६. वदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरियसयलसुयनाणि सुत्तस्स कारगमिस(णं) दसासु कप्पे य ववहारे। —दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति गा० १ पत्र १
(ख) तत्तोच्चिय णिज्जूढं अणुग्गहट्ठाए संपयजतीणं सो सुत्तकारतो खलु स भवति दसकप्पववहारे। —पंचकल्पभाष्य गा० ११

शिष्यो के अनुग्रहार्थ स्थाविरो ने किया था। चूर्णि[1] के अनुसार स्थविर का नाम भद्रबाहु है।[2]

उत्तराध्ययन का दूसरा अध्ययन भी अंगप्रभव माना जाता है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु के मतानुसार वह कर्मप्रवाद पूर्व के सतरहवें प्राभृत से उद्घृत है।[3]

इनके अतिरिक्त आगमेतर साहित्य में विशेषत. कर्म-साहित्य का बहुत सा भाग पूर्वोद्घृत माना जाता है।

निर्यूहण कृतियो के सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण करना आवश्यक है कि उसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थङ्कर है, सूत्र के रचयिता गणधर हैं और जो संक्षेप में उसका वर्तमान रूप उपलब्ध है उसके कर्ता वही हैं जिन पर जिनका नाम अंकित या प्रसिद्ध है। जैसे दशवैकालिक के शय्यंभव, कल्प, व्यवहार निशीथ और दशाश्रुतस्कंध के रचयिता भद्रबाहु हैं।

जैन अंग-साहित्य की संख्या के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर[4] सभी एक मत हैं। सभी अंगो को बारह स्वीकार करते हैं। परन्तु अगबाह्य आगमो की संख्या के सम्बन्ध में यह बात नही है, उसमे विभिन्न मत हैं। यही कारण है कि आगमो की संख्या कितने ही ८४ मानते है, कोई-कोई ४५ मानते है और कितने ही (३२) बत्तीस मानते है।

नन्दी सूत्र में आगमो की जो सूची दी गई है, वे सभी आगम वर्तमान में उपलब्ध नही है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज मूल आगमो के साथ कुछ निर्युक्तियो को मिलाकर ४५ आगम मानता है और कोई ८४ मानते हैं। स्थानक-

---

१ डहरीओ उ इमाओ अज्झयणेसु महईओ अगेसु।
छसु नायादीएसुं, वत्थविभूसावसाणमिव॥
डहरीओ उ इमाओ, निज्जूढाओ अणुग्गहट्ठाए।
थेरेहि तु दसाओ, जो दसा जाणओ जीवो॥

—दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति ५।६

२ दशाश्रुतस्कधचूर्णि।

३ कम्मप्पवाय पुव्वे सत्तरसे पाहुडंमि ज सुत्तं।
सणयं सोदाहरण तं चेव इहपि णायव्व॥

—उत्तराध्ययन निर्युक्ति गा० ६९।

४ तत्त्वार्थ सूत्र १।२०, श्रुतसागरीयवृत्ति।
—षट्खण्डागम (धवला टीका) खण्ड १, पृ० ६ बारह अंगगिज्झा।

वासी और तेरापंथी परम्परा वत्तीस को ही प्रमाण भूत मानती है। दिगम्बर समाज की मान्यता है कि सभी आगम विच्छिन्न हो गये हैं।

४५ आगम के नाम :—

अंग	उपांग
आचार	ओपपातिक
सूत्रकृत	राजप्रश्नीय
स्थान	जीवाभिगम
समवाय	प्रज्ञापना
भगवती	सूर्यप्रज्ञप्ति
ज्ञाता धर्म कथा	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
उपासकदशा	चन्द्र प्रज्ञप्ति
अन्तकृत दशा	निरयावलिया
अनुत्तरोपपाति दशा	कल्पावतंसिका
प्रश्न व्याकरण	पुष्पिका
विपाक	पुष्प चूलिका
	वृष्णिदशा

छह मूल सूत्र	छह छेद सूत्र
आवश्यक	निशीथ
दशवैकालिक	महा-निशीथ
उत्तराध्ययन	वृहत्कल्प
नन्दी	व्यवहार
अनुयोग द्वार	दशाश्रुत स्कंध
पिण्ड निर्युक्ति-ओघ-निर्युक्ति	पंचकल्प

दस पयन्ना

(१) आतुर प्रत्यारव्यान
(२) भक्त परिज्ञा
(३) तन्दुल वैचारिक
(४) चन्द्र वेध्यक
(५) देवेन्द्र स्तव
(६) गणि-विद्या
(७) महाप्रत्याख्यान
(८) चतु. शरण
(९) वीर स्तव
(१०) सस्तारक

८४ आगमों के नाम

१ से ४५ तक पूर्वोक्त

(४६) कल्प सूत्र
(४७) यति-जीत-कल्प—सोमप्रभ सूरि
(४८) श्रद्धा-जीत-कल्प—धर्मघोष सूरि
(४९) पाक्षिक सूत्र } आवश्यक सूत्र के अंग हैं
(५०) क्षमापना-सूत्र
(५१) वंदितु
(५२) ऋषिभाषित
(५३) अजीव-कल्प
(५४) गच्छाचार
(५५) मरण-समाधि
(५६) सिद्ध प्राभृत
(५७) तीर्थोद्गार
(५८) आराधनापताका
(५९) द्वीप-सागर-प्रज्ञप्ति
(६०) ज्योतिष-करण्डक
(६१) अंग-विद्या
(६२) तिथि-प्रकीर्णक
(६३) पिण्ड-विशुद्धि
(६४) सारावली
(६५) पर्यन्ताराधना
(६६) जीव विभक्ति
(६७) कवच-प्रकरण
(६८) योनि-प्राभृत
(६९) अंग-चूलिया
(७०) वंग-चूलिया
(७१) वृद्ध चतु शरण
(७२) जम्बू-पयन्ना
(७३) आवृश्यक-निर्युक्ति
(७४) दशवैकालिक-निर्युक्ति
(७५) उत्तराध्ययन-निर्युक्ति

(७६) आचारांग-निर्युक्ति
(७७) सूत्रकृतांग-निर्युक्ति
(७८) सूर्य प्रज्ञप्ति
(७९) वृहत्कल्प-निर्युक्ति
(८०) व्यवहार-निर्युक्ति
(८१) दशाश्रुत-स्कंध-निर्युक्ति
(८२) ऋषि भाषित-निर्युक्ति
(८३) संसक्त-निर्युक्ति
(८४) विशेषावश्यक भाष्य

बत्तीस आगम

अंग	उपाङ्ग
आचार	औपपातिक
सूत्रकृत	राजप्रश्नीय
स्थान	जीवाभिगम
समवाय	प्रज्ञापना
भगवती	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
ज्ञाताधर्म कथा	चन्द्रप्रज्ञप्ति
उपासक दशा	सूर्यप्रज्ञप्ति
अन्तकृतदशा	निरियावलिका
अनुत्तरोपपातिकदशा	कल्पवतंसिका
प्रश्न व्याकरण	पुष्पिका
विपाक	पुष्प-चूलिका
	वृष्णिदशा

मूल सूत्र	छेद सूत्र
दशवैकालिक	निशीथ
उत्तराध्ययन	व्यवहार
अनुयोगदार	वृहत्कल्प
नन्दी	दशाश्रुतस्कंध

आवश्यक सूत्र[1]

१. विशेष चर्चा के लिए देखिए—प्रो० कापडिया का ए हिस्ट्री ऑफ दी केनोनिकल लिटरेचर ऑफ जेन्स प्रकरण २ ।

जैन आगमों की भाषा

जैन आगमो की मूल भाषा अर्धमागधी है,[१] जिसे सामान्यत प्राकृत भी कहा जाता है। समवायाङ्ग[२] और औपपातिक[३] सूत्र के अभिमतानुसार सभी तीर्थङ्कर अर्धमागधी भाषा में ही उपदेश देते हैं क्योकि चारित्र धर्म की आराधना व साधना करने वाले मन्द बुद्धि स्त्री-पुरुषो पर अनुग्रह करके सर्वज्ञ भगवान् सिद्धान्त की प्ररूपणा प्राकृत मे करते है।[४] यह देववाणी है। देव इसी भापा में वोलते हैं[५]। इस भाषा मे वोलने वाले को भाषार्य भी कहा गया है।[६] जिनदासगणी महत्तर अर्धमागधी का अर्थ दो प्रकार से करते हैं। प्रथम यह कि, यह भाषा मगध के एक भाग में बोली जाने के कारण अर्ध मागधी कही जाती है, दूसरे, इस भाषा में अठारह देशी भाषाओ का संमिश्रण हुआ है। दूसरे शब्दो में कहा जाय तो मागधी और देश्य शब्दो का इस भाषा में मिश्रण होने से यह अर्धमागधी कहलाती है।[७] भगवान् महावीर के शिष्य मगध, मिथिला, कौशल आदि अनेक प्रदेश, वर्ग एव जाति के थे.

---

१ पोराणमद्धमागह भासानिययं हवइ सुत्त। —निशीथ चूर्णि।

२ भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ।

—समवायाङ्ग सूत्र पृ० ६०।

३ तएणं समणे भगवं महावीरे कूणिअस्स रण्णो भिंभिसार—पुत्तस्स ‥ — अद्धमागहीए भासाए भासइ ‥ सावि य ण अद्धमागही भासा तेसिं सव्वेसिं अप्पणो सभासाए परिमाणेणं परिणमइ।

—औपपातिक सूत्र।

४ वाल-स्त्री-मन्द मूर्खाणा नृणा चारित्रकाङ्क्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं सर्वज्ञै सिद्धान्तः प्राकृते कृत.॥

—दशवैकालिक हारिभद्रीय वृत्ति।

५ गोयमा! देवाण अद्धमागहीए भासाए भासंति, सावि य णं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी विसिस्सइ।

—भगवती सूत्र ५।४।२०।

६ भासारिया जे णं अद्धमागहीए भासाए भासेंति।

—प्रज्ञापना सूत्र १।६२ पृ० ५६।

७ मगद्धविसयभासाणिबद्धं अद्धमागहं, अट्ठारसदेसीभासाणिमयं वा अद्धमागहं। —निशीथ चूर्णि

बताया जा चुका है कि जैनागम ज्ञान का अक्षय कोष है। उसका विचार-गाम्भीर्य महासागर से भी अधिक है। उसमे एक से एक दिव्य असंख्य मणि-मुक्ताएं छिपी पड़ी है। उसमें केवल अध्यात्म और वैराग्य के ही उपदेश नही है किन्तु धर्म, दर्शन, नीति, संस्कृति, सभ्यता, भूगोल, खगोल, गणित, आत्मा, कर्म, लेश्या, इतिहास, संगीत, आयुर्वेद, नाटक, आदि जीवन के हर पहलू को छूने वाले विचार यत्र-तत्र बिखरे पडे है। उसे पाने के लिए जरा गहरी डुबकी लगाने की आवश्यकता है। केवल किनारे किनारे घूमने से उस अमूल्य रत्न राशि के दर्शन नही हो सकते।

आचाराग और दशवैकालिक में श्रमण जीवन से सम्वन्वित आचार-विचार का गंभीरता से चिन्तन किया गया है। सूत्रकृताङ्ग, अनुयोग द्वार, प्रज्ञापना, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग आदि में दार्शनिक विषयो का गहराई से विश्लेषण किया गया है। भगवती जीवन और जगत का विश्लेषण करने वाला अपूर्व ग्रन्थ है। उपासक दशाग मे श्रावक संस्कृति का सुन्दर निरूपण है। अन्तकृतदशाग और अनुत्तरौपपातिक में उन महान् आत्माओ के तप-जप का का वर्णन है, जिन्होने कठोर साधना से अपने जीवन को तपाया था। प्रश्न व्याकरण में आश्रव और संवर का सजीव चित्रण है। विपाक मे पुण्य-पाप के फल का वर्णन है। उत्तराध्ययन मे अध्यात्म चिन्तन का स्वर मुखरित है। राज-प्रश्नीय में तर्क के द्वारा आत्मा की ससिद्धि की गई है। इस प्रकार आगमो में सर्वत्र-प्रेरणाप्रद, जीवनस्पर्शी, अध्यात्म रस में सुस्निग्ध सरस विचारो का प्रवाह प्रवाहित हो रहा है।

आगम वाचनाएँ

श्रमण भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के पश्चात् आगम-सकलन करने के लिए पाँच वाचनाएँ हुई हैं।

पहली वाचना

वीर निर्वाण की द्वितीय शताब्दी (वीर निर्वाण से १६० वर्ष के पश्चात्) में पाटली पुत्र में द्वादश वर्षीय भीषण दुष्काल पडा[१] जिसके कारण श्रमण सघ छिन्न-भिन्न हो गया। अनेक बहुश्रुत धर क्रूर काल के गाल में समा गये। अन्य अनेक विघ्न-बाधाओं ने यथावस्थित सूत्र-परावर्तन में बाधाएं उपस्थित की। आगम ज्ञान की कड़ियाँ-लड़ियाँ विशृंखलित हो गई। दुर्भिक्ष समाप्त होने पर

---

१ परिशिष्ट पर्व ८।१९३, ९।५५-५८।

विशिष्ट आचार्य, जो उस समय विद्यमान थे, पाटलीपुत्र में एकत्रित हुए।[१] ग्यारह अंगो का व्यवस्थित संकलन किया गया। बारहवें दृष्टिवाद के एक मात्र ज्ञाता भद्रवाहु स्वामी उस समय नेपाल मे महाप्राण-ध्यान की साधना कर रहे थे। संघ की प्रार्थना से उन्होने बारहवें अग की वाचना देने की स्वीकृति दी। मुनि स्थूलभद्र दस पूर्व तक अर्थ सहित पढे। ग्यारहवें पूर्व की वाचना चल रही थी, उस समय स्थूलभद्र मुनि ने सिंह का रूप बनाकर बहिनो को चमत्कार दिखलाया[२] जिसके कारण भद्रवाहु ने आगे वाचना देना बन्द कर दिया। तत्पश्चात् सघ एवं स्थूलभद्र के अत्यधिक अनुनय-विनय करने पर भद्रवाहु ने मूल रूप से अन्तिम चार पूर्वों की वाचना दी, अर्थ की दृष्टि से नही। शाब्दिक दृष्टि से स्थूलभद्र चौदह पूर्वी हुए, किन्तु आर्थी दृष्टि से वे दस पूर्वी ही रहे।[३]

दूसरी वाचना

आगम सकलन का द्वितीय प्रयास ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी के मध्य मे हुआ। सम्राट् खारवेल जैन धर्म के परम उपासक थे। उनके सुप्रसिद्ध 'हाथी गुफा' अभिलेख से यह सिद्ध हो चुका है कि उन्होने उडीसा के कुमारी पर्वत पर जैन मुनियो का एक सघ बुलाया था, और मौर्यकाल में जो अग विस्मृत हो गये थे, उनका पुन उद्धार कराया था।[४] 'हिमवत थेरावली' नामक संस्कृत

---

१. जाओ अ तम्मि समए दुक्कालो दोय-दसय वरिसाणि।
सव्वो साहु-समूहो गओ तओ जलहितीरेसु॥
तदुवरमे सो पुणरवि पाडलिपुत्ते समागओ विहिया।
संघेण सुयविसया चिंता किं कस्स अत्थेत्ति॥
जं जस्स आसि पासे उद्देस्स ज्झयणमाइ सघडिउ।
तं सव्वं एक्कारय अगाइ तहेव ठवियाइ॥

—आचार्य हरिभद्र कृत उपदेश-पद।

२. तेण चिंतियं भगणीण इड्ढि दरिसेमि त्ति सीहरूव विउव्वइ।

—आवश्यक वृत्ति पृ० ६९८।

३ तित्थोगालीय पइण्णय ७४२।

(ख) आवश्यक चूर्णि भाग पृ० १८७।

(ग) परिशिष्ट पर्व ९ सर्ग आचार्य हेमचन्द्र।

४. जर्नल आफ दी विहार एण्ड ओड़िसा रिसर्च सोसायटी भाग १३ पृ० ३३६।

प्राकृत मिश्रित पट्टावली मे भी स्पष्ट उल्लेख है कि महाराजा खारवेल ने प्रवचन का उद्धार कराया था।[१]

तृतीय वाचना

आगमो को सकलित करने का तीसरा प्रयास वीर निर्वाण ८२७ से ८४० के मध्य में हुआ।

उस समय द्वादशवर्षीय भयंकर दुष्काल से श्रमणो को भिक्षा मिलना कठिन-तर हो गया था। श्रमणसंघ की स्थिति अत्यन्त गंभीर हो गई। विशुद्ध आहार की अन्वेषणा-गवेषणा के लिए युवक मुनि दूर-दूर देशो की ओर चल पडे। अनेक वृद्ध एवं वहुश्रुत मुनि भिक्षा न मिलने से आयु पूर्ण कर गये। क्षुधापरीषह से संत्रस्त वने हुए मुनि अध्ययन, अध्यापन, वारण और प्रत्यावर्तन कैसे करते? सभी कार्य अवरुद्ध हो गये। शनै. शनै श्रुत का ह्रास होने लगा। अतिशायी श्रुत नष्ट हुआ। अंग और उपाग साहित्य का भी अर्थ की दृष्टि से वहुत वडा भाग नष्ट हो गया। दुर्भिक्ष की परिसमाप्ति पर श्रमण संघ मथुरा में स्कन्दिलाचार्य के नेतृत्व में एकत्रित हुआ। जिन-जिन श्रमणो को जितना जितना अंश स्मरण था उसका अनुसधान कर कालिक श्रुत और पूर्वगत श्रुत के कुछ अंश का संकलन हुआ। यह वाचना मथुरा में सम्पन्न होने के कारण 'माथुरी' वाचना के रूप में विश्रुत हुई। उस सकलन श्रुत के अर्थ की अनुशिष्टि आचार्य स्कदिल ने दी थी अत उस अनुयोग को 'स्कन्दिली' वाचना भी कहा जाने लगा।[२]

नन्दीसूत्र की चूर्णि और वृत्ति के अनुसार माना जाता है कि दुर्भिक्ष के कारण किञ्चित् मात्र भी श्रुतज्ञान तो विनष्ट नही हुआ, किन्तु केवल आचार्य स्कन्दिल को छोडकर शेष अनुयोग धर मुनि स्वर्गवासी हो चुके थे। एतदर्थ आचार्य स्कन्दिल ने पुन. अनुयोग का प्रवर्तन किया, जिससे प्रस्तुत वाचना को माथुरी वाचना कहा गया और सम्पूर्ण अनुयोग स्कन्दिल सम्बन्धी माना गया।[३]

चतुर्थ वाचना

जिस समय उत्तर प्रदेश और मध्यभारत में विचरण करने वाले श्रमणो का सम्मेलन मथुरा मे हुआ था, उसी समय दक्षिण और पश्चिम में विचरण करने वाले श्रमणो की एक वाचना (वीर निर्वाण स० ८२७-८४०) वल्लभी

---

१ जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भाग १ पु० ८२।
२ आवश्यक चूर्णि—
३ (क) नन्दी चूर्णि पृ० ८
(ख) नन्दी गाथा ३३, मलयगिरि वृत्ति प० ५१।

(सौराष्ट्र) में आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में हुई। किन्तु वहाँ पर जो श्रमण एकत्रित हुए थे, उन्हे वहुत कुछ श्रुत विस्मृत हो चुका था। जो कुछ उनके स्मरण में था, उसे ही संकलित किया गया। यह वाचना 'वल्लभी वाचना' या 'नागार्जुनीय वाचना' के नाम से अभिहित है।[१]

पञ्चम वाचना

वीर निर्वाण की दसवी शताब्दी (९८० या ९९३ ईस्वी सन् ४५४-४६६) में देवार्द्धिगणी क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में पुनः श्रमण सघ वल्लभी में एकत्रित हुआ। देवर्द्धिगणी ग्यारह अग और १ पूर्व से भी अधिक श्रुत के ज्ञाता थे। स्मृति की दुर्वलता, परावर्तन की न्यूनता, घृति का ह्रास और परम्परा की व्यवच्छित्ति इत्यादि अनेक कारणो से श्रुत साहित्य का अधिकाश भाग नष्ट हो गया था। विस्मृत श्रुत को सकलित व संग्रहीत करने का प्रयास किया गया। देवर्द्धिगणि ने अपनी प्रखर प्रतिभा से उसको सकलित कर पुस्तकारूढ किया। पहले जो माथुरी और वल्लभी वाचनाएं हुई थी, उन दोनो वाचनाओ का समन्वय कर उनमें एकरूपता लाने का प्रयास किया गया।[२] जहाँ पर मतभेद की अधिकता रही, वहाँ पर माथुरी वाचना को मूल में स्थान देकर वल्लभी वाचना के पाठो को पाठान्तर में स्थान दिया। यही कारण है कि आगमो के व्याख्या ग्रन्थो में यत्र तत्र—'नागार्जुनीयास्तु पठन्ति' इस प्रकार का निर्देश मिलता है।

आगमो को पुस्तकारूढ करते समय देवर्द्धिगणि ने कुछ मुख्य वातें ध्यान में रखी। आगमो में जहाँ-जहाँ पर समान पाठ आये हैं, उनकी वहाँ पर पुनरावृत्ति न करते हुए उनके लिए विशेष ग्रन्थ या स्थल का निर्देश किया गया है जैसे 'जहा उववाइए' 'जहा पण्णवणाए'। एक ही आगम में एक वात अनेक वार आने पर 'जाव' शव्द का प्रयोग कर उसका अन्तिम शव्द सूचित कर दिया है जैसे 'णागकुमारा जाव विहरति' 'तेणं कालेण जाव परिसा णिग्गया'। इसके अतिरिक्त भगवान् महावीर के पश्चात् की कुछ मुख्य-मुख्य घटनाओ को भी आगमो में स्थान दिया। यह वाचना वल्लभी में होने के कारण वल्लभी

---

१. काहावली।

(ख) जिन वचन च दुष्षमाकालवशात् उच्छिन्नप्रायमिति मत्वा भगवद्भिर्नागार्जुनस्कन्दिलाचार्यप्रभृतिभि पुस्तकेषु न्यस्तम्।

—योगशास्त्र प्र० ३ पृ० २०७।

२. वलहिपुरम्मि नयरे देवड्ढिपमुहेण समणसघेण।
पुत्थई आगमु लिहिओ नवसयअसीआओ वीराओ॥

वाचना कही गई। इसके पश्चात् आगमो की फिर कोई सर्वमान्य वाचना नही हुई। वीर की दसवी शताब्दी के पश्चात् पूर्वज्ञान की परम्परा विच्छिन्न हो गयी।

आगम-विच्छेद का क्रम

श्वेताम्बर मान्यतानुसार वीर निर्वाण १७० वर्ष के पश्चात् भद्रबाहु स्वर्गस्थ हुए। आर्थी-दृष्टि से अन्तिम चार पूर्व उनके साथ ही नष्ट हो गये। दिगम्बर-मान्यता के अनुसार भद्रबाहु का स्वर्गवास वीर निर्वाण के १६२ वर्ष पश्चात् हुआ था।

वीर निर्वाण स. २१६ मे स्थूलभद्र स्वर्गस्थ हुए। वे शाब्दी दृष्टि से अन्तिम चार पूर्व के ज्ञाता थे। वे चार पूर्व भी उनके साथ ही २१६ मे नष्ट हो गये। आर्य वज्र स्वामी तक दस पूर्वों की परम्परा चली। वे वीर निर्वाण ५५१ (विक्रम सं० १०१) में स्वर्ग पधारे। उस समय दसवा पूर्व नष्ट हो गया। दुर्वलिका पुष्य-मित्र ९ पूर्वो के ज्ञाता थे। उनका स्वर्गवास वीर निर्वाण ६०४ (विकम संवत् १३४) में हुआ। उनके साथ ही नवा पूर्व भी विच्छिन्न हो गया।

इस प्रकार पूर्वो का विच्छेद-क्रम देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तक चलता रहा। स्वयं देवर्द्धिगणी एक पूर्व से अधिक श्रुत के ज्ञाता थे। आगमसाहित्य का बहुत सा भाग लुप्त होने पर भी आगमो का कुछ मौलिक भाग आज भी सुरक्षित है। किन्तु दिगम्बर परम्परा की यह धारणा नही है। श्वेताम्बर-समाज मानता है कि आगम संकलन के समय उसके मौलिक रूप में कुछ अन्तर अवश्य ही आया है। उत्तरवर्ती घटनाओ का और विचारणाओ का उसमे समावेश किया गया है, जिसका स्पष्ट प्रमाण स्थानाङ्ग में सात निह्नवो और नव गणो का उल्लेख है। वर्तमान में प्रश्न व्याकरण का मौलिक विषय वर्णन भी उपलब्ध नही है तथापि अंग साहित्य का अत्यधिक अंश मौलिक है। भाषा की दृष्टि से भी ये आगम प्राचीन सिद्ध हो चुके है। आचाराग प्रथम श्रुतस्कध की भाषा को भाषा-शास्त्री पच्चीस सौ वर्ष पूर्व की मानते है।

प्रश्न हो सकता है कि वैदिक वाङ्मय की तरह जैन आगम साहित्य पूर्ण रूप से उपलब्ध क्यो नही है? वह विच्छिन्न क्यो हो गया? इसका मूल कारण है देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के पूर्व आगम साहित्य व्यवस्थित रूप से लिखा नही गया। देवर्द्धिगणी के पूर्व जो आगमवाचनाएं हुई, उनमें आगमो का लेखन हुआ हो, ऐसा प्रमाण नही मिलता। वह श्रुति रूप में ही चलता रहा! प्रतिभा-सम्पन्न योग्य शिष्य के अभाव में गुरु ने वह ज्ञान शिष्य को नही बताया जिसके कारण श्रुत-साहित्य धीरे-धीरे विस्मृत होता गया।

लेखन परम्परा

आगम व आगमेतर साहित्य के अनुसार लिपि का प्रारंभ प्राग् ऐतिहासिक काल में हो चुका था।[१] प्रज्ञापना सूत्र में अठारह लिपियो का उल्लेख मिलता है।[२] विशेषावश्यक भाष्यवृत्ति, और त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र प्रभृति ग्रन्थो से स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभ ने अपनी ज्येष्ठ पुत्री ब्राह्मी को अठारह लिपियाँ सिखलाई थी।[३] इसी कारण लिपि का नाम ब्राह्मी लिपि पडा।[४] भगवती आदि आगमो में मगल्राचरण के रूप में 'नमो बभीए लिविए'[५] कहा गया है। भगवान् ऋषभ ने अपने बडे पुत्र भरत को बहत्तर कलाएं सिखलाई थी,[६] जिनमे लेखन कला का प्रथम स्थान है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार सम्राट् भरत ने काकिणी रत्न से अपना नाम ऋषभकूट पर्वत पर लिखा था। भगवान् ऋषभ ने असि, मषि, और कृषि ये तीन प्रकार के व्यापार चलाये।[७] इस तरह लिपि, लेखन-कला और मषि ये तीन शब्द लेखन की परम्परा को कर्म

---

१. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति।
 (ख) श्री कल्पसूत्र सू० १९५।

२ प्रज्ञापना सूत्र पद १।

३ विशेषावश्यक भाष्यवृत्ति १३२।
 (ख) लेह लिवीविहाणं जिणेण बभीए दाहिण करेणं।
 —आवश्यक निर्युक्ति गा० २१२
 (ग) अष्टादश लिपीर्ब्राह्म्या अपसव्येन पाणिना।
 —त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र १।२।९६३।
 (घ) बभीए दाहिणहत्थेण लेहो दाइतो।—आवश्यक चूर्णि पृ० १५६।
 (ड) आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ ३०१-३०३ ले० डाक्टर जगदीशचन्द्र जैन।

४ ऋषभदेव ने ही संभवत लिपि-विद्या के लिए लिपिकौशल का उद्भावन किया। ऋषभदेव ने ही संभवत ब्रह्म-विद्या की शिक्षा के लिए उपयोगी ब्राह्मी लिपि का प्रचार किया था।
 —हिन्दी विश्वकोष-श्री नगेन्द्रनाथ वसु प्र० भा० पृ० ६४।

५ भगवती मंगलाचरण।

६ द्वासप्ततिकलाकाण्डं, भरत सोऽप्यजीगपत्।
 ब्रह्म ज्येष्ठाय पुत्राय ब्रूयादिति नयादिव॥ —त्रिषष्टि १।२।९६०।

७ जम्बूद्वीप वृत्ति, वक्षस्कार।

युग के आदि काल में ले जाते हैं। नन्दी सूत्र में अक्षर श्रुत के जो तीन प्रकार बतलाये हैं उनमे प्रथम संज्ञाक्षर है; जिसका अर्थ है अक्षर को आकृति-विशेष, 'अ' आ' आदि।[1]

यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि प्राग्-ऐतिहासिक काल में लिखने की सामग्री किस प्रकार की थी। 'पुस्तकरत्न' का वर्णन करते हुए राजप्रश्नीय सूत्र में कम्बिका (कामी) मोरा, गाठ, लिप्यासन (मषिपात्र) छंदन (ढक्कन) सांकली, मषि, और लेखनी, इन लेखन उपकरणो का वर्णन किया गया है। प्रज्ञापना में 'पोत्थार' शब्द आता है जिसका अर्थ है लिपि-कार।[2] इसी आगम में पुस्तक-लेखन को आर्य शिल्प कहा है और अर्धमागधी भाषा एवं ब्राह्मी लिपि का प्रयोग करने वाले लेखक को भाषा आर्य में समाविष्ट किया है।[3] स्थानाङ्ग मे पाँच प्रकार की पुस्तको का उल्लेख है—(१) गण्डी, (२) कच्छवी, (३) मुष्टि, ४) संपुट फलक, (५) सृपाटिका।[4] दशवैकालिक वृत्ति मे[5] प्राचीन आचार्यो के मन्तव्यो का उल्लेख करते हुए इन पुस्तको का विवरण दिया गया है। निशीथ चूर्णि में भी इनका वर्णन है।[6] टीकाकार ने पुस्तक का अर्थ ताडपत्र, सपुट का पत्र संचय और कर्म का अर्थ मषि एवं लेखनी किया है। और पोत्थारा या पोत्थकार शब्द का अर्थ पुस्तक के द्वारा आजीविका चलाने वाला किया है।

आगम-साहित्य के अतिरिक्त बौद्ध[7] और वैदिक वाङ्मय में भी लेखन कला का वर्णन उपलब्ध होता है। इतिहास इस बात का साक्षी है सिकन्दर के सेनापति

---

१ नन्दीसूत्र ३८।

२ प्रज्ञापना सूत्र पद १।

३ प्रज्ञापना सूत्र पद १।

४. स्थानाङ्ग सूत्र स्थान ५।

(ख) बृहत्कल्प भाष्य ३, ३८२२।

(ग) विस्तृत विवेचन हेतु देखिए—
जैनचित्रकल्पद्रुम—पुण्यविजय जी म० सम्पादित।

(घ) आउटलाइन्स ऑव पैलिओग्राफी, जनरल ऑव यूनिवर्सिटी ऑव बोम्बे, जिल्द ६, भा० ६, पृ० ८७, एच० आर० कापड़िया, तथा ओझा, वही पृ० ४-५६।

५ दशवैकालिक हारिभद्रीयवृत्ति पत्र २५।

६ निशीथ चूर्णि उ० १२।

७. राइस डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया पृ० १०८।

निआर्क्स ने अपनी भारत यात्रा के संस्मरणो में लिखा है कि 'भारतवासी लोग कागज बनाते थे'।[१] ईस्वी सन् की द्वितीय शताब्दी में लिखने के लिए ताडपत्र और चतुर्थ शताब्दी में भोजपत्र का उपयोग किया जाता था।[२] वर्तमान में ईसा की पांचवी शताब्दी में लिखे हुए पन्ने भी उपलब्ध होते हैं।[३] उस विवेचन का साराश यह है कि लेखन कला का प्रचार भारत में प्राचीन काल से था किन्तु इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि आगम-साहित्य को लिखने की परम्परा नहीं थी। आगमो को कण्ठाग्र किया जाता था। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनो ही परम्पराओ में यही सिलसिला था। एतदर्थ ही तीनो परम्पराओ मे क्रमश श्रुत, सुत्त, और श्रुति शब्द का प्रयोग आगम के लिए होता रहा है।

आगम लेखन युग

(जैन दृष्टि से चौदह पूर्वों का लेखन कभी हुआ ही नही। उनके लेखन के लिए कितनी स्याही अपेक्षित है इसकी कल्पना अवश्य की गई है। वीर-निर्वाण ८२७ से ८४० में जो मथुरा और वल्लभी में सम्मेलन हुए, उस समय एकादश अंगो को व्यवस्थित किया गया। उस समय आर्य रक्षित ने अनुयोग द्वार सूत्र की रचना की। उसमें द्रव्यश्रुत के लिए "पत्तय, पोत्थय-लिहिअं"[४] शब्द का प्रयोग हुआ है। इसके पूर्व आगम लिखने का प्रमाण-प्राप्त नही है। इस से यह अनुमान किया जा सकता है कि श्रमण भगवान् महावीर के परिनिर्वाण को ९ वी शताब्दी के अन्त मे आगमो के लेखन की परम्परा चली, परन्तु आगमो को लिपिबद्ध करने का स्पष्ट संकेत देवर्द्धिगणी श्रमाश्रमण के समय मिलता है।

आगमो को लिपि-बद्ध कर लेने पर भी एक मान्यता यह रही कि श्रमण अपने हाथ से पुस्तक लिख नही सकते और न अपने साथ रख ही सकते हैं, क्योकि ऐसा करने में निम्न दोष लगने की सभावना रहती है—(१) अक्षर आदि लिखने से कुन्थु आदि त्रस जीवो की हिंसा होती है एतदर्थ पुस्तक लिखना संयम विराधना का कारण है।[५] (२) पुस्तको को एक ग्राम से दूसरे

---

१. भारतीय प्राचीच लिपि माला पृ० २।

२. ,, ,, ,,

३. ,, ,, ,,

४ अनुयोग द्वार श्रुत अधिकार ३७।

५ संघ सं अपडिलेहा, भारो अहिकरणमेव अविदिन्नं सकामण पलिमंथो, पमाए परिकम्मण लिहणा। —१४७ बृहत्कल्प निर्युक्ति उद्दे० ७३
(ख) पोत्थएसु घेप्पतऐमु असजमो भवइ। —दशवै० चूर्णि० पृ० २१

ग्राम ले जाते समय कधे छिल जाते है, व्रण हो जाते है। (३) उनके छिद्रो की सम्यक् प्रकार से प्रतिलेखना नही हो सकती (४) मार्ग मे वजन बढ जाता है। (५) कुन्थु आदि त्रस जीवो का आश्रय होने से अधिकरण है या चोर आदि के चुराये जाने पर अधिकरण हो जाते है। (६) तीर्थङ्करो ने पुस्तक नामक उपधि रखने की अनुमति नही दी है। (७) पुस्तकें पास में होने से स्वाध्याय में प्रमाद होता है। अत साधु जितनी बार पुस्तको को बाधते हैं, खोलते है और अक्षर लिखते हैं, उन्हें उतने ही चतुर्लघुको का प्रायश्चित्त आता है[१] और आज्ञा आदि दोष लगते है। यही कारण है कि लेखन कला का परिज्ञान होने पर भी आगमो का लेखन नही किया गया था। साधु के लिए स्वाध्याय और ध्यान का विधान मिलता है, पर कही पर भी लिखने का विधान प्राप्त नही होता। ध्यानकोष्ठोपगत, स्वाध्याय और ध्यान रक्त[२] पदो की तरह 'लेखरक्त' शब्द का प्रयोग नही हुआ है। परन्तु पूर्वाचार्यों ने आगमो का विच्छेद न हो जाय एतदर्थ लेखन का और पुस्तक रखने का विधान किया[३] और आगम लिखे।

व्याख्या साहित्य

आगम का व्याख्या साहित्य अत्यधिक विस्तृत है। उस सम्पूर्ण व्याख्या साहित्य को पाँच भागो में विभक्त किया जा सकता है—(१) निर्युक्तियाँ

(ग) ननु—पूर्व पुस्तकनिरपेक्षैव सिद्धान्तादिवाचनाऽभूत्, साम्प्रत पुस्तक-संग्रह क्रियते साधुभिस्तत् कथं सपतिमङ्गति ? उच्यते पुस्तक-ग्रहण नु कारणिकं नत्वौसर्गिकम्। अन्यथा तु पुस्तक ग्रहणे भूयासो दोषा : प्रतिपादिता सन्ति। —विशेष शतक ३९।

१ जत्तियमेत्ता वारा उ मुचई-बंधई व जति वारा जति अक्खराणि लिहति व तति लहुँगा जं च अवज्जे।

—बृहत्कल्प भाष्य उ० ३, गा० ३८ ३१।

(ख) निशीथ भाष्य उ० १२, गा० ४००८।

(ग) यावतो वारान् तत्पुस्तकं बध्नाति मुचति वा अक्षराणि वा लिखति तावन्ति चतुर्लघूनि आज्ञादयश्च दोषा.।

—वृहत्कल्प निर्युक्ति ३ उ०।

२. झाणकोट्ठोवगए, सज्झायसज्झाणरयस्स। —भगवती

३. कालं पुण पडुच्च चरणकरणट्ठा अवोच्छित्ति निमित्तं च गेण्हमाणस्स पोत्थए संजमो भवइ। —दशवैकालिक चूर्णि पृ० २१

(२) भाष्य, (३) चूर्णियाँ (४) संस्कृत टीकाएं (५) लोक भाषा में रचित व्याख्याएं ।

निर्युक्तियाँ

निर्युक्तियाँ और भाष्य प्राकृत भाषा मे रचित आगमो की पद्यवद्ध टीकाएं है। निर्युक्तियो मे प्रत्येक पद की व्याख्या न कर मुख्यत पारिभाषिक शब्दो पर ही प्रकाश डाला गया है। आगम के कथित अर्थ जिसमे उपनिवद्ध हो, वह निर्युक्ति हैं।[1] अर्थात् सूत्र में कथित निश्चित अर्थ को स्पष्ट करना निर्युक्ति है।[2] निर्युक्तियो की व्याख्यानशैली निक्षेप-पद्धति के रूप मे रही है। इस शैली का प्रथम दर्शन हमें अनुयोग द्वार में होता है। इस शैली में किसी पद के सभवित अनेक अर्थ करने के पश्चात् उनमें से अप्रस्तुत अर्थों का निषेध कर प्रस्तुत अर्थ को ही ग्रहण किया जाता है। यह पद्धति जैन न्याय की भी रही है। निर्युक्तिकार भद्रवाहु ने निर्युक्ति के लिए यही पद्धाति प्रशस्त मानी है। उन्होंने निर्युक्ति का प्रयोजन वताते हुए स्पष्ट कहा है—एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, कौनसा अर्थ किस प्रसग पर उपयुक्त है, श्रमण भगवान् महावीर के उपदेश के समय कौनसा अर्थ किस शब्द से सवद्ध रहा है, प्रभृति वातो को लक्ष्य में रखकर अर्थ का सम्यक् रूप से निर्णय करना और उस अर्थ का मूल सूत्र के शब्दो के साथ सवन्ध स्थापित करना निर्युक्ति का कार्य है।[3]

जिस प्रकार वैदिक पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या करने के लिए महर्षि यास्क ने निघण्टुभाष्य रूप निरुक्त लिखा, उसी प्रकार जैनागमो के पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या करने हेतु द्वितीय आचार्य भद्रवाहु ने निर्युक्तियाँ निर्मित की। जैसे महर्षि यास्क ने, निरुक्त में सर्व प्रथम निरुक्त उपोद्घात लिखा है, वैसे ही नियुक्तियो के पूर्व में उपोद्घात है।

निर्युक्तिकार भद्रवाहु, श्रुत केवली एवं छेद सूत्रकार भद्रवाहु से पृथक् हैं, क्योकि निर्युक्तिकार भद्रवाहु ने अनेक स्थलो पर छेद सूत्रकार श्रुतकेवली भद्रवाहु

---

१ णिज्जुत्ता ते अत्था जं बद्धा तेण होइ णिज्जुती।

२. निर्युक्तानामेव सूत्रार्थाना युक्ति.—परिपाटया योजनम्।

—आचार्य हरिभद्र।

३. आवश्यक निर्युक्ति गा. ८८।

को नमस्कार किया है।[१] निर्युक्तिकार भद्रबाहु प्रसिद्ध ज्योतिर्विद बराहमिहिर के भ्राता माने जाते हैं। वे नैमित्तिक और मंत्र विद्या विशारद थे। उपसर्गहर-स्तोत्र और भद्रबाहु संहिता इन्ही के द्वारा रचित है। इन्होने दस निर्युक्तियाँ लिखी थी।[२]

(१) आवश्यक-निर्युक्ति।
(२) दशवैकालिक-निर्युक्ति।
(३) उत्तराध्ययन,निर्युक्ति।
(४) आचाराग-निर्युक्ति।
(५) सूत्रकृताङ्ग-निर्युक्ति।
(६) दशाश्रुतस्कंध-निर्युक्ति।
(७) कल्प (वृहत्कल्प) निर्युक्ति।
(८) व्यवहार-निर्युक्ति।
(९) सूर्य प्रज्ञप्ति-निर्युक्ति।
(१०) ऋषिभाषित-निर्युक्ति।

भद्रवाहु निर्मित निर्युक्तियो का रचना क्रम वही है जो ऊपर की पंक्तियों में वताया गया है, क्योकि उन्होने आवश्यक निर्युक्ति में इसी प्रकार का संकल्प किया है। निर्युक्तियो में जो नाम और विषय आदि आये हैं, वे भी इस तथ्य को प्रकट करते हैं।[३]

भद्रवाहुरचित दस निर्युक्तियो में से सूर्य प्रज्ञप्ति और ऋषि भाषित की निर्युक्तियाँ वर्तमान में उपलव्ध नही हैं। ओघ-निर्युक्ति, पिण्ड-निर्युक्ति, पंचकल्प-निर्युक्ति, और निशीथ-निर्युक्ति क्रमश: आवश्यक-निर्युक्ति, दशवैकालिक-निर्युक्ति, वृहत्कल्प-निर्युक्ति और आचारागनिर्युक्ति की पूरक हैं। संसक्त-निर्युक्ति बाद के किसी आचार्य की रचना है। गोविन्दाचार्य द्वारा रचित गोविन्द-निर्युक्ति भी अप्राप्त है।

---

१. वंदामि भद्दवाहुं पाईणं चरियसगलसुयनाणिं।
सुत्तस्स कारगमिसिं दसासु कप्पे य ववहारे।
—दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति पत्र १

(ख) तेण भगवता आयारपकप्प-दसा-कप्प-ववहारा य नवम पुव्वनी-संदभूता निज्जूढा। —पंचकल्पचूर्णि-पत्र १

२. आवश्यक निर्युक्ति गा · ७९–८६।

३. गणधरवाद, प्रस्तावना पृ० १५-६।

भद्रबाहु ने जैन परम्परा में प्रचलित अनेक महत्वपूर्ण परिभाषिक शब्दो की सुस्पष्ट व्याख्या अपनी निर्युक्तियो में कर जैन साहित्य की श्रीवृद्धि की है। उसके पश्चात् आने वाले भाष्यकार और टीकाकारो ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से निर्युक्तियों के आधार से अपनी रचनाएं की हैं।

यद्यपि निर्युक्तिकार का एक मात्र लक्ष्य आगम के निगूढ भावो को स्पष्ट करना ही रहा है तथापि यथा प्रसंग इनमे धर्म, दर्शन, संस्कृति, समाज, इतिहास आदि विविध विषयों का बहुत ही सुन्दर विवेचन भी हुआ है।

भाष्य

निर्युक्तियो में मुख्यत. परिभापिक शब्दो की व्याख्या है, किसी भी विषय पर विस्तार से निरूपण नही है, उनकी शैली अत्यन्त सक्षिप्त एवं क्लिष्ट है। व्यास शैली का अभाव होने के कारण वह दुरूह हो गई है जिससे अन्य व्याख्याओ के अभाव में उसे सरलता से नही समझा जा सकता। अत निर्युक्तियो के गभीर रहस्यों का समुद्घाटन करने के लिए विस्तृत व्याख्या-साहित्य की आवश्यकता हुई और उसकी पूर्ति आचार्यों ने भाष्य के रूप में की। इस प्रकार निर्युक्ति साहित्य को आधार बनाकर या स्वतंत्र रूप से प्राकृत भाषा में पद्यात्मक रूप से जो व्याख्याए लिखी गई, वे भाष्य के नाम से व्यवहृत हुई।

जिस प्रकार निर्युक्तियाँ प्रत्येक आगम पर नही है वैसे ही भाष्य भी प्रत्येक आगम पर नही है। निम्नलिखित आगम ग्रन्थो पर भाष्य उपलब्ध हैं :—

(१) आवश्यक-भाष्य
(२) दशवैकालिक-भाष्य
(३) उत्तराध्ययन-भाष्य
(४) बृहत्कल्प-भाष्य
(५) पंचकल्प-भाष्य
(६) व्यवहार-भाष्य
(७) निशीथ-भाष्य
(८) जीतकल्प-भाष्य
(९) ओघनिर्युक्ति-भाष्य
(१०) पिण्ड निर्युक्ति-भाष्य

आवश्यक सूत्र पर तीन भाष्य उपलब्ध हैं (१) मूलभाष्य, (२) भाष्य और (३) विशेषावश्यक भाष्य। दो भाष्य अत्यन्त लघु है। और उनकी अनेक गाथाएं विशेषावश्यक भाष्य में मिल गई हैं। अतएव विशेषावश्यक भाष्य

तीनो भाष्यो का प्रतिनिधि है, जो वर्तमान में उपलब्ध और प्रकाशित है। यह भाष्य भी सम्पूर्ण आवश्यकसूत्र पर न होकर केवल पहले अध्ययन सामायिक आवश्यक पर ही है। एक अध्ययन पर होने पर भी इसमें ३६०३ गाथाएं हैं। दशवैकालिक भाष्य में ६३ गाथाएं हैं। उत्तराध्यन भाष्य भी बहुत ही संक्षिप्त है। उसमें केवल ४५ गाथाएं हैं। वृहत्कल्प पर दो भाष्य हैं, एक वृहत् भाष्य और दूसरा लघु भाष्य। वृहत्कल्प भाष्य पूरा प्राप्त नही है। लघुभाष्य में ६४९० गाथाएं है। पचकल्पभाष्य में २५७४ गाथाएं हैं। व्यवहार भाष्य में ४६२९ गाथाएं है। निशीथ भाष्य में लगभग ६५०० गाथाएं है। जीतकल्प भाष्य मे २६०६ गाथाए हैं। ओघनिर्युक्ति पर भी दो भाष्य उपलब्ध हैं, एक लघु और दूसरा महाभाष्य। लघु में ३२२ गाथाएं है और महाभाष्य में २५१७ गाथाए। पिण्ड निर्युक्ति भाष्य में ४६ गाथाएं है।

विशेषावश्यक भाष्य और जीतकल्पभाष्य, ये दो भाष्य आचार्य जिनभद्र के द्वारा विरचित है। विशेषावश्यकभाष्य में जैनागमो में वर्णित ज्ञानवाद, प्रमाण-शास्त्र, आचार, नीति, स्याद्वाद, नयवाद, कर्म वाद आदि दार्शनिक मान्यताओ का तुलनात्मक दृष्टि से जैसा तर्क पुरस्सर निरूपण किया गया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। जैन आगम के रहस्यो को समझने के लिए यह भाष्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह भाष्य नही, वस्तुत. महाभाष्य है।

वृहत्कल्पलघुभाष्य और पंचकल्प महाभाष्य, इन दो भाष्यो के निर्माता संघदासगणी है। ये वसुदेवहिण्डी प्रथम खण्ड के रचयिता संघदास गणी से पृथक् हैं। वे 'वाचक' पद से अलकृत है तो भाष्य रचयिता सघदासगणी क्षमा-श्रमण पद विभूपित हैं।

इनके अतिरिक्त अन्य भाष्यकार भी हुए, जिन्होने व्यवहार भाष्य आदि रचे हैं। मुनि श्री पुण्यविजयजी के अभिमतानुसार कम से कम चार आगमिक भाष्यकार हुए है। प्रथम जिनभद्र क्षमा श्रमण, द्वितीय संघदासगणी क्षमाश्रमण, तीसरे व्यवहार भाष्य के रचयिता और चौथे वृहत्कल्प, वृहद्भाष्य आदि के प्रणेता। अन्तिम दो भाष्यकारो के नामों का अभी तक पता नही लग सका है।

भाष्यसाहित्य में इतिहास, संस्कृति-दर्शन आदि की विपुल सामग्री यत्र-तत्र बिखरी पडी है, आज आवश्यकता है उसके पर्यवेक्षण की।

चूर्णियाँ

निर्युक्ति-साहित्य और भाष्य-साहित्य के निर्माण के पश्चात् जैनाचार्यों के अन्तर्मानस में आगमो पर गद्यात्मकव्याख्या-साहित्य लिखने की भावना उद्बुद्ध हुई। उन्होने शुद्ध प्राकृत में और संस्कृत-मिश्रित-प्राकृत में व्याख्याओ का

निर्माण किया, जो आज चूर्णि साहित्य के नाम से विश्रुत है। कुछ चूर्णियाँ आगमेतर साहित्य पर भी लिखी गई है, पर वे संख्या की दृष्टि से आगमो की चूर्णियो की अपेक्षाअल्प हैं। जैसे कर्म-प्रकृति, शतक आदि की चूर्णियां। निर्युक्ति और भाष्य की तरह चूर्णियां भी सभी आगमो पर नही है। निम्न आगमो पर चूर्णियां लिखी गई है —

(१) आचाराग चूर्णि
(२) सूत्रकृताङ्ग चूर्णि
(३) व्याख्या प्रज्ञप्ति चूर्णि (भगवती चूर्णि)
(४) जोवाभिगम चूर्णि
(५) निशीथ-चूर्णि
(६) महानिशीथ चूर्णि
(७) व्यवहार चूर्णि
(८) दशाश्रुतस्कन्ध चूर्णि
(९) बृहत्कल्प चूर्णि
(१०) पंचकल्प चूर्णि
(११ , ओघनिर्युक्ति चूर्णि
(१२) जीतकल्प चूर्णि
(१३) उत्तराध्ययन चूर्णि
(१४) आवश्यक चूर्णि
(१५) दशवैकालिक चूर्णि
(१६) नन्दी चूर्णि
(१७) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति चूर्णि

निशीथ और जीतकल्प पर दो-दो चूर्णियां बनायी गई थी किन्तु वर्तमान में दोनो पर एक-एक चूर्णि ही उपलब्ध है। अनुयोग द्वार, बृहत्कल्प और दशवैकालिक पर दो-दो चूर्णियां मिलती है।

चूर्णि-साहित्य के निर्माताओ में जिन दासगणी महत्तर का मूर्धन्य स्थान है। विज्ञो के अभिमतानुसार जिनदासगणी महत्तर का समय विक्रम सवत् ६५०–७५० के मध्य का मानना चाहिए। उन्होने कितनी चूर्णियां लिखी, यह अभी तक पूर्ण निश्चित नही हो सका है, तथापि परम्परा के अनुसार उनकी निम्नलिखित चूर्णियां मानी जाती हैं (१) निशीथ विशेष चूर्णि (२नन्‍) दी चूर्णि, (३) अनुयोग द्वार चूर्णि, (४) आवश्यक चूर्णि, (५) दशवैकालिक चूर्णि। (६) उत्तराध्ययन चूर्णि (७) सूत्र कृताङ्ग चूर्णि

जीतकल्प चूर्णि, जो इस समय प्राप्त है, उसके रचयिता सिद्धसेन सूरि हैं, पर ये सिद्धसेन, सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न है। पं० दलसुख मालवणिया के अभिमतानुसार आचार्य जिनभद्रकृत बृहत् क्षेत्र समास के वृत्तिकार सिद्धसेन सूरि ही प्रस्तुत चूर्णि के कर्ता है[1]।

बृहत्कल्प चूर्णि के रचयिता प्रलम्ब सूरि हैं। ये विक्रम संवत् १३३४ से पूर्व हुए है।

दशवैकालिक सूत्र पर अगस्त्यसिंह स्थविर की चूर्णि भी प्राप्त है। इनके समय के सम्बन्ध में विज्ञो में एक मत नही है। अन्य चूर्णिकारो के नाम अभी ज्ञात नही हो सके हैं।

भाषा की दृष्टि से नन्दी चूर्णि, अनुयोग द्वार चूर्णि, दशवैकालिक चूर्णि, (जिनदास) उत्तराध्ययन चूर्णि, आचाराग चूर्णि, सूत्रकृताङ्ग चूर्णि, निशीथ विशेष चूर्णि, दशाश्रुतस्कंध चूर्णि, और बृहत्कल्प चूर्णि, ये सभी चूर्णियाँ सस्कृत मिश्रित प्राकृत भाषा में रचित हैं। पर संस्कृत कम और प्राकृत अधिक है।

आवश्यक चूर्णि, दशवैकालिक चूर्णि (अगस्त्यसिंह) और जीतकल्प चूर्णि (सिद्धसेन) ये चूर्णियाँ प्राकृत भाषा में निर्मित हैं। चूर्णियो की भाषा सरल और सुबोध है। सास्कृतिक सामग्री इन चूर्णियो में भरी पडी है।

संस्कृत-टीकाएं

मूल आगम, निर्युक्ति और भाष्य साहित्य प्राकृत भाषा में निर्मित है। चूर्णि साहित्य में प्रधानरूप से प्राकृत-भाषा है पर गौण रूप से सस्कृत भाषा का भी प्रयोग हुआ है। उसके पश्चात् सस्कृत-टीकाओ का युग आया। यह युग जैन साहित्य में स्वर्णिम-युग के रूप में प्रसिद्ध है। इस युग मे आगमो पर तो टीकाएं लिखी ही गईं, परन्तु निर्युक्तियो, भाष्यो और टीकाओ पर भी टीकाएं बनायी गई है।

निर्युक्ति-साहित्य में आगमो के शब्दो की व्याख्या व व्युत्पत्ति है। भाष्य-साहित्य में विस्तार से आगमो के गंभीर भावो का विवेचन है। चूर्णि-साहित्य में निगूढ भावो को लोक कथाओ के आधार से समझाने का प्रयास है तो टीका-साहित्य में आगमों का दार्शनिक दृष्टि से विश्लेपण है। टीकाकारो ने प्राचीन निर्युक्ति भाष्य और चूर्णि साहित्य का अपनी टीकाओ में प्रयोग किया ही है किन्तु नये-नये हेतुओ द्वारा उन्हें और भी अधिक पुष्ट किया है। संक्षिप्त और

---

१ गणधार वाद . प्रस्तावना पृ० ४४।

विस्तृत दोनो प्रकार की टीकाएँ निर्मित हुई हैं। टीकाओ के लिए विविध नामोका प्रयोग आचार्यों ने किया हैं—टीका, वृत्ति, निवृत्ति, विवरण, विवेचन, व्याख्या, वार्तिक, दीपिका, अवचूरि, अवचूर्णि, पजिका, टिप्पण, टिप्पनक, पर्याय, स्तवक, पीठिका, अक्षरार्थ।

संस्कृत टीकाकारो में आचार्य हरिभद्र का नाम सर्वप्रथम आता है। इन्होने चूर्णि-साहित्य के आधार से टीकाएँ की। आवश्यक, दशवैकालिक, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, नन्दी, अनुयोगद्वार और पिण्डनिर्युक्ति पर टीकाएँ लिखी। पिण्डनिर्युक्ति की अपूर्ण टीका वीराचार्य ने पूर्ण की थी। आचार्य हरिभद्र का संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं पर असाधारण अधिकार था। इनका समय विक्रम ७५७ से ८२७ है।

हरिभद्र के पश्चात् आचार्य शीलाङ्क आगमो के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। आचारांग आदि नौ अंगो पर उन्होने टीकाएं लिखी थी, किन्तु वर्तमान में केवल आचाराग और सूत्रकृताङ्ग की टीकाएँ ही उपलब्ध हैं। इनके भावो की गम्भीरता के साथ भाषा की प्राञ्जलता पाठको के दिल को मोह लेती है। ये विक्रम की नवी-दसवी शती में विद्यमान थे।

वादिवेताल शान्तिसूरिकृत उत्तराध्ययन की शिष्यहितावृत्ति एक प्रसिद्ध टीका है। यह पाइअ टीका के नाम से भी विश्रुत है क्योकि इसमें प्राकृत भाषा के कथानक और उद्धरणो की बहुलता है। भाषा व शैली सभी दृष्टि से यह टीका उत्तम है। ये वि स १०९६ में स्वर्गस्थ हुए थे।

अभयदेव सूरि नवाङ्गी वृत्तिकार के रूप मे प्रसिद्ध हैं। इन्होने (१) स्थानाङ्ग (२) समवायाग, (३) व्याख्या प्रज्ञप्ति, (४) ज्ञाताधर्म कथा, (५) उपासक दशा, (६) अंतकृत दशा, (७) अनुत्तरौपपातिक, (८) प्रश्न व्याकरण, (९) विपाक एवं (१०) औपपातिक उपाङ्ग पर टीकाए लिखी। इनकी टीकाएँ सक्षिप्त और और शब्दार्थ प्रधान होने पर भी वस्तु विवेचन की दृष्टि से बहुत उपयोगी है।

सस्कृत टीकाकारो में मलयगिरि आचार्य का भी विशिष्ट स्थान है। जैसे वैदिक परमम्परा में वाचस्पति मिश्र ने षड्दर्शनो पर महत्त्वपूर्ण टीकाएं लिखकर आदर्श उपस्थित किया वैसे ही जैन साहित्य में आचार्य मलयगिरि ने प्राञ्जल-भाषा में, और प्रौढ शैली में भावपूर्ण टीकाएं लिख कर आदर्श उपस्थित किया। वे दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनमें आगमो के गभीर रहस्यो को तर्क-पूर्ण शैली से उपस्थित करने की अद्भुत क्षमता व कला थी। वे कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन थे, अत. उनका समय वि० स० ११-५०

१२५० के आस-पास है। उन्होने निम्न लिखित आगमो पर टीकाएं लिखी, जो आज भी उपलब्ध है —

(१) व्याख्या प्रज्ञप्ति-द्वितीयशतकवृत्ति, (२) राजप्रश्नीय टीका (३) जीवाभिगम टीका, (४) प्रज्ञापना टीका, (५) चन्द्रप्रज्ञप्ति टीका, (६) सूर्यप्रज्ञप्ति टीका, (७) नन्दी टीका, (८) व्यवहार वृत्ति, (९) वृहत्कल्पपीठिका वृत्ति (१०) आवश्यक वृत्ति, (११) पिण्डनिर्युक्ति टीका, (१२) ज्योतिष्करण्डक टीका। निम्न टीकाएं अप्राप्त है—(१) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति टीका, (२) ओघनिर्युक्ति टीका (३) विशेषावश्यक टीका। इनके अतिरिक्त अन्य सात ग्रन्थो पर भी इनकी टीकाए हैं।

मल्धारी हेमचन्द्र सूरि भी एक प्रसिद्ध टीकाकार हैं। ये मलधारी अभय-देव सूरि के शिष्य थे। इन्होने—(१) आवश्यक-टिप्पण, (२) अनुयोगद्वार वृत्ति, नन्दि-टिप्पण, और विशेषावश्यक भाष्य-वृहद्वृत्ति आदि की रचनाए की हैं।

नेमिचन्द्र सूरि ने, जिनका अपर नाम देवेन्द्रगणी है, विक्रम स० ११२९ में उत्तराध्ययन सूत्र पर सुखवोधा वृत्ति लिखी है।

शीलभद्रसूरि के शिष्य श्रीचन्द्र सूरि ने निशीथ (वीसवा उद्देशक,) श्रमणो-पासक-प्रतिक्रमण (आवश्यक) नन्दी, जीतकल्प, निरयावलिकादि पाँच उपागो पर टीकाएं लिखी हैं।

सिद्धसेन सूरि ने जीतकल्प वृहच्चूर्णि विषमपद व्याख्या टीका लिखी है।

माणिक्यशेखर सूरि ने आवश्यकनिर्युक्ति-दीपिका, दशवैकालिकनिर्युक्ति दीपिका, पिण्डनिर्युक्ति-दीपिका, ओघनिर्युक्ति-दीपिका, उत्तराध्ययन-दीपिका आदि अनेक वृत्तिया लिखी।

अजितदेव सूरि ने आचाराग दीपिका, भाव विजय ने उत्तराध्ययन व्याख्या, समयसुन्दर ने दशवैकालिक दीपिका एवं कल्पसूत्र-कल्पलता, ज्ञानविमल सूरि ने प्रश्न व्याकरण-सुखवोधिका वृत्ति, लक्ष्मीवल्लभ ने उत्तराध्ययन दीपिका, कल्पद्रुम कलिका, दानशेखर सूरि ने भगवती—विशेषपद व्याख्या, संघविजय गणी ने कल्प सूत्र-कल्पप्रदीपिका, उपाध्याय विनय विजय जी ने कल्प सूत्र—सुबोधिका आदि अन्य अनेक आचार्यों ने आगमो पर टीकाएँ लिखी है। पर यहाँ उन सव का वर्णन करना संभव नही है।

वर्तमान में पण्डित रत्न पूज्य श्री घासीलाल जी म० ने भी ३२ आगमो पर सस्कृत टीकाएँ लिखकर आगम साहित्य की अपूर्व सेवा की है।

आगम साहित्य पर जो विराट् टीका-साहित्य लिखा गया है, उसमें आगमो मे रहे हुए तथ्यो का उद्‌घाटन करते हुए आचार शास्त्र, दर्शनशास्त्र, समाज शास्त्र, योगशास्त्र, नागरिक शास्त्र, भूगोल, खगोल, राजनीति, इतिहास, चरित्र धर्म और सस्कृति आदि अनेक विषयो का प्रसगोपाग निरूपण है।

लोकभाषा में रचित व्याख्याएं

सस्कृत-प्राकृत भाषाओ में टीकाओ की संख्या अत्यधिक वढ जाने, और उन टीकाओ मे दार्शनिक चर्चाएं चरम सीमा पर पहुँच जाने पर भी इन भाषाओ से अनभिज्ञ जन साधारण के लिए उनको समझना कठिन था। तब जन हित की दृष्टि से आगमो की शब्दार्थ करने वाली सक्षिप्त टीकाए वनाई गई और वे भी लोक भाषा में सरल और सुवोध शैली में लिखी गई। फलस्वरूप राजस्थानी मिश्रित प्राचीन गुजराती, जिसे अपभ्रश कहा जाता है, उस में पार्श्वचन्द्र गणी ने (वि० स० १५७२) में आचाराग, सूत्रकृताग आदि पर वालाववोध की रचना की। अठारहवी शताब्दी के स्थानकवासी आचार्य मुनि श्री धर्मसिंह जी ने व्याख्याप्रज्ञप्ति, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, चन्द्रप्रज्ञप्ति, और सूर्य प्रज्ञप्ति आगमो को छोड़कर शेष स्थानकवासीसमत २७ आगमो पर वालाववोध-टब्बे लिखे। धर्मसिंह जी. म के टब्बे मूलस्पर्शी और अर्थ को स्पष्ट करने वाले हैं। टब्बे साधारण व्यक्तियो के लिए आगमो के अर्थ को समझने में अतीव उपयोगी सिद्ध हुए। पर अभी तक कोई भी टब्बा प्रकाशित नही हुआ है।

टब्बा के पश्चात् अनुवाद युग का प्रारभ हुआ। मुख्य रूप से आगम साहित्य का अनुवाद तीन भाषाओ में उपलब्ध होता है। (१) अंग्रेजी, (२) गुजराती और (३) हिन्दी।

जर्मन विद्वान् डाक्टर हर्मन जैकोबी ने आचाराग, सूत्रकृताङ्ग, उत्तराध्ययन और कल्प सूत्र, इन चार आगमो का अंग्रेजी में अनुवाद किया है। कल्पसूत्र और आचाराग पर उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। अभ्यकर ने दशवैकालिक का अग्रेजी अनुवाद किया है। इसके अतिरिक्त उपासक दशाग, अन्तकृत-दशा-अनुत्तरोपपातिक दशा, विपाक, और निरियावलिका सूत्र के अंग्रेजी अनुवाद भी हो चुके हैं।

गुजराती-अनुवाद

आगम-साहित्य विशारद प० वेचर दास जी ने भगवती-सूत्र, कल्पसूत्र, राजप्रश्नीय सूत्र, ज्ञातासूत्र, और उपासक दशा सूत्र के अनुवाद प्रकाशित किये हैं। उन पर टिप्पण भी लिखे हैं।

जीवाभाई पटेल ने भी आगमो के सटिप्पण अनुवाद प्रकाशित किए हैं।

पं० दलसुख जी मालवणिया ने स्थानाङ्ग-समवायाङ्ग का संयुक्त अनुवाद प्रकाशित किया है। इसमें अनेक स्थलो पर महत्त्वपूर्ण टिप्पण हैं।

सन्त बाल जी ने आचाराग, दशवैकालिक, और उत्तराध्ययन के अनुवाद प्रकाशित किये। गुजराती भाषा में अन्य अनेक विज्ञो ने भी आगमो के अनुवाद किये हैं।

हिन्दी-अनुवाद

पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी ने बत्तीस आगमो का अनुवाद करके महान् श्रुत सेवा की है।

पूज्य श्री आत्माराम जी म तो अनुवादक और व्याख्याकार दोनो रहे हैं। आपने आचाराग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, अनुत्तरोपपातिक, उपासक दशाग, अनुयोग द्वार आदि आगमो के सर्वप्रिय अनुवाद किये हैं।

आचार्य श्री जवाहरलाल जी म. के तत्त्वावधान में सूत्रकृताङ्ग के प्रथम श्रुतस्कंध एव उसकी टीका का अनुवाद हुआ है। द्वितीय श्रुतस्कंध के मूल मात्र का अनुवाद हुआ है। वह चार भागो में प्रकाशित हुआ है।

उपाध्याय श्री हस्तीमल जी म ने दशवैकालिक, नन्दी, प्रश्न व्याकरण, अतगढ, कल्पसूत्र आदि अनेक आगमो के अनुवाद किये हैं।

प्रसिद्धवक्ता सौभाग्यमल जी म. ने आचाराग का, श्री ज्ञानमुनिजी ने विपाक का, मुनि कन्हैयालाल जी 'कमल' ने समवायाङ्ग का, श्री विजय मुनि जी शास्त्री ने अनुत्तरोपपातिक दशा का अनुवाद किया है। सेठिया जैन लाइब्रेरी बीकानेर से तथा सस्कृति रक्षक सघ सैलाना से अनेक आगमो के अनुवाद प्रकाशित हुए हैं।

आचार्य तुलसी के नेतृत्व में दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आदि अनेक आगम तुलनात्मक दृष्टि से सानुवाद प्रकाशित हुए हैं।

उपाध्याय कविरत्न अमरचन्द जी म. का श्रमण सूत्र भाष्य, सामायिक सूत्र भाष्य भी महत्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार समय-समय पर युग के अनकूल आगम साहित्य पर विराट् व्याख्या साहित्य निर्मित हुआ है, जो आगम साहित्य के गुरु गम्भीर रहस्य को समझने में सहायक है।

आगम और व्याख्या साहित्य का यह सक्षिप्त रेखा चित्र है, एक हल्की सी झाँकी है। प्रबुद्ध पाठको को इससे परिज्ञात हो सकेगा कि आगम साहित्य और उसका व्याख्या साहित्य कितना विशाल और विराट् है। आज आवश्यकता है उसके अनुशीलन और परिशीलन की। जितना ही आगम साहित्य का मंथन किया जायेगा, उतने ही दिव्य रत्न प्रकट होंगे।

२

संस्कृत जैन साहित्य

अनुयोग द्वार सूत्र में कहा है कि सस्कृत और प्राकृत ये दोनों श्रेष्ठ भाषाए हैं, और ऋषियो की भाषाएं हैं।[१] इस प्रकार जैनागम-प्रणेताओ ने एक प्रकार से संस्कृत और प्राकृत भाषा की समकक्षता स्वीकार की है।

जैन अनुश्रुति के अनुसार-पूर्व साहित्य संस्कृत भाषा में था,[२] अतः साधारण बुद्धिवाले उसे समझ नही सकते थे, एतदर्थ अल्पज्ञ पुरुषो और स्त्रियो के लिए एकादश अंगो की रचना की।[३] एकादश अगो की रचना प्राकृत भाषा में की गई।[४] आज पूर्व साहित्य विच्छिन्न हो चुका है इसलिए अधिकार की भाषा मे नही कहा जा सकता कि पूर्वों की सस्कृत भाषा कैसी थी? उसका क्या रूप था? वैदिक संस्कृत थी या लौकिक?

---

१ सक्कयं पागय चेव, पसत्य इसिभासिय। —अनुयोग द्वार।

२ (क) पूर्वाणि संस्कृतानि वेदितव्यानि।

—हीरप्रश्न, ३ उल्लास, हीरविजय सूरि

(ख) प्रज्ञावन्मुनीन्द्रयोग्यानि चतुर्दशापि पूर्वाणि सस्कृतान्येव श्रूयन्ते।

—आचार प्रदीप, सिद्धसेन दिवाकर अधिकार।

३. जइ विय भूयाएव सव्वस्स वओमयस्स ओयारो।
निरूजूहणा तहावि हु दुम्मेहे इत्थीय॥

—विशेषावश्यक भाष्य गा० ५५०।

४. बाल-स्त्री-मन्द-मूर्खाणा नृणा चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं सर्वज्ञै सिद्धान्त प्राकृतेकृत.॥

—दशवैकालिक टीका।

इतिहासकारो का मन्तव्य है कि जैन परम्परा में आचार्य उमस्वाति ही सर्वप्रथम संस्कृत भाषा के लेखक हैं। वे कब हुए ? अभी तक एक निश्चित मत निर्धारित नही हो सका है। प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल जी के अभिमतानुसार उनका प्राचीन से प्राचीन समय विक्रम की पहली शताब्दी है और अर्वाचीन से अर्वाचीन समय विक्रम की तीसरी-चौथी शताब्दी है।[1] इन्होंने जैन दर्शन पर 'तत्त्वार्थ सूत्र' नामक ग्रन्थ की रचना की। जैन परम्परा में संस्कृत कल्पवृक्ष का यह पहला फूल था। भाषा शुद्ध और सक्षिप्त, शैली सरल एवं प्रवाह पूर्ण। उनका प्रस्तुत ग्रन्थ श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो परम्पराओ में मान्य रहा। यही कारण है कि दोनो ही परम्पराओ के प्रतिभा सम्पन्न आचार्यों ने उस पर महत्त्वपूर्ण टीका-साहित्य लिखा। तत्त्वार्थ सूत्र क्या है ? संक्षेप में कहा जाय तो तत्त्वज्ञान, आचार, भूगोल, खगोल, आत्मविद्या, पदार्थ विज्ञान, कर्म शास्त्र आदि अनेक विषयो का सक्षिप्त कोष है। जैनेतर विद्वानो के लिए जैन-दर्शन का परिचय पाने के लिए यह ग्रन्थ आज भी प्रमुख साधन है।

तत्त्वार्थ सूत्र पर सर्वप्रथम उमास्वाति का सस्कृत भाषा में सक्षिप्त भाष्य मिलता है। उसके अतिरिक्त छठी शताब्दी के आचार्य पूज्यपाद की 'सर्वार्थ-सिद्धि' नामक सक्षिप्त किन्तु महत्त्वपूर्ण टीका मिलती है। अकलंक का राज-वार्तिक भाष्य भी प्राप्त है। राजवार्तिक अत्यधिक विस्तृत और सर्वाङ्ग पूर्ण है। विद्यानन्द कृत 'श्लोकवार्तिक' भी एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण टीका है। ये विद्वान् दिगम्बर परम्परा के थे। श्वेताम्बर परम्परा मे सिद्धसेन और हरिभद्र ने क्रमश बृहत्काय और लघुकाय वृत्तियो की रचनाएं की। इन सभी टीकाओ मे दार्शनिक दृष्टिकोण मुख्य रूप से प्रकट हुआ है। जैसे बौद्ध परम्परा मे दिङ् नाग के प्रमाण समुच्चय पर धर्म कीर्ति ने प्रमाण वार्तिक बनाया और उसको मुख्य केन्द्र मानकर बौद्ध दर्शन साहित्य विकसित हुआ, वैसे ही तत्त्वार्थ सूत्र की टीकाओ के आस-पास जैन-दार्शनिक साहित्य-विकसित हुआ है। इन टीकाओ के अतिरिक्त बारहवी शताब्दी में मलयगिरि ने, चौदहवी शताब्दी में चिरतन मुनि ने, अठारहवी शताब्दी में नव्य-न्याय शैली के प्रकाण्ड पण्डित उपाध्याय यशोविजय जी ने तत्त्वार्थ सूत्र पर संस्कृत भाषा में टीकाएं लिखी। दिगम्बर परम्परा में भी श्रुतसागर, विबुध सेन, योगीन्द्र देव, योगदेव, लक्ष्मी देव, अभय नन्दी आदि अनेक विद्वानो ने टीकाओ का निर्माण किया। इस प्रकार तत्त्वार्थ सूत्र पर बीसो टीकाएं लिखी गई। उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र के अतिरिक्त अन्य अनेक ग्रन्थो की रचना की, जिनमें 'प्रशमरति' भी एक अत्यन्त

---

१ तत्त्वार्थसूत्र-पं० सुखलाल जी पृ० ९

महत्व पूर्ण ग्रन्थ है। उसमें प्रशम और प्रशम से उत्पन्न होने वाले आनन्द का सुन्दर निरूपण है तथा बहुत से प्रासङ्गिक तथ्यो का समावेश है।[१]

आचार्य उमास्वाति के पश्चात् जैनाचार्यों ने संस्कृत भाषा मे अध्यात्म, धर्म, दर्शन, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, इतिहास, काव्य, नाटक, कोष, सुभाषित आदि सभी विषयो पर इतना महत्त्वपूर्ण लिखा कि उसे भारतीय साहित्य की अनमोल उपलब्धि कह सकते है।

भारतीय दार्शनिक क्षेत्र मे नागार्जुन ने एक महत्वपूर्ण क्रान्ति की। दर्शन क्षेत्र में श्रद्धा के स्थान पर उसने तर्क को महत्त्व दिया। उसके पूर्व तर्क अवश्य था, पर श्रद्धा की प्रमुखता के कारण वह दबा हुआ था, जिससे दर्शन का व्यवस्थित रूप निर्मित नही हो सका। नागार्जुन की यह क्रान्ति बौद्ध दर्शन तक ही सीमित नही रही, किन्तु भारतवर्ष के सभी प्रमुख दर्शन उससे प्रभावित हुए विना न रहे। सिद्धसेन दिवाकर और समन्तभद्र जैसे प्रखर-प्रतिभा सम्पन्न तार्किको ने भी विशुद्ध दार्शनिक शैली का अनुसरण किया।

नागार्जुन शून्यवाद का समर्थक था। शून्यवादियो के मन्तव्यानुसार तत्त्व न सत् है, न असत्, न सदसत् है, न अनुभय। वह चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है। विचार की ये चारो कोटियाँ तत्त्व को ग्रहण करने में समर्थ नही हैं। जिस चीज को विचार ग्रहण करता है वह मात्र लोक व्यवहार है।[२] बुद्धि से विश्लेषण करने पर हम किसी एक स्वभाव तक नही पहुँच सकते। किसी एक स्वभाव को हमारी बुद्धि धारण नही कर सकती, एतदर्थ सभी पदार्थ अनभिलाप्य हैं, निःस्वभाव[३] है। शून्यवाद ने इस प्रकार तत्त्व के निषेध पक्ष पर भार दिया। विज्ञानवाद ने विज्ञान पर वल दिया, और बतलाया कि तत्त्व विज्ञानात्मक ही है। विज्ञान से भिन्न बाह्यार्थ की सिद्धि नही को जा सकती। जहाँ तक व्यक्ति को विज्ञप्ति मात्रता के साथ एकरूपता का परिज्ञान नही हो जाता, वहाँ तक ज्ञाता और ज्ञेय का भेद बना

---

१ कालं, क्षेत्रं, मात्रा सात्म्यं, द्रव्य-गुरु-लाघव स्ववलम्।
ज्ञाता योऽभ्यवहार्यं भुङ्क्ते किं भेषजैस्तस्य ॥

—प्रशमरति।

२ चतुष्कोटिक च महामते ! लोकव्यवहार।

—लंकावतार सूत्र १८८।

३. बुद्धया विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते।
तस्मादनभिलाप्यास्ते नि स्वभावाश्च देशिता।

—लकावतार सूत्र पृ० ११६

ही रहता है।[1] इस से ठीक विपरीत नैयायिक, वैशेषिक, और मीमासक वाह्यार्थ की स्वतंत्र सत्ता सिद्ध करते थे। सांख्यो ने सत्कार्यवाद का समर्थन करते हुए कहा कि सभी सत् है। हीनयानी बौद्धो ने क्षणिक वाद की संस्थापना कर ज्ञान और अर्थ दोनो को क्षणिक बताया और मीमासको ने शब्द आदि कुछ पदार्थो को नित्य सिद्ध किया। नैयायिको ने शब्दादि पदार्थों को क्षणिक और आत्मादि पदार्थों को नित्य माना। इस प्रकार भारतीय दार्शनिक क्षेत्र में एक प्रकार से संघर्ष चल रहा था। संस्कृत भाषा तार्किको के तीखे तर्क-बाणो के लिए तूणीर बन चुकी थी। एतदर्थ प्रस्तुत भाषा का अध्ययन न करने वालो के लिए अपने विचारो की सुरक्षा संभव नही थी, अत. सभी दार्शनिक संस्कृत भाषा को अपनाने में लगे हुए थे। जैनाचार्य भी पीछे न रहे। उन्होने शीघ्र ही संस्कृत भाषा पर अपना प्रभुत्व जमाया और श्रमण भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट नयवाद और स्याद्वाद को मुख्य आधार बनाकर साहित्य का सृजन किया—ऐसे महत्त्व पूर्ण साहित्य का निर्माण किया, जो मौलिक व दार्शनिक गुत्थियोको सुलझाने वाला था। इस क्रम में सर्वप्रथम पहल करने वाले प्रचण्ड तार्किक सिद्धसेन दिवाकर थे। वे तार्किक ही नही श्रेष्ठ कवि और साहित्यकार भी थे। भावो की गहनता और तार्किक प्रतिभा का चमत्कार उनकी रचनाओ में सहज रूप से निहारा जा सकता है। आगम साहित्य में बिखरे हुए अनेकान्त के बीजो को पल्लवित करने एवं जैन न्याय की परिभाषाओ को व्यवस्थित रूप देने का पहला प्रयत्न उनके 'न्यायावतार' ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। उन्होने बत्तीस द्वात्रिंशिकाए निर्मित की। वे रचना की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण है। भगवान् महावीर की स्तुति करते हुए सिद्धसेन ने विरोधी दृष्टिकोणो का भी सुन्दर समन्वय किया है।[2] वस्तुत सिद्धसेन जैन दर्शन के इतिहास में नये युग के संस्थापक हैं।

श्वेताम्बर परम्परा में जो स्थान सिद्धसेन दिवाकर का है, वही स्थान दिगम्बर परम्परा मे समन्तभद्र का है। वे भी एक विलक्षण प्रतिभा के धनी थे।

---

१. यावद् विज्ञप्तिमात्रत्वे विज्ञानं नावतिष्ठते।
ग्राह्य यस्य विषयस्तावन्नविनिवर्तने। —त्रिंशिका का० २६०।

२. क्वचिन्नियतिपक्षपातगुरु गम्यते ते वच.
स्वभावनियता प्रजा: समयतंत्रवृत्ता. क्वचित् ?
स्वयं कृतभुज क्वचित् परकृतोपभोगा. पुन-
र्नवा विशद-वाद ! दोष मलिनोऽस्यहो विस्मय ॥
—तृतीय द्वात्रिंशिका ८।

आचार्य समन्तभद्र के विषय में दो मत हैं—कितने ही इतिहासकार उनका अस्तित्व सातवी शताब्दी मानते हैं और कितने ही इतिहासकार चतुर्थ शताब्दी।[१] देवागम स्तोत्र, युक्त्यनुशासन, स्वयंभू-स्तोत्र आदि उनकी रचनाएं हैं। आधुनिक-युग का सर्वप्रिय शब्द 'सर्वोदय' है, उसका चामत्कारिक ढग से सर्वप्रथम प्रयोग समतन्भद्र ने किया है.—

सर्वान्तवत् तद् गुणमुख्यकल्प
सर्वान्तशून्यञ्च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं,
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥[२]

स्वयंभू स्तोत्र में चौबीस तीर्थङ्करो की स्तुति के रूप में दार्शनिक तत्त्व का उन्होंने जो निरूपण किया है, वह बडा ही अनूठा है। युक्त्यनुशासन भी उनका एक उत्कृष्ट स्तुतिकाव्य है। आप्तमीमासा भी उनकी एक श्रेष्ठ कृति है। एकान्तवाद का निरसन कर अनेकान्तवाद की स्यापना की है। स्याद्वाद को लक्ष्य में रखकर सप्तभंगी की योजना की है।

आचार्य हरिभद्र भी एक प्रतिभासम्पन्न आचार्य हुए। उनका समय विक्रम की आठवी शताब्दो माना जाता है। कहा जाता है कि उन्होंने १४४४ ग्रन्थो को रचना की।[3] उनमें से जो साहित्य वर्तमान में उपलब्ध है, वह उनके प्रखर पाण्डित्य को बताने वाला है। अनेकान्त-जय पताका आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ दार्शनिक क्षेत्र में अत्यधिक ख्याति प्राप्त है। दिङ् नाग रचित न्याय प्रवेश की टीका निर्माण कर जैनो को भी बौद्ध न्याय का अध्ययन करने को उत्प्रेरित किया। उन्होंने समन्वय की नई दिशा दिखाई। जैसे—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेष कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्य परिग्रह ॥

उपाध्याय यशोविजय जी ने भी सस्कृत-साहित्य को अत्यधिक समृद्ध बनाया। उन्होने नव्य-न्याय की शैली में अधिकारपूर्वक जैन न्याय के ग्रन्थो की रचना की। बनारस में विज्ञो से सम्बन्ध स्थापित कर जैन न्याय की प्रतिष्ठा में चार चाँद लगाये। ये लघु हरिभद्र के नाम से विश्रुत है।

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार प्रस्तावना पृ० १५७।
२. युक्त्यनुशासन ६१।
३ प्रभावक चरित्र पृ० २०५।
(ख) षट् दर्शन समुच्चय (लघुवृत्ति।
(ग) ,, ,, बृहद्वृत्ति)।

दार्शनिक मूर्धन्य अकलंक, विद्यानन्द, उद्योतन सूरि, जिनसेन, सिद्धर्षि, हेमचन्द्र, देवसूरि आदि अनेको प्रतिभामूर्तियो ने सस्कृत भाषा मे दार्शनिक ग्रन्थों का प्रणयन किया। उन समस्त साहित्यकारों का नाम वताना और उनके ग्रन्थो की परिगणना करना कठिन है। संक्षेप मे दार्शनिक ग्रन्थों में न्यायावतार, युक्त्यनुशासन, आप्त-मीमासा, लघीयस्त्रय, अनेकान्त-जयपताका, षड्दर्शनसमुच्चय, आप्त-परीक्षा, प्रमाण परीक्षा, परीक्षा मुख, वाद महार्णव, प्रमेयकमल मार्तण्ड, न्यायकुमुद चन्द्र, स्याद्वादोपनिषद्, प्रमाणनयतत्वालोक, स्याद्वादरत्नाकर, रत्नाकरावतारिका, प्रमाण मीमांसा, व्यतिरेक द्वात्रिंशिका, स्याद्वादमंजरी, जैनतर्कभाषा, आदि के नाम गिनाए जा सकते हैं।

टीका-साहित्य

आगम साहित्य पर आचार्य हरिभद्र, शोलाङ्काचार्य, अभयदेव, मलधारी हेमचन्द्र, मलयगिरि प्रभृति अनेक आचार्यों ने संस्कृत भाषा मे टीका साहित्य का सृजन किया। उसका सक्षिप्त परिचय 'आगम साहित्य एक पर्यवेक्षण' निवन्ध में अन्यत्र दिया जा चुका है। जैनागम और जैन साहित्य के अतिरिक्त जैनेतर ग्रन्थो पर भी जैनाचार्यो ने टीकाएँ निर्मित की है, जो उनके उदार दृष्टिकोण और विशाल हृदय का स्पष्ट प्रतीक है। उनके द्वारा रचित अनेक टीकाएँ तो अत्यधिक लोकप्रिय हुई हैं। पाणिनी व्याकरण पर शब्दावतार न्यास, दिङ्नाग के न्याय प्रवेश पर वृत्ति, श्रीधर की न्यायकन्दली पर टीका, नागार्जुन की योग रत्नमाला पर वृत्ति, अक्षयपाद के न्यायसूत्र पर टीका, वात्स्यायन के न्यायभाष्य पर टीका, भारद्वाज के वार्तिक पर टीका, वृहस्पति की तात्पर्यटीका पर टीका, उदयन की न्याय तात्पर्य परिशुद्धि की टीका, श्री कंठ की न्यायालकार वृत्ति की टीका, मेघदूत, रघुवश, कादम्बरी, नैषघ, और कुमार सभव आदि काव्यो पर भी जैनाचार्यों की सुप्रसिद्ध टीकाएँ हैं।

व्याकरण और कोष

सस्कृतव्याकरण के निर्माण में जैनाचार्यो के महत्त्वपूर्ण योग को भुलाया नही जा सकता। व्याकरणभाषा की कुजी है। जैनेन्द्र, स्त्रयंभू, शाकटायन, शब्दाम्भोज भास्कर, आदि संस्कृत व्याकरणो के निर्माण के वाद आचार्य हेमचन्द्र ने सर्वाङ्गपूर्ण 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' की रचना की। उनकी गौरव गाथा श्रद्धास्निग्ध स्वर में गायी गयी—

> किं स्तुम. शब्दपाथोधेर्हेमचन्द्रयतेर्मतिम्।
> एकेनापि हि येनेदृक्, कृतं शब्दानुशासनम्॥

व्याकरण के पाँच अंग होते हैं—सूत्र, गणपाठ सहित वृत्ति, धातुपाठ, और लिङ्गानुशासन। इन सभी अंगो की स्वयं एकाकी हेमचन्द्र ने रचन स्वतंत्र व्याकरण का निर्माण किया। उसके पश्चात् भी 'शब्दसिद्धि-व्या मलगिरि व्याकरण, विद्यानन्द व्याकरण और देवानन्द आदि अनेक व्याकरण

व्याकरण की तरह संस्कृत भाषा मे कोष ग्रन्थो का प्रणयन भी जैन ने किया है। धनञ्जय नाम माला, अपवर्ग नाममाला, [अमरकोश, अ चिन्तामणि, अनेकार्थ संग्रह, निघण्टु शेष, शारदीय नाममाला आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

काव्य और कथासाहित्य

काव्य के क्षेत्र में भी जैनाचार्य अन्य विद्वानो से पीछे नही रहे है। पद्यमय और गद्यमय अत्युच्च कोटि के काव्यो का निर्माण किया है। उन कुछ काव्यग्रन्थों के नाम इस प्रकार है—पार्श्वाभ्युदय, द्विसधानकाव्य, यशस्ति तिलकमंजरी, भरतबाहुवली महाकाव्य, द्वयाश्रयकाव्य, त्रिषष्ठिशलाका चरित्र, नेमिनिर्वाण महाकाव्य, शान्तिनाथ महाकाव्य, पद्मानन्द महाकाव्य, शर्माभ्युदय महाकाव्य, जैन कुमार सभव, यशोधरचरित्र, पाण्डव चरित्र आ

सत्रहवी सदी के जैन विद्वान् समयसुन्दरगणी को विस्मरण नही कि सकता। उन्होने अष्टलक्षी नामक महाकाव्य का निर्माण किया। अष्टलक्षी में 'राजानो ददते सौख्यम्' इन आठ अक्षरो के १०२२४०७ अर्थ किये ग ग्रन्थ[1] के नामकरण में आठ लाख के ऊपर की सख्या को सभवत इसीलिए दिया है कि कही भूल से पुनरुक्ति हो गई हो! आठ अक्षरो के आठ लाख करना, असाधारण प्रतिभा का ही कार्य है। आचार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ सं० १ में बादशाह अकबर की विज्ञमण्डली के सामने रखा था, आचार्य की ते प्रतिभा से सभी चमत्कृत हुए थे।

इसी प्रकार कथा साहित्य में भी उपमितिभवप्रपंच कुवलयमाला, आर कथाकोश, आख्यानमणिकोश, कथारत्नसागर, दान कल्पद्रुम, सम्यक्त्व क कथारत्नाकर आदि कथा साहित्य के अनूठे रत्न हैं। आदि पुराण, महाप उत्तर पुराण, हरिवंश पुराण, शान्ति पुराण, पुराणसार संग्रह, महापुरुषच आदि पुराण-साहित्य निर्माण में जैनाचार्यों की प्रगति अपूर्व रही है।

छन्द और अलंकार

भाषाओ में प्रचलित थे, उन सब का समावेश किया है। छन्दों के लक्षण संस्कृत भाषा में लिखे हैं। छन्दो के शास्त्रीय लक्षणों व उदाहरणो के लिए यह रचना एक महाकोष के समान है। इनके अतिरिक्त नेमि के पुत्र वाग्भट्ट रचित ५ अध्याय में छन्दोनुशासन मिलता है। जयकीर्ति कृत छन्दोनुशासन जो वि० सं० ११९२ की रचना है—प्राप्त होता है। अमरचन्द्रकृत छन्दो रत्नावली, रत्न-मंजूषा आदि अनेक ग्रन्थ मिलते हैं। काव्यानुशासन, अलंकार चिन्तामणि, अलंकार चूडामणि, कविशिक्षा, वाग्भटालंकार, कविकल्पलता, अलंकार प्रबोध, अलंकार महोदधि आदि अलकार-साहित्य के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

नाटक

आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र एक प्रसिद्ध नाटककार रहे हैं। कहा जाता है कि उन्होने १०० नाटको की रचना की। जैसे निर्भय भीम व्यायोग, नल विलास, कौमुदी-मित्रानन्द, रघुविलास, रोहिणी मृगाङ्क, वनमाला आदि।

हस्तीमल भी तेरहवी शती के जैन विद्वान् हैं। उनके भी विक्रान्त कौरव, सुभद्रा, मैथिली कल्याण, अजना पवनञ्जय, उदयनराज, भरतराज, अर्जुनराज और मेघेश्वर आदि नाटक मिलते हैं। जिनप्रभसूरि के शिष्य रामभद्र रचित प्रबुद्ध-रौहिणेय छह अंको में निर्मित है। यशपाल का मोहराज पराजय, जयसिंह सूरि कृत हम्मीरमदमर्दन, यशश्चन्द्ररचित। मुद्रित कुमद चन्द्र, रत्नशेखर कृत प्रबोध चन्द्रोदय, मेघप्रभाचार्य कृत धर्माभ्युदय, बालचन्द्र कृत धर्माभ्युदय के अतिरिक्त सत्य हरिश्चन्द्र, राघवाभ्युदय, यदुविलास, मल्लिकामकरंद, रोहिणीमृगाक, चन्द्रलेखाविजय, मानमुद्रा भंजन, करुणावज्रा युद्ध, द्रौपदी स्वयंवर आदि उल्लेखनीय नाटक संस्कृत साहित्य को सम्पन्नता प्रदान करने वाले हैं।

जैनाचार्यो का योग सम्बन्धी साहित्य भी महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य हरिचन्द्र ने मुख्य रूप से योग पर चार ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें से दो ग्रन्थ प्राकृत भाषा में और दो सस्कृत भाषा में हैं। योग विन्दु और योगदृष्टि समुच्चय ये दोनो संस्कृत भाषा में हैं। उनमें क्रमश. ५२७ और २२७ श्लोक हैं। योगविन्दु में योग के अधिकारी का वर्णन कर फिर योग की पाँच भूमिकाओ का निरूपण किया गया है—(१) अध्यात्म, (२) भावना, (३) ध्यान (४) समता (५) और वृत्तिसंक्षय। प्रस्तुत ग्रन्थ में (१) विष, (२) गर, (३) अनुष्ठान, (४) तद्धेतु और (५) अमृत अनुष्ठान, इन पाँच अनुष्ठानो का भी वर्णन किया गया है। इसी तरह योगदृष्टि समुच्चय में भी योग के सम्बन्ध में विश्लेषण किया गया है।

आचार्य हरिभद्र के पश्चात् आचार्य शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव भी इसी प्रकार की श्रेष्ठ कृति है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी 'योगशास्त्र' एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा है। पातञ्जल योग सूत्र में निर्दिष्ट अष्टाग योग के क्रम से गृहस्थ-जीवन, श्रमण-जीवन की आचार-सहिता का वर्णन कर आसन, प्राणायाम के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन किया है। पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानो का भी उल्लेख किया है। स्वानुभव के आधार से अन्त में मन के चार भेदो— विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन का वर्णन कर नवीनता लाई गई है।

उपाध्याय यशोविजय जी ने अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, योगावतार-बत्तीसी, पातञ्जल योग-सूत्र वृत्ति, योगविंशिका (टीका) आदि महत्त्वपूर्ण योग-सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे है।

अध्यात्मसार ग्रन्थ में योगाधिकार और ध्यानाधिकार प्रकरण में मुख्य रूप से गीता और पातञ्जल योग सूत्र के साथ जैन ध्यान-योग का समन्वय किया है। अध्यात्मोपनिषद् में शास्त्र-योग, ज्ञान-योग, क्रिया-योग और साम्य-योग के सम्बन्ध में योग वाशिष्ठ और तैत्तिरीय उपनिषद् के साथ जैन दर्शन की एकता व समानता बताई है। योगावतार बत्तीसी में पातञ्जल योग-सूत्र में वर्णित योग-साधना का जैन प्रक्रिया के साथ विवेचन है एवं आचार्य हरिभद्र की योग विंशिका व 'शोडषक' पर टीकाएं लिखकर उसमें रहे हुए निगूढ तत्त्वो का उद्घाटन किया है। इसके अतिरिक्त पातञ्जल योग सूत्र पर जैन दृष्टि के अनुसार एक लघु वृत्ति लिखी है। उसमें अनेक स्थलो पर साख्य विचार धारा का जैन विचार धारा के साथ मिलान भी किया है और कई स्थलो पर अकाट्य तर्कों से प्रतिवाद भी किया है।

स्तोत्र-साहित्य

आचार्य मानतुङ्ग रचित भक्तामरस्तोत्र, और सिद्धसेन दिवाकर रचित कल्याण मन्दिर स्तोत्र साहित्य में अत्यधिक प्रसिद्धि प्राप्त रचनाएं हैं। इनके अतिरिक्त, सिद्धसेन की द्वात्रिंशिकाएं, आचार्य हेमचन्द्र कृत अन्ययोग व अयोग-व्यवच्छेदिकाएं, समन्तभद्र कृत वृहत्स्वयम्भू स्तोत्र—स्तुतिविद्या, जिनशतक, धनञ्जय कृत विषापहार स्तोत्र, वादिराज कृत–एकीभाव स्तोत्र, वप्पभट्टि कृत सरस्वती स्तोत्र, भूपालकृत—जिनचतुर्विंशतिका, हेमचन्द्र कृत वीतराग स्तोत्र, आशाधर कृत सिद्ध गुण स्तोत्र, धर्मघोष कृत चतुर्विंशतिजिन स्तुति, धर्मसिंह का सरस्वती भक्तामर, भावरत्न कृत नेमि भक्तामर स्तोत्र आदि शताधिक महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ स्तोत्र साहित्य में गिने जा सकते हैं।

ज्योतिष, आयुर्वेद और नीति

सिद्धान्त शेखर, ज्योतिष रत्नमाला, गणित तिलक, भुवन दीपक, आरम्भ सिद्धि, नारचन्द्र ज्योतिष सार, वृहत पर्वमाला आदि अनेक ज्योतिष ग्रंथ हैं ।

आयुर्वेद विषयक भी जैनाचार्यों की रचनाएँ कम नही है । माणिक्यचन्द्र कृत रसावतार, मेरुतुंगकृत रसायन प्रकरण, श्री कण्ठसूरि कृत हितोपदेश, शुभचन्द्र कृत जीवक तन्त्र, गंगादास सूरि कृत वैद्यसार संग्रह, हेमाद्रि कृत लक्ष्मण प्रकाश, उग्रादित्य कृत कल्याणकारक, नयनशेखर कृत योगरत्नाकर, समन्तभद्रकृत सिद्धान्तरसायन कल्प, गुम्मटदेवमुनि कृत मेरुतुङ्ग, सिद्धनागार्जुन कृत नागार्जुन-कल्प, 'नागार्जुन कक्ष पुट', हर्षकीर्ति सूरिकृत योगचिन्तामणि आदि अनेक ग्रंथ है ।

नीति सम्बन्धी ग्रंथो की सख्या भी प्रचुर है । आचार्य हेमचन्द्र का 'अर्हन्नीति' नामक एक सक्षिप्त ग्रंथ है जो राजनीति और कानून से सम्वन्धित है । युद्ध के नशे में जो अपने विवेक को विस्मृत कर चुके हैं उनके भी विवेक को जगाने वाले तत्त्व उसमें है । उदाहरण के रूप एक श्लोक देखिए—

सन्दिग्धो विजयो युद्धे, ऽ सन्दिग्ध. पुरुषक्षय. ।
सत्स्वन्येष्वित्युपायेषु, भूपो युद्ध विवर्जयेत् ॥[1]

एक आश्चर्यपूर्ण ग्रन्थ

जैन विद्वानो ने साहित्य के क्षेत्र में ऐसे अदभुत प्रयोग भी किये हैं जिन्हें देख कर प्रत्येक को आश्चर्य होता है । 'अष्टलक्षी' ग्रन्थ के सम्वन्ध में हम पूर्व ही वता चुके हैं, इसी प्रकार आचार्य कुमुदेन्दु कृत 'भूवलय' ग्रन्थ को भी विस्मृत नही किया जा सकता । यह ग्रन्थ अक्षरो में न लिखकर अको में लिखा गया है । एक से लेकर (६४) चौसठ तक अंको का विभिन्न अक्षरो के स्थान पर प्रयोग हुआ है । यह ग्रन्थ कोष्ठको में लिखा गया है । विशेषता यह है कि सीधी लाइन में पढा जाय तो एक भाषा के श्लोक वनते हैं और खडो लाइन से पढने पर अन्य भाषा के, इसी प्रकार टेढी लाइनो से पढने पर अन्य-अन्य भाषाओ के । कहा जाता है कि १८ भाषाओ में यह ग्रन्थ वना हुआ है । अभी तक यह पूर्ण पढ़ा नही गया है । भूगोल, खगोल, विज्ञान, दर्शन, इतिहास, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि कोई भी विषय ऐसा नही है जिसका इसमें समावेश नही किया गया हो । स्वर्गीय राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने इस अनोखे ग्रन्थ को देखकर कहा था कि 'यह ससार के अनेक आश्चर्यों में से एक आश्चर्य कहा जा सकता है' ।

---

१. लघ्वर्हन्नीति २० ।

इसमें कोई सन्देह नही कि आज जैन साहित्य के प्रति भारतीय विद्वत् समुदाय पूर्वापेक्षया अधिक आकृष्ट है। पूर्वापेक्षया साहित्य भी अधिक प्रकाश में आया है। पाठ्यग्रन्थो का भी निर्माण हुआ है, हो रहा है। इन सव वातो के वावजूद कहना पड रहा है कि प्रकाशित साहित्य की अपेक्षा वहुत अधिक रचनाएं प्रकाशन की प्रतीक्षा में हैं। ऐसी अनेक रचनाए हैं, जो दिनानुदिन कीटकों के उदर में समाती जा रही हैं। अभी तक हमारा ध्यान उन रचनाओ के प्रति जितना चाहिए, उतना नही गया है।

एक समय था जव अपेक्षित ज्ञान की अपूर्णता के कारण विज्ञो में भ्रम फैला हुआ था कि जैनाचार्यों ने जो कुछ भी लिखा है वह आध्यात्मिक, धार्मिक व तार्किक विषयो पर ही लिखा है, अन्य लौकिक विपय उनसे अछूते रहे हैं, पर अब यह धारणा भ्रान्त सिद्ध हो चुकी है। ऐसा कोई भी विषय नही जिस पर जैनाचार्यों ने साधिकार न लिखा हो। अनुसन्धित्सुओ का कर्तव्य है कि वे इस सम्बन्ध में गहन अन्वेपणा कर नये सत्य तथ्य प्रकाश में लायें, नूतन आलोक से सारस्वतो की उज्ज्वल कीर्ति को प्रशस्त वनावें।

जैनाचार्यों ने जो साहित्यिक सेवा की है वह अभिनन्दनीय ही नही, अनुकरणीय है। उल्लिखित पक्तियो में मैंने उनकी संस्कृत-साहित्य-सेवा का अति सक्षिप्त परिचय दिया है। फिर भी सहज ही ज्ञात हो सकेगा कि संस्कृत-साहित्य के विकास में जैनाचार्यों व जैन विद्वानों का योग कम महत्त्वपूर्ण नही है।

●

३

अपभ्रंश जैन साहित्य

भाषा और साहित्य दोनो ही दृष्टियो से अपभ्रंश का महत्त्व कम नही है। भाषा विकास की दृष्टि से अपभ्रंश मध्य भारतीय आर्य भाषाओ की अन्तिम अवस्था का नाम है। कहा जाता है 'संस्कृत भाषा कठोर है, प्राकृत मधुर है और अपभ्रंश मधुरतर है। कुवलयमाला कथा के रचयिता उद्योतन सूरि ने अपभ्रश की प्रशसा करते हुए उस भाषा को प्राञ्जल, प्रवाहमय और मनोहर माना है।[१] महाकवि स्वयंभू ने अपभ्रंश को ग्रामीण भाषा कहा है[२] किन्तु ग्रामीण भाषा होने पर भी उस भाषा में जो माधुर्य है, लालित्य है, वह व्याकरण के नियमो में आबद्ध साहित्यिक भाषा मे कहाँ है ? उसमें जो सरलता, सरसता व स्वाभाविकता है वह अन्य साहित्यिक भाषाओ में नही है। अपभ्रंश भाषा की सर्वप्रथम विशेषता यह है कि इस भाषा मे सन्देश रासक, तथा सिद्ध साहित्य (बौद्धचर्या पद, गीति और दोहा) को छोडकर शेष साहित्य प्रायः जैन विद्वानो द्वारा रचित है।[3] हिन्दी के भक्ति और रीतिकालीन साहित्य से अपभ्रंश साहित्य परिमाण मे अधिक है। हिन्दी साहित्य का जो प्रारभिक रूप है वह अपभ्रंश है। अपभ्रंश को हिन्दी साहित्य की जननी कहना उचित है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने जिसे पुरानी हिन्दी कहा है, गुजराती जिसे जूनी गुज-राती और राजस्थानी जिसे पुरानी राजस्थानी कहते है वह अपभ्रंश का ही एक रूप है। डाक्टर देवेन्द्रकुमार जैन के अभिमतानुसार—'साहित्यिक दृष्टि से भी अपभ्रंश का विशेष स्थान है। हिन्दी साहित्य की अनेक प्रवृत्तियाँ अपभ्रंश

---

१ ता किं अवहंसं होहिइ ? हूं। तं पि णो जेण तं सक्कयपाइयउभय सुद्धासुद्धपयसमंतरंगरंगतवग्गिरं णव-पाउसजलयपवाहपूरव्वालियगिरिण-इसरिसं समविसयं पणयकुवियपियपणइणीसमुल्लावसरिसं मणोहरं।

—ला० भा० गाधी—अपभ्रंश काव्यत्रयी-भूमिका पृ० ९७ से उद्धृत।

२ पउमचरिउ प्रथम भाग, १, ३ - स्वयम्भू।

३ आचार्य विजयवल्लभसूरि स्मारक ग्रंथ, पृ० ३१, जैन परम्परानुं अपभ्रंश साहित्य मा प्रदान।

युग की देन हैं। छन्दो की विविधता, रचना-शैली, परम्परागत काव्यात्मक वर्णन, साहित्यिक रूढियों का निर्वाह, लौकिक और शास्त्रीय शैलियो का समन्वय, वस्तु विधान, प्रकृति-चित्रण, रसात्मकता, भक्ति और शृंगार का पुट, आदि प्रवृत्तियाँ अपभ्रंश-साहित्य से ही परम्परागत रूप से हिन्दी साहित्य को प्राप्त हुई हैं।[१]

यद्यपि महाकवि कालिदास विरचित विक्रमोर्वंशीय नाटक (ईस्वी प्रथम शताब्दी) के चौथे अंक में, कवि शूद्रक लिखित 'मुद्राराक्षस' (दूसरी शताब्दी) के द्वितीय अंक में, और शैवागम तथा चर्यापदो में अपभ्रश की सामग्री इधर-उधर बिखरी हुई उपलब्ध होती है, जिससे यह परिज्ञात होता है कि अपभ्रंश भाषा के रूप में ईस्वी सन् पूर्व प्रथम शताब्दी से ही व्यवहृत होती होगी किन्तु उसे साहित्यिक रूप में प्रतिष्ठा लगभग पाँचवी शताब्दी में मिली होगी क्योकि छठी शताब्दी में हुए भामह काव्यालंकार ग्रन्थ में सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में काव्य लिखने का विधान करते हैं।[२] साथ ही यह भी बताते है कि उस युग में अपभ्रश भाषा में मुख्य रूप से कथाए लिखी जाती थी।[3] यह स्पष्ट है कि देशी भाषा को साहित्यिक रूप में प्रतिष्ठित होने में शताब्दियो का समय लगा होगा। आठवी शताब्दी में लोक कवि अपभ्रंश भाषा में इतने सुन्दर कलासम्पन्न महाकाव्य लिखने लग गये थे कि जिन्हें पढ़कर पाठक आनन्द से झूम उठता था। नौवी शताब्दी के प्रारंभिक महाकवि स्वयभू ने 'स्वयम्भूछन्द' तथा 'रिट्ठनेमिचरिउ' ग्रन्थो में 'गोविन्द, चतुर्मुख, महट्ट, सिद्धप्रभ प्रभृति अनेक अपभ्रंश कवियो का उल्लेख किया है जिससे प्रवन्धकाव्यो के निर्माण की प्राचीनता तथा अपभ्रश काव्य एवं कवियो का अता-पता लगता है। चतुर्मुख की पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ आदि रचनाओ का वर्णन मिलता है पर अद्यावधि वे उपलब्ध नही हुई है।[४] किन्तु इन उल्लेखो से स्पष्ट है कि लगभग छठी

---

१. 'सन्देशरासक और हिन्दी काव्य धारा'।

—सप्तसिन्धु, अप्रैल १९६० के अक में।

२ शब्दार्थौ सहितो काव्यं गद्य पद्यञ्च तद्द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रश इति त्रिधा॥—काव्यालंकार १।१६

३. न वक्त्रापरवक्त्राभ्या युक्ता नोच्छ्वासवत्यपि।
संस्कृत संस्कृता चेष्टा कथापभ्रंशभाक्तया॥—काव्यालकार १।२८

१. जैनग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह पृ० ३६।

शताब्दी से अपभ्रंश में प्रवन्ध काव्यों की रचनाएँ होने लगी थी। एक हजार वर्षों तक अपभ्रंश साहित्य भारत भूमि पर पल्लवित और पुष्पित होता रहा। उसमे अधिकाश साहित्य पद्यवद्ध है। एक भी रचना स्वतत्र रूप से गद्य में नही मिलती। उद्योतनसूरि रचित 'कुवलयमाला कथा' (वि० स० ८३५) दामोदर कृत 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' (११-१२ वी शताब्दी) में अपभ्रंश गद्य के कुछ नमूने प्राप्त होते हैं। साधु समय सुन्दर गणी विरचित 'उक्ति रत्नाकर' मे भी देशी शब्द और भाषा के उदाहरण मिलते हैं। अपभ्रंश मे दृश्य काव्य नही के वरावर है। लोकगीतो का प्रचलन उस समय था जिसका मुख्य आधार लोक-प्रसिद्ध कथा होती थी। खण्डकाव्य के नाम पर अभी तक एक 'सन्देश रासक' प्राप्त हुआ है। मुक्तक काव्यो में रास, चर्चरी, कुलक, फागु, दोहा और नीति रचनाएँ प्राप्त होती है। णायकुमार-चरिउ, करकंडुचरिउ और पउमसिरी चरिउ ये मुख्य रूप से रोमाटिक काव्य है। अपभ्रंश में प्रकाशित प्रवन्ध काव्यो के नाम इस प्रकार है—पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ, महापुराण, णायकुमार चरिउ, जसहर चरिउ, भविसयत्त कहा, करकंडु चरिउ, णेमिणाहचरिउ, पउम-सिरीचरिउ, सनत्कुमार-चरित और सुदंसणचरिउ आदि। कुछ अप्रकाशित प्रवन्ध-काव्यो के नाम इस प्रकार हैं—हरिवंश पुराणु, पांडु पुराणु, पद्म पुराणु, सुकोशल चरिउ, मेघेश्वर चरिउ आदि[1], इनमे पुराणकाव्य, चरितकाव्य शुद्ध धार्मिक हैं। संक्षेप में अपभ्रंश साहित्य का वर्गीकरण इस प्रकार है[2] :—

---
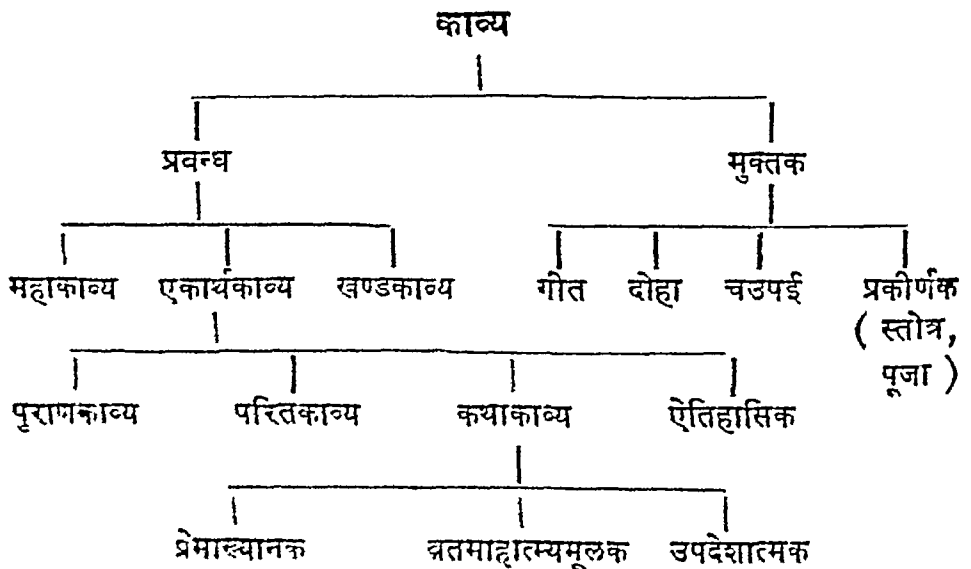
१. मुनि हजारीमल स्मृति ग्रन्थ, पृ० ८०५

२. गुरुदेव श्री रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ पृ० ३३१

पउम चरिउ

अब तक प्रकाश में आये हुए अपभ्रंश कथा साहित्य में स्वयंभूकृत पउम चरिउ सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। यह एक चरित काव्य है। इसमें विद्याधर, अयोध्या, सुन्दर, युद्ध और उत्तर ये पाच काण्ड हैं और ९० सन्धिया (परिच्छेद) हैं। प्रत्येक सन्धि में बारह से लेकर चौदह कडवक हैं। इसमें जैन रामायण की कथा है जिस पर विमल सूरि रचित 'पउम चरिउ' का और जिनसेन रचित आदि पुराण का स्पष्ट प्रभाव है। उन्ही ग्रन्थो को आधार बनाकर कवि ने प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन किया है। इसके वर्णन संवाद, दौत्यकर्म, प्रेमोद्रेक, युद्धवर्णन, प्रकृति-चित्रण, रससंयोजना, अलंकार-योजना आदि मे काव्य के तत्वो का उत्कृष्ट परि-पाक हुआ है। चौदहवी सन्धि में जो जल-क्रीडा एवं वसन्त ऋतु का वर्णन है वह वस्तुत वेजोड है। कवि के पुत्र त्रिभुवन ने लिखा है—जल-क्रीडा में स्वयंभू को गोग्रह कथा मे 'चतुर्मुख' को और मत्स्यवेवन में भद्र को आज भी कवि लोग नही पा सकते। यह अतिशयोक्ति पूर्ण नही किन्तु सत्य है। कवि की भाषा, मधुर, ललित एव प्रवाहपूर्ण है। अन्तिम आठ सन्धियो की रचना कवि के पुत्र त्रिभुवन ने की है किन्तु तनिक मात्र भी काव्य में अन्तर प्रतीत नही होता। प्रस्तुत रचना का समय आठवी सदो का मध्य भाग माना जाता है। पुष्पदन्तकृत महा-पुराण में स्वयभू का यापनीय सघ के अनुयायी के रूप में उल्लेख किया गया है जो ई० सन् ९५९ की रचना है।

रिट्ठणेमिचरिउ या हरिवंशपुराण

यह काव्य भी महाकवि स्वयभू द्वारा रचित है। भगवान् अरिष्टनेमि की जीवनी जैन कथा साहित्य में अत्यन्त लोकप्रिय रही है। वासुदेव श्रीकृष्ण, और पाण्डवो का पवित्र चरित्र भी भगवान् नेमिनाथ की कथा के साथ मिला-जुला होने के कारण साथ ही चलता है। वे हरिवशीय थे अत हरिवश का पूरा चित्र भी इसमें आ जाता है। ग्रन्थ में तीन काण्ड है —यादव, कुरु और युद्ध। और उनमें कुल ११२ सधियाँ हैं। ग्रन्थ का प्रमाण १८००० श्लोक कहा जाता है। प्रारंभ की ९९ सधियाँ स्वयंभू कृत है और शेष उनके पुत्र त्रिभुवन द्वारा रचित हैं। ग्रन्थ का कथा भाग प्राय जिनसेन कृत हरिवश पुराण से मिलता जुलता है।

अपभ्रंश में रिट्ठणेमिचरिउ और हरिवंश पुराण नाम के अनेक कवियो द्वारा रचित काव्य मिलते हैं। रइधूकृत णेमिणाह चरिउ की प्रति मिली है, जो १६वीं के आसपास की रचना है। लक्ष्मणदेवकृत 'णेमिणाहचरिउ' सं० १५१० से पूर्व की रचना है जो चार सधियों में पूर्ण है। इसी प्रकार अमरकीर्तिगणी रचित 'णेमिणाहचरिउ' का भी पता लगा है जिसका रचना काल सवत् १२४४ है।

दामोदरकृत—णेमिणाह चरिउ सं० १२८७ की रचना है। इसके अतिरिक्त जिनदेव के पुत्र दामोदर कृत णेमिणाहचरिउ भी मिलता है। विनयचन्द्र कृत नेमिनाथ चउप्पई वि० सं० १२५७ की मिलती है तथा सुमतिगणी रचित नेमिनाथ रास १३ वी शताब्दी का मिलता है। और साथ ही णेमिकुमारचरिउ आचार्य हरिभद्र का भी उपलब्ध होता है।[१]

इसी प्रकार हरिवंश पुराण को लेकर भी अनेक कवियो ने लिखा है। गोविन्द, भद्र, और चतुर्मुख ने भी हरिवंश पुराण को आधार वना कर महाकाव्य लिखे है, ऐसा उल्लेख मिलता है। यश. कीर्ति ने ३४ सधियो का पाण्डु पुराण लिखा है जिसका रचना-समय १५२३ है। धवल कवि का हरिवंश पुराण भी ११२ सधियो में हैं जिसका रचना समय ग्यारहवी सदी माना जाता है। पं० रइधू (१३ वी शताब्दी) ने और श्रुतकीर्ति (१५५२) ने भी हरिवंश पुराण की रचना की।

णायकुमार चरिउ

अपभ्रंश के दूसरे महाकवि पुष्पदन्त है। उन्होने श्रुतपंचमी की कथा के माहात्म्य को प्रकट करने के लिए कामदेव के अवतार नाग कुमार का चरित्र अकित किया है, जो नौ संधियो में पूर्ण हुआ है। यह एक रोमाटिक कथाकाव्य है। कथा का प्रारभ स्वाभाविक रूप से हुआ हैं किन्तु वर्णित घटनाएं अतिरंजित व प्रेमोद्रेक पूर्ण है। भाषा की दृष्टि से यह काव्य पूर्ण सफल है। विविध छन्दो के प्रयोग, रसो व भावो के चित्रणो से काव्य अत्यन्त रोचक बना है। इस काव्य का रचना समय ११२५ के लगभग है।

जसहरचरिउ

इस काव्य के रचयिता भी पुष्पदन्त हैं। यह एक धार्मिक रोमाटिक कथा-काव्य है। नाटकीय ढंग से कथा का विकास होता है। धार्मिक, दार्शनिक एव आध्यात्मिक उद्देश्यो पर यत्र-तत्र प्रकाश डाला गया है तथापि रोमाटिक प्रवृत्ति में शैथिल्य नही आया है। शैली में उत्तम पुरुष का प्रयोग होने से रचना आत्मीय भाव से ओत प्रोत हैं। प्रवन्ध काव्य के नियमो का पूर्ण पालन हुआ है।

महापुराण

महाकवि पुष्पदन्त की तृतीय कृति महापुराण है। यह उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति है। त्रेसठ-शलाका पुरुषो के जीवन चरित्र लिखने की एक पुरानी जैन परास्परा रही हैं। 'चउप्पन्न महापुरिस चरियं' आचार्य शीलाक की प्राकृत

---

१. श्री महावीर विद्यालय सुवर्णमहोत्सव ग्रन्थ—अपभ्रंश साहित्य-द्वि०-खण्ड पृ० ६६-से-७० तक।

भाषा मे महत्त्वपूर्ण कृति है। त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र आचार्य हेमचन्द्र की संस्कृत भाषा में महत्त्वपूर्ण रचना है। आचार्य-जिनसेन व आचार्य गुणभद्र को भी महापुराण इसी प्रकार की कृति है। उसी परम्परा का अनुसरण महाकवि पुष्पदन्त ने भी प्रस्तुत कृति में किया है। इस महापुराण में १०२ संधियाँ और ६३००० श्लोक हैं। रचना समय १०१६-१०२२ है।

साहित्यिक दृष्टि से भी पुराण का महत्त्व अत्यधिक है। कवित्त्वपूर्ण सरस वर्णन, मधुर संवाद, और गीतो की कोमल लडियाँ महाकाव्य में सर्वत्र बिखरी पड़ी हैं। कवि ने गीतो की संज्ञा धवल गीत दी है। कही-कही पर गीत-साहित्यिक बन गये हैं। भाषा की दृष्टि से यह काव्य अत्युच्च कोटि का है। उपमालंकार का प्रयोग तो द्रष्टव्य है।

भविसयत्तकहा—

इस काव्य कथा के रचयिता धनपाल वैश्य जाति के कवि हैं। उन्होने श्रुत पंचमी के महत्त्व को प्रकट करने हेतु प्रस्तुत कथानक का सृजन किया है। कवि का समय दसवी शताब्दी माना जाता है। प्रस्तुत कथा २२ संधियो में विभक्त है। ग्रन्थ के अनेक प्रकरण तो बड़े ही सुन्दर और रोचक हैं। बालक्रीड़ा, समुद्र यात्रा, नौकाभग, उजाड़ नगर, विमान-यात्रा आदि के वर्णन पठनीय हैं। कवि के समक्ष विमान नही था पर उसने विमान का जो सजीव वर्णन किया है वह कवि की प्रबल प्रतिभा का परिचायक है। अनुभतियो की गहनता व मार्मिकता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है।

डाक्टर हर्मन जैकोबी सन् १९१४ के मार्च में भारत भ्रमणार्थ आये थे। वे अहमदाबाद में एक श्रेष्ठी के यहाँ से भविसयत्तकहा की एक प्रति प्राप्त कर अत्यधिक प्रसन्न हुए। स्वदेश लौटकर मनोयोगपूर्वक उसका सम्पादन किया। उन्होने हरिभद्र के नेमिनाथ चरित के साथ प्रस्तुत ग्रथ की भाषा की दृष्टि से तुलना की और सर्वप्रथम उन्होने हो इस वृहत्काय ग्रन्थ को प्रकाशित करवा कर अपभ्रंश साहित्य का महत्त्व बढाया।

पउमसिरि चरिउ

यह चरित काव्य कवि धाहिल के द्वारा रचित है। इस काव्य में चार संधियाँ हैं। नायिका पद्मश्री पूर्व भव में एक सेठ की पुत्री थी। बालविधवा हो जाने से भ्रातृ पत्नियो के द्वारा संताप देने पर वह धर्म-ध्यान को साधना करती है। फलस्वरूप आयु पूर्ण कर राजकुमारी होती है, पर किसी कारण से पति उसका परित्याग कर देता है। तब संयम-साधना एव आत्म-आराधना कर वह

कैवल्य को प्राप्त करती है। काव्य में इस प्रकार पारिवारिक घटनाओ का चित्रण हुआ है किन्तु कथावस्तु में स्वाभाविकता है। सामाजिक स्थिति की पूरी छाप है; जीवन की व्यावहारिकता काव्य में पूर्ण सजीव है। रचना का मुख्य लक्ष्य है जीवन को धर्म की ओर प्रेरित करना। काव्य में देश-विदेशो का चित्रण, ईर्ष्या भावना का वर्णन, तथा संध्या व प्राकृतिक दृश्यो का बहुत ही सुन्दर वर्णन हुआ है। प्रस्तुत काव्य का रचनाकाल ग्यारहवी सदी का मध्यभाग कहा जा सकता है।

करकंडुचरिउ

इस चरितकाव्य के रचयिता मुनि कनकामर है। इसमें जैन साहित्य की एक प्रसिद्ध कथा है। जैन साहित्य में ही नहीं अपितु बौद्ध साहित्य में भी यह कथा मिलती है। राजा करकडु प्रत्येक वुद्ध हुए है। उन्ही का वर्णन दस सधियो में किया गया है। काव्य में धर्म और प्रेम दोनो का ही प्रतिपादन हुआ है। इतिवृतात्मकता का निर्वाह जैसा चाहिए वैसा नही हो सका है। युद्ध का वर्णन नही जैसा है। सवाद उत्तम हुए हैं। श्मशान का चित्रण, गंगा नदी का वर्णन, एवं रतिवेगा का विलापमय करुण क्रन्दन वस्तुत बहुत ही स्वाभाविक है।

सणंकुमारचरिउ

इस चरित्र-काव्य के कर्ता श्री चन्द के शिष्य हरिभद्र हैं। उन्होने णेमिणाह-चरिउ की रचना की थी जो ग्रन्थ वि० स० १२१६ में पूर्ण हुआ था। प्रस्तुत रचना उसी का एक अंश है। उसी काव्य में से पृथक्कृत ४४३ से ७८५ तक के ३४३ रड्डा छन्दात्मक पद्यो का प्रस्तुत काव्य है, जो डाक्टर हर्मन जैकोबी द्वारा सम्पादित होकर रोमन लिपि में प्रकाशित हुआ है। सामान्य कथानक को भी कवि ने अपनी प्रतिभा की तेजस्विता से अत्यधिक चमकाया है।

जम्बूस्वामीचरिउ

इस चरित काव्य के रचयिता कवि वीर हैं उन्होने वि० सं० १०७६ में यह कृति पूर्ण की। इसमें अजब वैरागी जम्बूकुमार का पावन चरित्र है।

सुदंसणचरिउ

यह काव्य नयनन्दीकृत है। रचना काल वि० सं० ११०० है। श्रेष्ठी सुदर्शन नमस्कार महामत्र के दिव्य प्रभाव से कष्टमुक्त होता है। कितना गजब का है महामंत्र का दिव्य प्रभाव !

पासचरिउ—

यह पद्मकीर्ति द्वारा रचित है। तेवीसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की जीवन-गाथा इससे उट्टङ्कित हुई है। काव्य रचनाकाल वि० सं० ११३४ माना जाता हैं।

श्रीघर का पासणाह चरिउ मिलता है तथा कवि देवदत्त कृत पासणाहचरिउ का रचना सवत् १२७५ है। असवालरचित पासणाहचरिउ सवत् १४७९ की रचना है। देवचन्द्र द्वारा निर्मित-पासणाहचरिउ का लिपि सवत-१४९४ है। पं० रइधू का पासपुराण भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार-भगवान् पार्श्वनाथ पर अपभ्रंश में अनेक काव्य हैं।

सुलोयणा चरिउ

इसके रचयिता देवसेनगणी है। चक्रवर्ती सम्राट् भरत के प्रधान सेनापति जयकुमार की धर्मपत्नी सुलोचना का जीवन चरित्र वर्णित है। यह रचना बारहवी शताब्दी की है।

पज्जुण्ण चरिउ —

यह चरित काव्य कवि सिंह के द्वारा रचित है। कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का जीवन चरित्र है। इसका रचना समय तेरहवी सदो है।

तेरहवी सदी में अन्य अनेक अपभ्रंश भाषा के कवि हुए है। उनके साहित्य की सूची इस प्रकार है :—

अम्बदेव सूरि-समरारास (रचना स० १३७१)
जिनपद्मसूरि—स्थूलभद्रफाग (सं० १३९०)
देल्हण—गयसुकुमालसार (वि० स० १३००)
धनपाल—भविसयत्तकहा (र० सं० १३९३)
प्रज्ञातिलक—कच्छूलिरास (वि० स० १३६३)

पं० रइधू—पउमचरिउ, हरिवशपुराण, आदि पुराण, पास पुराण, सम्मत्त-गुणनिधान, मेहेसचरिउ, जीवंधरचरिउ, जसहरचरिउ, पुण्णासवकहाकोस, धन-कुमारचरिउ, सुकोमलचरिउ, सम्मइजिनचरिउ, सिद्धचक्कनयविहि, वृत्तसार, सिद्धान्तार्थसार, आत्म सम्बोहकव्व, अणथमीकहा, सम्मत्तकउमुदी, करकण्डु-सुदंसणचरिउ, (अनुपलब्ध) दशलक्षणजयमाल, षोडशकारणजयमाल, सम्यक्त्व-भावना, सोहथुदि, जिनदत्त चउपई (र० स० १३५३)।

रत्नप्रभसूरि—अतरग संधि (वि० सं० १३६२)
लाखू (लक्ष्मण)—अणुवयरयणपईव (वि० स० १३१३)
सुमतिगणी—नेमिनाथरास (१३ वी शताब्दी)
जिनचन्दसूरि फाग (सं० १३४१ के लगभग)
आवूरास – (१३ वी शताब्दी)
हरिदेव—मयणपराजयचरिउ।

इस तरह तेरहवी सदी में काव्यो की एक लम्बी परम्परा दिखलाई देती है। शालिभद्रसूरि का 'भरतवाहुवली रास' तेरहवी सदी के रासक ग्रन्थो में सबसे बडा है। इसमें भरत-वाहुवली के युद्ध का विस्तृत वर्णन है, अनेक वंधो में रचना पूर्ण हुई है।

चौदहवी और पन्द्रहवी शताब्दी में भी विपुल साहित्य निर्मित हुआ है, आवश्यकता है उसके अन्वेषण की। पन्द्रहवी सदी की धनपाल रचित बाहुबलि-चरित, लखनदेव रचित णमिणाह चरिउ उल्लेखनीय रचनाएँ हैं[1]।

लघु कथाएँ

चरित काव्यो की तरह अपभ्रंश में लघु कथाए भी लिखी गई हैं। नयनन्दिरचित 'सकलविधिविधानकहा। (वि० सं० ११००) श्री चन्द्रनिर्मित कथाकोष व रत्नकरण्ड शास्त्र, (वि० सं० ११२३), अमरकीर्ति कृत छक्कम्मोवएसु वि० सं० १२४७) लक्ष्मण कृत अणुवय-रयण-पईउ (वि० सं० १३१३ पं० रइधूकृत पुण्णासव कहाकोसो, वालचन्द कृत सुगधदहमीकहा व णिद्दहसत्तमीकहा, विनयचन्द्र कृत णिज्झरपचमी कहा, यश. कीर्ति रचित—जिणरत्ति विहाणकहा, व रविव्रतकहा आदि।[2]

जैसे प्राकृत भाषा में आचार्य हरिभद्र ने 'धूर्ताख्यान' नाम से कथाएँ लिखी हैं वैसे ही अपभ्रंश में भी हरिषेण व श्रुतकीर्ति ने 'धम्मपरिक्खा' नामक ग्रन्थ लिखा है। यह पौराणिक अतिरंजित वातो पर व्यंग्यात्मक आख्यान है।

मुक्तककाव्य

मुक्तक काव्य के निर्माताओ में जोइन्दु (योगीन्द्र) का स्थान विशिष्ट है। इनका समय दसवी शताब्दी है। इनकी चार रचनाएँ मानी जाती हैं—

(१) परमात्म-प्रकाश, (२) योग सार, (३) दोहा प्राभृत और (४) श्रावक धर्म दोहा। इसी प्रकार जिनदत्त सूरि की चर्चरी, कालस्वरूप कुलक और उपदेश-रसायन आदि महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। उनका समय वारहवी सदी है। कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र द्वारा निर्मित सिद्ध हेमशब्दानुशासन में शृङ्गार, वीर, नीति, अन्योक्ति एवं अन्य विषयो के फुटकर दोहे भी मिलते हैं। छन्दो के परिज्ञान के लिए महाकवि स्वयंभूरचित स्वयंभूछन्द एक प्रसिद्ध रचना है।

---

१. श्री महावीर विद्यालय सुवर्ण महोत्सव ग्रन्थ भाग १ पृ० ६६-७०।

२. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० १६४ डाक्टर हीरा-लाल जैन।

इस प्रकार अपभ्रंश जैन साहित्य विपुल और विशद है। वह अनेक रूपो में और अनेक विधाओं में विकसित रूप से प्राप्त होता है। यद्यपि अभी तक अपभ्रंश भाषा का पूरा साहित्य उपलब्ध नहीं हो सका है, विज्ञजन उसकी अन्वेषणा में संलग्न हैं, परन्तु अब तक जितना साहित्य उपलब्ध हुआ है इसका भी ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दृष्टि से कम मूल्य नही हैं। भारतीय भाषा व साहित्य के मूल्यांकन के लिए यह साहित्य पूरक है, उसके विना ऐतिहासिक मूल्यांकन पूर्ण नही हो सकेगा, क्योंकि अपभ्रंश की परम्पराओ और शैली पर ही परवर्ती हिन्दीभाषा का साहित्य और साथ ही अन्य आधुनिक भाषाओ का साहित्य निर्मित और विकसित हुआ है।[1] यह सूर्य के उजाले की तरह स्पष्ट है कि अपभ्रंश साहित्य प्राचीन भारतीय साहित्य और आधुनिक भारतीय साहित्य की मध्यवर्ती कड़ी है। आशा ही नही अपितु दृढ विश्वास है कि भविष्य के शोधकार्य में और भी प्रचुर और नव्य साहित्यिक सामग्री मिलेगी, जिससे अनेक नवीन तथ्य प्रकाश में आवेंगे।

●

१. (क) प्रत्येक आधुनिक आर्यभाषा को अपभ्रंश की स्थिति पार करनी पड़ी है—हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास पृ० १२०, ले० डाक्टर उदयनारायण तिवारी।

(ख) भारतवर्षनी आर्यवर्गनी देश्यभाषाओना विकास क्रमनो जेमणे थोडो पण परिचय छे, तेओ जाणे छे के अपभ्रंश नामे ओलखाती जूनी भाषा, आपणा महान् राष्ट्रमानी वर्तमान गुजराती, मराठी, हिन्दी, पंजाबी, सिन्धी, बंगाली, असमी, उड़िया, विगेरे भारतना पश्चिम उत्तर अने पूर्व भागो मां बोलाती प्रसिद्ध देशभाषाओनी सगी जननी छे।

—पउमसिरि [illegible] प्रास्ताविक पृ० १, मुनि जिनविजय।

४

प्राकृत जैन कथा-साहित्य

कथा-कहानी साहित्य की एक प्रमुख विधा है, जो सबसे अधिक लोकप्रिय और मनोमोहक है। कला के क्षेत्र में कहानी से बढकर अभिव्यक्ति का इतना सुन्दर एवं सरस साधन अन्य नही है। कहानी विश्व की सर्वोत्कृष्ट काव्य की जननी है और संसार का सर्वश्रेष्ठ सरस साहित्य है। कहानी के प्रति मानव का सहज व स्वाभाविक आकर्षण है। फलत जीवन का ऐसा कोई भी क्षेत्र नही जिसमे कहानी की मधुरिमा अभिव्यजित न हुई हो। सच तो यह है कि मानव का जीवन भी एक कहानी है जिसका प्रारम्भ जन्म के साथ होता है और मृत्यु के साथ अवसान होता है। कहानी कहने और सुनने की अभीप्सा मानव में आदिकाल से रही है। वेद, उपनिषद् महाभारत, आगम और त्रिपिटक की हजारो लाखो कहानियाँ इस बात की साक्षी हैं कि मानव कितने चाव से कहानी को कहता व सुनता आया है और उसके माध्यम से धर्म और दर्शन, नीति और सदाचार, बौद्धिक-चतुराई और प्रबल पराक्रम, परिवार और समाज सबंधी गहन समस्याओ को सुन्दर रीति से सुलझाता रहा है।

श्रमण भगवान् महावीर जहाँ धर्म-दर्शन व अध्यात्म के गंभीर प्ररूपक थे, वहाँ एक सफल कथाकार भी थे। वे अपने प्रवचनो में जहाँ दार्शनिक विषयो की गभीर चर्चा-वार्ता करते थे वहाँ लघु रूपको एव कथाओ का भी प्रयोग करते थे। प्राचीन निर्देशिका से परिज्ञात होता है कि नायाधम्म कहा में किसी समय भगवान् महावीर द्वारा कथित हजारो रूपक व कथाओ का संकलन था।[1] इसी प्रकार उत्तराध्ययन, विपाक आदि में भी विपुल कथाएँ थी। मूलप्रथमानुयोग और गडिकानुयोग भी धर्म कथा के एक विशिष्ट व महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ थे। उनका सक्षिप्त परिचय समवायांग व नन्दीसूत्र मे इस प्रकार है :—

दृष्टिवाद का एक विभाग अनुयोग है। उसके दो भेद है—मूल प्रथमानुयोग और गंडिकानुयोग। मूल प्रथमानुयोग में अरिहंत भगवन्तो के पूर्वभव, च्यवन, जन्म, जन्माभिषेक, राज्यप्राप्ति, दीक्षा-तपस्या, केवलज्ञान, धर्म-प्रवर्तन, संहनन, संस्थान, ऊँचाई, आयुष्य, शरीर के वर्णन, शिष्यसमुदाय, गणधरो, साध्वियो,

---

१ नन्दीसूत्र –सूत्र ५, पृ० १२८, पू० हस्तीमल जी म० सम्पादित।

प्रवर्तिनियो की संख्या, चतुर्विध संघ के सदस्यो की संख्या, केवलज्ञानी, मन पर्यवज्ञानी, अवधीज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, वादी, अनुत्तर विमानगामी तथा सिद्धो की सख्या एवं वे अन्त में कितने उपवास करके मोक्ष गये आदि भावो का वर्णन है।

गडिकानुयोग क्या है ? गडिकानुयोग भी अनेक प्रकार का है। कुलकर-गडिकाएँ, तीर्थङ्करगडिकाएँ, चक्रवर्तीगडिकाएँ, दशारगडिकाएँ, वासुदेवगडिकाएँ, हरिवंशगडिकाएँ, भद्रबाहुगडिकाएँ, तप.कर्मगडिकाएँ, चित्रातरगडिकाएँ, उत्सर्पिणीगडिकाएँ, अवसर्पिणीगंडिकाएँ, देव, मनुष्य तिर्यञ्च और नरक आदि से सम्बन्वित गडिकाएँ आदि।[1]

मूलप्रथमानुयोग और गडिकानुयोग बारहवें दृष्टिवाद के अतर्गत थे। वह अंग विच्छिन्न हो चुका है, अत ये अनुयोग भी आज अप्राप्य हैं। मूलप्रथमा-नुयोग स्थविर आर्यकालक के समय भी प्राप्त नही था जो राजा शालिवाहन के समकालीन थे, अत आर्यकालक ने मूलप्रथानुयोग मे से जो इतिवृत्त प्राप्त

---

१ से किं तं अणुओगे ? अणुओगे दुविहे पण्णत्ते, त जहा—मूलपढमाणु-ओगे य गडियाणुओगे य। से किं त मूलपढमाणुओगे ? एत्थ ण अरहताण भगवताण पुव्वभवा देवलोगगमणाणि चवणाणि य जम्मणाणि य अभिसेया रायवरसिरीओ सीयाओ पव्वज्जाओ तवा य भत्ता केवलणाणुप्पाया य तित्थप्पवत्तणाणि य सघयण संठाण उच्चत्त आउं वन्नविभागो सीसा गणा गणहरा य अज्जा पवत्तणीओ संघस्स चउव्विहस्स वा वि परिमाणं जिण-मणपज्जवओहिनाण-सम्मत्तसुय-नाणिणो य वाई अणुत्तरगई य जत्तिया य सिद्धा पाओवगया य जे जहिं जत्तियाइं भत्ताइं छेयइत्ता अंतगडा मुणिवरुत्तमा तमरओघविप्प-मुक्का सिद्धिपहमणुत्तरं च संपत्ता एए अन्ने य एवमाइया भावा मूल-पढमाणुओगे कहिया आघविज्जति परूविज्जति, से त्तं मूलपढमाणुओगे।
से किं त गडियाणुओगे ? अणेगविहे पण्णत्ते, तं जहा कुलगरगडियाओ तित्थगरगंडियाओ चक्कहरगडियाओ, दसारगंडियाओ वासुदेवगडि-याओ, हरिवंसगंडियाओ भद्दबाहुगडियाओ तवोकम्मगडियाओ चित्तं-तरगंडियाओ उस्सप्पिणीगंडियाओ ओसप्पिणीगडियाओ अमर-नर-तिरिय-निरयग-इगमणविविहपरियट्टणाणुओगे, एवमाइयाओ गडियाओ आघविज्जति पण्णविज्जति परूविज्जंति, से त्तं गडियाणुओगे।

—समवायाग सूत्र १४७।

(ख) नन्दीसूत्र सू० ५६, पृ० १५१–१५२, वही।

हुआ उसके आधार से नवीन प्रथमानुयोग का निर्माण किया।[१] वसुदेव हिंडी[२] आवश्यक चूर्णि[३], आवश्यक सूत्र[४] और अनुयोगद्वार की हारिभद्रीय वृत्ति[५] में जो प्रथमानुयोग का उल्लेख हुआ है, वह आर्यकालिक रचित प्रथमानुयोग का होना चाहिए और आवश्यक निर्युक्ति[६] में प्रथमानुयोग का जो उल्लेख हुआ है वह मूल प्रथमानुयोग का होना चाहिए ऐसा आगम प्रभावक पं० पुण्यविजय जी का मानना है।[७] पर अत्यन्त परिताप है कि आर्यकालक रचित प्रथमानुयोग भी आज प्राप्त नही है। एतदर्थ भाषा शैली, वर्णन-पद्धति, छन्द और विषय आदि की दृष्टि से उसमें क्या-क्या विशेषताएँ थी, यह स्पष्ट रूप से नही कहा जा सकता। अनुयोग की हारिभद्रीय वृत्ति में पञ्च महामेघो के वर्णन को जानने के लिए प्रथमानुयोग का निर्देश किया है।[८] जिससे संभव है उसमें अन्य

---

१ णट्ठम्मि उ सुत्तम्मी अट्ठम्मि अणट्ठे ताहे सो कुणइ।
लोगणुजोग च तहा पढमणुजोगं च दोऽवेए॥
वहुहा निमित्त तहियं पढमणुजोगे य होति चरियाइं।
जिण-चक्कि-दसाराण पुव्वभवाइं निवद्धाइं॥

—पचकल्प महाभाष्य गा० १५४५–४६।

२. तत्थ ताव सुहम्मसामिणा जंवूनामस्स पढमाणुओगे तित्थयरचक्कवट्टि-दसारवंसपरूवणागय वसुदेवचरियं कहियं ति।

—वसुदेवहिंडी—प्रथमखंड पत्र २।

३. एतं सव्वं गाहाहिं जहा पढमाणुओगे तहेव इहइं पि वन्निज्जति वित्थरतो। —आवश्यक चूर्णि भाग १ पत्र १६०।

४ पूर्वभवा: खल्वमीषां प्रथमानुयोगतोऽवसेया:।

—आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति पत्र १११–२।

५ अनुयोगद्वार हारिभद्री वृत्ति पत्र–८०।

६. परिआओ पव्वज्जाभावाओ नत्थि वासुदेवाणं।
होइ वलाणं सो पुण पढमाणुओगाओ णायव्वो॥

—आवश्यक निर्युक्ति गाथा-४१२

७. प्रथमानुयोगशास्त्र अने तेना प्रणेता स्थविर आर्यकालक लेख आचार्य विजयवल्लभसूरि स्मारक ग्रंथ पृ० ५२, लेखक पुण्यविजय जी म०।

८ तत्र पुष्कलसवर्त्तोऽस्य भरतक्षेत्रस्य अशुभभावं पुष्कलं संवर्त्तयति नाशयतीत्यर्थ। एवं शेषनियोगोऽपि प्रथमानुयोगानुसारतो विज्ञेय.।

—अनुयोग द्वार हरिभद्रीय वृत्ति पत्र ८०

भी अनेक वृत्त होगे। आर्यकालक रचित प्रथमानुयोग के आधार से ही भद्रेश्वर-सूरि ने कहावली, आचार्य शीलाक ने चउपण्णमहापुरिसचरियं और आचार्य हेमचन्द्र ने त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित की रचना की, ऐसा माना जाता है।

आर्य रक्षित ने अनुयोगो के आधार पर आगमो को चार भागो में विभक्त किया था। उसमें धर्मकथानुयोग भी एक विभाग था।[1] दिगम्बर साहित्य में धर्म कथानुयोग को ही प्रथमानुयोग कहा है। प्रथमानुयोग में क्या क्या वर्णन है, उसका भी उन्होने निर्देश किया है।[2]

बताया जा चुका है कि महावीर सफल कथाकार थे। उनके द्वारा कही गई कथाएँ आज भी आगम-साहित्य में उपलब्ध होती हैं। कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं जो भिन्न नामो से या रूपान्तर से वैदिक व बौद्ध साहित्य में ही उपलब्ध नही होती अपितु विदेशी साहित्य में भी मिलती है। उदाहरणार्थ—ज्ञाताधर्म कथा की ७ वी चावल के पाँच दानें वाली कथा कुछ रूपान्तर के साथ बौद्धो के सर्वास्तिवाद के विनयवस्तु तथा बाइविल[3] में भी प्राप्त होती है। इसी प्रकार जिनपाल और जिनरक्षित[4] की कहानी वलाहस्स जातक[5] व दिव्यावदान में नामो के हेर फेर के साथ कही गई है। उत्तराध्ययन के वारहवें अध्ययन हरि-केशबल की कथावस्तु मातङ्ग जातक[6] में मिलती है। तेरहवें अध्ययन चित्र-

---

१. देखे आगम साहित्य एक पर्यवेक्षण का ५१ वाँ टिप्पण।

२. पढमं मिच्छादिट्ठि अव्वदिकं आसिदूण पडिवज्जं।
अणुयोगो अहियारो वुत्तो पढमाणुयोगो सो॥
चउवीस तित्थयरा पइणो वारह छखडभरहस्स।
णव बलदेवा किण्हा णव पडिसत्तू पुराणाइ॥
तेसिं वण्णंति पिया माई णयराणि तिण्ह पुव्वभवे।
पंचसहस्सपयाणि य जत्थ हु सो होदि अहियारो॥

—अंगपण्णत्ती—द्वितीय अधिकार गा० ३५-३७
दिगम्बर आचार्य शुभचन्द्र प्रणीत।

(ख) तित्थयर चक्कवट्टी वलदेवा वासुदेव पडिसत्तू।
पंचसहस्सपयाणं एस कहा पढमअणिओगो।

—श्रुतस्कंध – गा० ३१ आचार्य ब्रह्महेमचन्द।

३. सेंट मेंथ्यू की सुवार्ता २५, सेंट ल्युक की सुवार्ता १९।

४. ज्ञाता धर्मकथा ९।

५ वलाहस्स जातक पृ० १९६।

६ जातक (चतुर्थखण्ड) ४९७ मातङ्ग जातक पृ० ५८३-९७।

संभूत की कथावस्तु चित्तसंभूत जातक[1] में प्राप्त होती है। चौदहवें अध्ययन इषुकार की कथा हत्थिपाल जातक[2] व महाभारत के शान्तिपर्व[3] में उपलब्ध होती है। उत्तराध्ययन के नौवें अध्ययन 'नमि प्रव्रज्या' की आंशिक तुलना महाजन जातक[4] तथा महाभारत के शान्ति पर्व[5] से होती है। इस प्रकार महावीर के कथा साहित्य का अनुशीलन परिशीलन करने से स्पष्ट परिज्ञात होता है कि ये कथा कहानिया आदिकाल से ही एक सम्प्रदाय से दूसरे सम्प्रदाय में एक देश से दूसरे देश में यात्रा करती रही है। कहानियो की यह विश्वयात्रा उनके शाश्वत और सुन्दर रूप की साक्षी दे रही हैं, जिस पर सदा ही जन-मानस मुग्ध होता रहा है।

मूल आगम साहित्य मे कथा-साहित्य का वर्गीकरण अर्थकथा, धर्मकथा और कामकथा के रूप में[6] किया गया है। परवर्ती साहित्य में विषय, पात्र, शैली और भाषा की दृष्टि से भेद प्रभेद किये गये हैं।

आचार्य हरिभद्र ने विषय की दृष्टि से अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा और मिश्रकथा, ये चार भेद किये हैं[7]।

विद्यादि द्वारा अर्थ प्राप्त करने की जो कथा है, वह अर्थ कथा है।[8] जिस शृङ्गारपूर्ण वर्णन को श्रवण कर हृदय में विकार भावनाएँ उद्बुद्ध हो वह

---

१ जातक (चतुर्थखण्ड) ४९८ चित्तसंभूत जातक पृ० ५९८-६०८।

२. हत्थिपाल जातक ५०९।

३. शान्तिपर्व अध्याय १७५ एवं २७७।

४. महाजन जातक, ५३९, तथा सोनक जातक सं० ५२९।

५ महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय १७८ एवं २७६।

६. तिविहा कहा पणत्ता तं जहा--अत्थकहा, धम्मकहा कामकहा।

--ठाणाग ३ ठाणा सूत्र १८९

७. (क) अत्थकहा कामकहा धम्मकहा चेव मीसिया य कहा।
एत्तो एक्केक्कावि य णेगविहा होइ नायव्वा॥

—दशवैकालिक हारिभद्रीय वृत्ति गा० १८८ पृ० २१२

(ख) एत्थ सामन्नओ चत्तारि कहाओ हवंति। तं जहा—अत्थकहा, कामकहा, धम्मकहा, सकिण्णकहा य।

—समराच्चकहा, याकोबी संस्करण पृ० २।

८ विद्यादिभिरर्थस्तत्प्रधाना कथा अर्थकथा।

—अभिधान राजेन्द्रकोष भाग–३, पृ० ४०२।

काम कथा है[1] और जिससे अर्थ व काम दोनो भावनाएं जागृत हों, वह मिश्र कथा है। ये तीनो प्रकार की कथाएं आध्यात्मिक अर्थात् संयमी जीवन को दूषित करने वाली होने से विकथा हैं।[2] विकथा के स्त्री कथा, भक्त कथा, देश कथा और राजकथा ये चार भेद और भी मिलते हैं।[3]

जैन श्रमण के लिए विकथा करने का निषेध किया गया है। उसे वही कथा करनी चाहिये जिसको श्रवण कर श्रोता के अन्तर्मानस में वैराग्य का पयोधि उछालें मारने लगे, विकार भावनाएं नष्ट हो एवं संयम की भावनाएं जागृत हो।[4] तप संयमरूपी सद्गुणो को धारण करने वाले, परमार्थी महापुरुषों की कथा, जो सम्पूर्ण जीवो का हित करने वाली है, वह धर्म कथा कहलाती है।[5]

पात्रों के आधार से दिव्य, मानुष और दिव्य मानुष, ये तीन भेद कथा के किये गये है। जिन कथाओ में दिव्य लोक में रहने वाले देवो के क्रिया-कलापो का चित्रण हो और उसी के आधार से कथा वस्तु का निर्माण हो, वे दिव्य कथाएं है। मानुष कथा के पात्र मानव लोक मे रहते हैं। उनके चरित्र में मानवता का पूर्ण सजीव चित्रण होता है। कथा के पात्र मानवता के प्रतिनिधि होते हैं। किसी-किसी मानुष कथा में ऐसे मनुष्यो का चित्रण भी होता है जिनका चरित्र उपादेय नही होता। दिव्य मानुषी कथा अत्यन्त सुन्दर कथा होती है। कथानक का गुफन कलात्मक होता है। चरित्र और घटना,

---

१. सिंगारसुत्तइया, मोहकुवियफुंफुगाहसहसिं ति।
जं सुणमाणस्स कहं, समणेण ना सा कहेयव्वा ॥ २१८
—अभिधान राजेन्द्र कोष

२ जो संजओ पमत्तो, रागद्दोसवसगओ परिकहेइ।
सा उ विकहा पवयणे, पणत्ता धीरपुरिसेहिं ॥ २१७ वही
(ख) विरुद्धा विनष्टा वा कथा विकथा। —आचार्य हरिभद्र

३ पडिक्कमामि चउहिं विकहाहिं—इत्थी कहाए, भत्तकहाए, देश कहाए, रायकहाए। —आवश्यक सूत्र

४. समणेण कहेयव्वा, तव नियम कहा विरागसंजुत्ता।
जं सोऊण मणूसो, वच्चइ सवेगाणिव्वेयं ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष भा० ३ पृ० ४०२ गा० २१९

५. तवसंजमगुणधारी, चरणरया कहिंति सब्भावं।
सव्वजगजीवहियं सा उ कहा देसिया समए ॥
अभिधान राजेन्द्र कोष गा० २१६ पृ० ४०२ भा० ३

परिस्थितियो का विशद व मार्मिक चित्रण, हास्य—व्यंग्य आदि मनोविनोद, सौन्दर्य के विभिन्न रूप, इस कथा में एक साथ रहते है।[१] इसमें देव और मनुष्य के चरित्र का मिश्रित वर्णन होता है।

शैली की दृष्टि से सकलकथा, खण्डकथा, उल्लापकथा, परिहासकथा, और संकीर्णकथा ये पाँच भेद किये गये है।[२] सकलकथा में चारो पुरुषार्थ, नौ रस, आदर्श चरित्र और जन्म जन्मान्तरो के सस्कारो का वर्णन रहता है।[३] जैनकथा साहित्य गुण और परिणाम दोनो ही दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है। जन-जीवन का पूर्णतया चित्रण उसमें किया गया है।

आगम साहित्य में वीज रूप से कथाएं मिलती है तो निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका साहित्य मे उसका पूर्ण निखार दृष्टिगोचर होता है। हजारो लघु व वृहद्कथाएं उनमें आयी है। आगमकालीन कथाओ की यह महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि उसमें उपमाओ और दृष्टान्तो का अवलम्बन लेकर जन-जीवन को धर्म-सिद्धान्तो की ओर अधिकाधिक आकर्षित किया गया है। उन कथाओ की उत्पत्ति उपमान, रूपक और प्रतीको के आधार से हुई है। यह सत्य है कि आगम कालीन कथाओ में सक्षेप करने के लिए यत्र-तत्र 'वण्णओ' के रूप मे सक्केत किया गया है जिससे कथा को पढते समय उसके वर्णन की समग्रता का जो आनन्द आना चाहिए, उसमे कमी रह जाती है। व्याख्या साहित्य में यह प्रवृत्ति नही अपनायी गई। कथाओ मे जहाँ आगम साहित्य में केवल धार्मिक भावना की प्रधानता थी, वहाँ व्याख्यासाहित्य मे साहित्यिकता भी अपनायी गई। एक रूपता के स्थान पर विविधता और नवीनता का प्रयोग किया जाने

---

१. दिव्वं, दिव्वमाणुसं, माणुसं च। तत्थ दिव्य नाम जत्थ केवलमेव देवचरिअ वण्णिज्जइ। —समराइच्च कहा-याकोवी सस्करण पृ० २

(ख) तं जहा दिव्य-माणुसी तहच्चेय —लीलावई गा० ३५

(ग) एमेय मुद्ध जुयई मणोहरं पय्ययाए भासाए।
पविरलदेसिसुलक्खं कहसु कहं दिव्व माणुसियं॥
—लीलावई गा० ४१ पृ० ११

२ ताओ पुण पंचकहाओ। तं जहा—सयलकहा खडकहा, उल्लावकहा, परिहासकहा, तहावरा कहिय त्ति सकिण्ण कहत्ति।
—कुवलयमाला पृ० ४, अनुच्छेद ७

३. समस्तफलान्तेति वृत्तवर्णना समरादित्यवत् सकलकथा।
— हैम काव्य शब्दानुशासन ५।१। पृ० ४६५।

लगा। पात्र विषय, प्रवृत्ति, वातावरण, उद्देश्य, रूपगठन, एवं नीतिसश्लेष प्रभृति सभी दृष्टियो से आगमिक कथाओ की अपेक्षा व्याख्यासाहित्य की कथाओ में विशेषता व नवीनता आयी है। आगमकालीन कथाओ मे धार्मिकता का पुट अधिक आ जाने से मनोरजन व कुतूहल का प्राय. अभाव था किन्तु व्याख्या साहित्य की कथाओ में यह बात नही है। आगमयुग की कथाएं चरित्र प्रधान होने से विशेष विस्तार वाली होती थी पर व्याख्या साहित्य की कथाएं सक्षिप्त। ऐतिहासिक, अर्द्धऐतिहासिक, पौराणिक सभी प्रकार की कथाए हैं।

वसुदेव हिंडी चरितात्मक कथा ग्रन्थ है। यह दो खण्डो में विभक्त है। प्रथम खण्ड के कर्ता सघदास गणी वाचक है और द्वितीय खण्ड के निर्माता धर्मसेनगणी है। प्रथम खण्ड २९ लंभको में पूर्ण हुआ है और द्वितीय खण्ड ७१ लम्भको में। 'वृहत्कथा' के समान यह ग्रन्थ भी कथाओ का कोप है। जैसे सस्कृत साहित्य में वृहत्कथा—महाभारत और रामायण का उपजीव्य काव्य माना गया है वैसे ही प्राकृत साहित्य में वसुदेव हिंडी उपजीव्य है।

विमलसूरि का पउमचरिय, और हरिवंसचरिय, शीलांकाचार्य का चउप्पण्ण महापुरिसचरिय, गुणपालमुनि का जम्बूचरिय, धनेश्वर का सुरसुन्दरीचरियं, नेमिचन्द्र का रयणचूडरायचरिय, गुणचन्द्रगणि का पासनाहचरियं, और महावीरचरिय, देवेन्द्र सूरि का सुदसणचरिय और कण्हचरिय, मानतुंग सूरि का जयन्तीप्रकरण, चन्द्रप्रभमहत्तरि का चन्दकेवली चरिय, देवचन्द्रसूरि का संतिनाहचरिय, शान्तिसूरि का पुहवीचन्दचरिय, मलधारी हेमचन्द्र का नेमिनाहचरिय, श्रीचन्द्र का मुणिसुव्वयसामिचरिय, देवेन्द्रसूरि के शिष्य श्रीचन्द्रसूरि का सणकुमारचरिय, सोमप्रभसूरि का सुमतिनाहचरिय, नेमिचन्द्रसूरि का अनन्तनाहचरिय एव रत्नप्रभ का नेमिनाहचरिय प्रसिद्ध चरितात्मक काव्य ग्रन्थ है।[1] इनमें कथा और आख्यानिका का अपूर्व समिश्रण हुआ है। इनमें वुद्धिमाहात्म्य, लौकिक आचार-विचार, सामाजिक परिस्थिति और राजनैतिक वातावरण का सुन्दर चित्रण हुआ है। इन चरित ग्रन्थो मे 'कथारस' की अपेक्षा 'चरित' की ही प्रधानता है।

प्राकृत साहित्य में विशुद्ध कथा साहित्य का प्रारम्भ तरंगवती से होता है। विक्रम की तीसरी शती में पादलिप्त सूरि ने प्रस्तुत कथा का प्रणयन किया। तरंगवती का अपर नाम तरंगलीला भी है। यह कथा उत्तमपुरुप में वर्णित है। करुणा, शृंगार और शान्तरस की त्रिवेणी इसमें एक साथ प्रवाहित हुई हैं।

इसी प्रकार की दूसरी कृति आचार्य हरिभद्र की समराइच्चकहा है। इस कथा में प्रतिशोध-भावना का बडा ही हृदयग्राही चित्रण किया गया है।

१. मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ, खण्ड ४ पृ १९४ से उद्धृत।

अग्निशर्मा के मन में तीव्र घृणा की भावना जागृत होती है और वह गुणसेन के प्रति निदान करता है। वह निदान नौ भवो तक चलता है। नायक की भावना उत्तरोत्तर विशुद्ध से विशुद्धतर होती जाती है और प्रतिनायक की भावना अविशुद्ध। नायक विशुद्ध भावना से मुक्ति को वरण करता है और प्रतिनायक जन्म-मरण की अभिवृद्धि करता है। कथा का गठन सुन्दर व कुतूहलपूर्ण है।

धूर्ताख्यान भी हरिभद्रसूरि की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। भारतीय कथा-साहित्य में लाक्षणिक शैली में लिखी गई इस कृति का स्थान मूर्धन्य है। इस प्रकार की व्यंग्यप्रधान अन्य रचनाएँ दृष्टिगोचर नही होती।

कुवलयमाला हरिभद्रसूरि के शिष्य उद्योतनसूरि के द्वारा रचित है। क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह इन विकारों का दुष्परिणाम बतलाने के लिए अनेक अवान्तर कथाओ के द्वारा विषय का निरूपण किया गया है। कदली-स्तम्भ सदृश कथाजाल संगठित है। कथा रस और काव्यात्मकता दोनो का सुन्दर मिश्रण हुआ है। सवाद बडे ही दिलचस्प है और साथ ही अलंकृत पदो की रमणीयता से युक्त हैं। इसका रचनाकाल शक सं० ७०० में एक दिन न्यून है।[१]

कथाकोष-प्रकरण—इसके रचयिता जिनेश्वरसूरि है। मूलग्रन्थ में ३० कथाएँ हैं। कथाओ में चमत्कार प्रदर्शित किया गया है।

संवेगरंगशाला जिनचन्द्र रचित रूपक कथा है। संवेग भाव के निरूपण हेतु अनेक कथाएं इसमें गुम्फित की गई है।

कहारयणकोस के रचयिता देवभद्र और गुणभद्र है। इसमें ५० कथाएँ हैं, सभी कथाएं रोचक हैं, जातिवाद का निरसन कर मानवीय गुणो का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। आदर्श गृहस्थ जीवन जीने की प्रेरणा दी गई है। तात्विक विषयो को भी कथा के माध्यम से सरस बनाया गया है।

आख्यानमणिकोश के निर्माता नेमिचन्द्रसूरि है। इसमें ४१ अधिकार है और १२७ आख्यान हैं। इस पर आम्रदेव सूरि ने ई० सन् ११३४ में एक टीका भी लिखी थी। अनेक लघु कथाएं इस सग्रह में है, पात्र पौराणिक, ऐतिहासिक और अर्धऐतिहासिक सभी प्रकार के हैं। कथाओ में उनके मानसिक द्वन्द्वो का व जीवन के उत्कर्ष-अपकर्ष का सुन्दर चित्रण हुआ है।

जिनदत्ताख्यान की कथा का प्रणयन आचार्य सुमतिसूरि ने किया है। कथा अत्यन्त रसप्रद है। इसमें जीवन के आनन्द और विषाद का, सुन्दरता और

---

१. कुवलयमाला पृ. २८२ अनु. ४३०।

कुरूपता का, शक्ति और दुर्बलता का—जीवन के विविध पक्षो का मार्मिक चित्रण किया गया है। नायक का चरित्र, उदारता, सहृदयता एवं निष्पक्षता का प्रतीक है।

नर्मदासुन्दरी के रचयिता महेन्द्रसूरि हैं। उन्होने प्रस्तुत कथा की रचना ११८७ में की थी। कथा सम्यक् प्रकार से गठी हुई है। कुतूहल आदि से अन्त तक बना रहता है। महेश्वरदत्त का नर्मदासुन्दरो के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उससे विवाह करना, फिर किसी आशंका से उसका परित्याग कर देना, हरिणी वेश्या के अत्याचार के बावजूद नर्मदा का शोल में दृढ़ रहना और बुद्धि चातुर्य से किसी प्रकार बब्बर के राजा के चंगुल से मुक्त होना आदि घटनाएं कथा में अत्यन्त रोचकता उत्पन्न करती हैं।

कुमारपालप्रतिबोध—यह सोमप्रभसूरि द्वारा रचित कथा कोष है। इसमें ४५ कथाएँ हैं। ग्रन्थ का प्रणयन विक्रम सं० १२४१ में हुआ है। राजा कुमार-पाल को प्रतिबोध देने हेतु अहिंसादि व्रतो से सम्बन्धित कथाएँ लिखी हैं जो रोचक, सरस मनोरंजक और चित्ताकर्षक है। मूलदेव की कथा, नलदमयन्ता की कथा, शीलवती की कथा आदि कथाएँ बड़ो महत्त्वपूर्ण हैं। चरित्रोत्थान के लिए ये कथाएं सुन्दर प्रेरणाए देती हैं।

प्राकृतकथा संग्रह-यह बारह कथाओ का सुन्दर संग्रह है। लेखक का नाम अभी तक ज्ञात नही हो सका है। दान, शील, तप, भावना, सम्यक्त्व, नमस्कार महामन्त्र प्रभृति विषयो का कथा के माध्यम से विश्लेषण किया गया है। मानवीय भावनाओ का सरस व सूक्ष्म चित्रण किया गया है। जैसे —एक कृपण श्रेष्ठि है पास में अपार सम्पत्ति है, पर कृपणता के कारण पुत्र को पान खाते देखकर अत्यधिक दु खी होता है। पुत्र उत्पन्न होने पर पत्नी को भोजन देने में भी कंजूसी करता है।

सिरिवाल कहा का संकलन रत्नशेखर सूरि ने किया है। संकलन समय विक्रम स० १४२८ है।[1] आधुनिक उपन्यास के सभी गुण प्रस्तुत कथानक में विद्यमान हैं। पात्रो के चरित्र का उत्थान और पतन, कथा में अनेक तरह के मोड, सरसता एवं मनोरंजकता आदि सभी गुण उसमें हैं। जो पात्र सद्गुणो

---

१. सिरिवज्जसेण गणहरपट्टपहूहेमतिलयसूरीण।
   सीसेहिं रयणसेहरसूरीहि इमाहु संकलिया॥
   चउदस अट्ठावीसो ·· ·················· ···।

—सिरिवाल कहा प्रशस्ति

को स्वीकार करते है उनका शुक्लपक्ष के चन्द्र की तरह विकास होता है और जो दुर्गुणो से, वासनाओ से ग्रसित होते है उनका विनाश होता है। सिद्धचक्र के माहात्म्य को प्रदर्शित करने के लिए कथा का गुम्फन किया गया है जो पूर्ण रीति से सफल हुआ है।

रयणसेहर निवकहा—(रत्नशेखर नृपति कथा) के रचयिता जिनहर्ष सूरि है। विक्रम स० १४८७ में उन्होने प्रस्तुत कृति का प्रणयन किया। जायसी के पद्मावत की कथा का मूल यही कथा है। यह एक प्रेम कथा होने पर भी लेखक ने प्रेम का वासनात्मक रूप नही, पर प्रेम का विशुद्ध व उदात्तरूप उपस्थित किया है। राग का उदात्तीकरण ही विराग है। मूल कथा के साथ प्रासगिक कथाएं भी अनेक आयी हैं। कथा-शिल्प की दृष्टि से प्रस्तुत कथानक पूर्ण सफल है। दैवी चामत्कारिक घटनाएं व अतिमानवीय तत्त्वो के आधिक्य से कथा में कुतूहल के साथ प्रभावोत्पादकता भी है।

इन कथाओ के अतिरिक्त प्राकृत भाषा मे और भी अनेक कथाओ के संग्रह है। सघतिलक सूरि ने अनेक कथाओ का प्रणयन किया है—आराम सोहाकहा, पैडिअवणवालकहा, पुप्फचूलकहा, आरोग्गदुजकहा, रोहगुत्तकहा, वज्जकण्णनिव-कहा, सुहजकहा आदि।

उपदेशप्रधान कथाओ के संग्रह भी अनेक है। धर्मदासगणि निर्मित उपदेश-माला, हरिभद्रसूरि रचित उपदेश पद, जयसिंहसूरि कृत धर्मोपदेशमाला, मल-धारी हेमचन्द्र कृत उपदेशमाला, मुनि सुन्दर रचित उपदेश रत्नाकर आदि प्रमुख कृतियाँ है। उपदेशप्रद कथाओ में उपदेश की प्रधानता है। अन्य विषय गौण है।

हिन्दी और अपभ्रश साहित्य में प्रेमाख्यान का जो विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है, उसके बीज प्राकृत कथा साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे पडे है। यद्यपि प्राकृत कथाएं धर्म कथा के रूप मे ही प्रमुख रही हैं तथादि उन कथाओ में प्रसगवश मदनमहोत्सव, वसन्तमहोत्सव, प्रेमपत्र, प्रेमानुराग प्रभृति प्रसंगो पर जो मानसिक भावों का श्रृंगार प्रधान चित्रण हुआ है वही चित्रण प्रेमाख्यान का मूल बीज है जो वट वृक्ष सदृश वहाँ विकसित हुआ है।

प्राकृत कथा साहित्य का कथोत्थप्ररोह भी प्रेक्षणीय प्याज के छिलको के समान एक छिलके के पश्चात् दूसरा छिलका जैसे निकलता रहता है, वैसे ही प्राकृत-कथाओ में एक कथा से दूसरी कथा निकलती रहती है, जो कथा-शिल्प की दृष्टि से एक सुन्दर योजना है।

चम्पूविधा का विकास भी प्राकृत कथा साहित्य से ही हुआ है। कथाओं को सरस बनाने की दृष्टि से प्राकृत-कथाओ में गद्य और पद्य दोनो का प्रयोग होता है। पद्य भावना का प्रतीक है तो गद्य विचारो का प्रतीक है। भावना का सम्बन्ध हृदय से है और विचारो का सम्बन्ध मस्तिष्क से है, अतः कथाकारो ने गद्य के साथ पद्य का प्रयोग किया और पद्य के साथ गद्य का। समराइच्च-कहा और कुवलयमाला इसी प्रकार की रचनाएं हैं। दण्डी ने गद्य-पद्य मिश्रित जो चम्पू की परिभाषा दी वह तो प्राकृत-कथा साहित्य में पूर्व ही विद्यमान थी। अत सस्कृत भाषा में जो चम्पूविधा का विकास हुआ है, उस विधा का मूलस्रोत प्राकृत-कथाएं ही है।

भारतीय साहित्य में प्राकृत कथासाहित्य ही लोक कथा का आदि स्रोत है। वसुदेव हिण्डी में लोक कथाओ का मूल रूप मिलता है। गुणाढ्य रचित वृहत्कथा तो लोककथाओ का एक प्रकार से विश्वकोप है। लोक कथाओ के आधार से ही प्राकृत-कथा लेखको ने धर्मकथाए निर्मित की है। पालि-कथा साहित्य में पूर्व जन्म कथा का मुख्य भाग रहता है जब कि प्राकृत में गौण रहता है। पालि-कथाओ मे बोधिसत्व ही मुख्य पात्र है और सभी कथाओ का उपसंहार उपदेश रूप में होता है। जब कि प्राकृत-कथाओ में यह बात नही है। पालि-कथाओ में एक ही शैली है जब कि प्राकृत-कथाओ मे विभिन्न शैलियाँ हैं। पालि-कथाओ में पात्रो को सीधा ही नैतिक धार्मिक बताया जाता है किन्तु प्राकृत कथाओ में कथोपकथन, शीलनिरूपण आदि के द्वारा उसके चरित्र को बताया जाता है। पहले उसके जीवन की विकृतियो को बताकर बाद मे लम्बे संघर्ष के पश्चात् किस प्रकार वह अपने जीवन को निखारता है, यह बताया जाता है। सिद्धान्त की स्थापना भी उस समय की जाती है।

प्राकृत कथाओ की विशेषताओ से प्रभावित होकर प्रो० हर्टेल ने लिखा है—"कहानी कहने की कला की विशिष्टता प्राकृत कथाओ में पायी जाती है। ये कहानियाँ भारत के भिन्न-भिन्न वर्ग के लोगो के रस्म, रिवाज को पूर्ण सचाई के साथ अभिव्यक्त करती हैं। ये कथाए जन साधारण की शिक्षा का उद्गम स्थान ही नही है वरन् भारतीय सभ्यता का इतिहास भी हैं।"[१]

विण्टरनित्स ने भी प्राकृत-कथा-साहित्य का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है—प्राकृत का कथा साहित्य वस्तुत विशाल है। इसका महत्त्व केवल तुलनात्मक परिकथा साहित्य के विद्यार्थी के लिए ही नही है बल्कि साहित्य की

---

१. आन दी लिटरेचर आफ दी श्वेताम्बरास् आफ गुजरात पृ० ८।

अन्य शाखाओं की अपेक्षा हमें इसमे जनसाधारण के वास्तविक जीवन को झाकिया भी मिलती है। जैसे इन कथाओ की भाषा और जनता की भाषा में अनेक साम्य है वैसे उनका वर्ण्य विषय भी विभिन्न वर्गों के वास्तविक जीवन का चित्र हमारे सामने उपस्थित करता है। केवल राजा और पुरोहितों का जीवन ही इस कथा साहित्य में चित्रित नही है अपितु साधारण व्यक्तियो का जीवन भी अंकित है।[१]

भारतीय संस्कृति, साहित्य और सभ्यता के परिज्ञान हेतु प्राकृत-कथा साहित्य का अध्ययन करना अतीव उपयोगी है। प्राकृत-कथा साहित्य राजा से लेकर रंक तक, सभी का समान रूप से वर्णन करता है। उसमें कथारस की प्रचुरता के साथ ही मनोरंजन, कुतूहल और प्रभावोत्पादकता पर्याप्त मात्रा मे है। इन कथाओ में मनोरजन ही मुख्य उद्देश्य नही हैं अपितु व्यक्तित्व का विकास और चरित्र का उत्कर्ष करना ही उनका उद्देश्य है। जीवन की सभी समस्याओ का, चाहे वे सामाजिक हों, पारिवारिक हो, राजनैतिक हो या धार्मिक हो, समाधान उनमें किया गया है। अभिप्राय यह है कि जैन प्राकृत-कथा साहित्य अत्यधिक विशाल है। उसकी अपनी मौलिक विशेषताएँ है। जितना अधिक इस साहित्य का प्रचार-प्रसार होगा उतना ही अधिक उसका सही मूल्याकन किया जा सकेगा।

---

१. ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर भाग २, पृ० ५४५।

५

कल्पसूत्र और उसकी टीकाएँ

नन्दी सूत्र में आगम साहित्य की विस्तृत सूची प्राप्त होती है। आगम की सभी शाखाओं का निरूपण उसमें किया गया है। सर्वप्रथम आगम को अंग प्रविष्ट और अंगबाह्य रूपों में विभक्त कर फिर अंगबाह्य और आवश्यक व्यतिरेक इन दो भागों मे विभक्त किया है। उसके पश्चात् आवश्यक व्यतिरिक्त के भी दो भेद किये हैं—कालिक और उत्कालिक। कालिक सूत्र की सूची में एक कल्प का नाम आया है जो वर्तमान में वृहत्कल्प नाम से जाना-पहचाना जाता है और उत्कालिक श्रुत की सूची में 'चुल्लकल्पश्रुत' और 'महाकल्पश्रुत' इन दो कल्प सूत्रों के नाम आये हैं। मुनि श्री कल्याण विजय जी का मानना है कि महाकल्प का विच्छेद हुए हजार वर्ष से भी अधिक समय हो गया है, और चुल्लकल्पश्रुत को ही आज पर्युषणा कल्पसूत्र कहते हैं[1]। परन्तु इस मत के समर्थन में उन्होंने किसी भी प्राचीन ग्रन्थ का आधार प्रस्तुत नहीं किया है।

आगमप्रभावक मुनि श्री पुण्य विजय जी का अभिमत है कि 'महाकल्प और चुल्लकल्प' में आगम नन्दी सूत्रकार देववाचक गणि (देवर्द्धिगणि) क्षमाश्रमण के समय में भी नहीं थे। उन्होंने उस समय कुछ यथाश्रुत एवं कुछ यथादृष्ट नामों का सग्रह मात्र किया है, अत चुल्लकल्पश्रुत को पर्युषणा कल्प सूत्र मानने का मुनि श्री कल्याण विजय जी का अभिमत युक्तियुक्त और आगम सम्मत नहीं है।[2]

---

१. प्रबन्ध पारिजात—मुनि श्री कल्याणविजय पृ० १४३।

२. लेखक के नाम लिखे पत्र का संक्षिप्त साराश, पत्र-विक्रम सम्वत् २०२४ वैशाख सुदी ५ शुक्रवार अहमदाबाद से।

स्थानाङ्ग सूत्र में दशाश्रुतस्कध का नाम 'आयारदसा' (आचार दशा) दिया है। उसके दस अध्ययन है और उनमे आठवाँ अध्ययन पर्युषणा कल्प है।[1] वर्तमान में जो पर्युषणा कल्प सूत्र है, वह दशाश्रुतस्कध का ही आठवाँ अध्ययन है।

दशाश्रुतस्कध की प्राचीनतम प्रतियाँ (१४ वी शताब्दी से पूर्व की) जो पुण्यविजय जी म के असीम सौजन्य से मुझे देखने को मिली है, उनमे आठवें अध्ययन में पूर्ण कल्पसूत्र आया है जो यह स्पष्ट प्रामाणित करता है कि कल्पसूत्र कोई स्वतत्र एव मनगढन्त रचना नही है अपितु दशाश्रुतस्कंध का ही आठवा अध्ययन है।

दूसरी बात दशाश्रुतस्कंध पर द्वितीय भद्रवाहु की जो निर्युक्ति है, जिस का समय विक्रम की छट्ठी शताब्दी है, उसमें और उस निर्युक्ति के आधार से निर्मित चूर्णि में दशाश्रुतस्कध के आठवें अध्ययन में, वर्तमान में प्रचलित पर्युषणा कल्प सूत्र के पदो की व्याख्या मिलती है। मुनि श्री पुण्यविजय जी का अभिमत है कि दशाश्रुतस्कध की चूर्णि लगभग सोलह सौ वर्ष पुरानी है।[2]

प्रश्न हो सकता है कि आधुनिक दशाश्रुत स्कंध की प्रतियो में कल्पसूत्र लिखा हुआ क्यो नही मिलता ? इसका उत्तर यही है कि जब से कल्प सूत्र का वाचन पृथक् रूप से प्रारम्भ हुआ, तव से दशाश्रुत स्कध में से वह अध्याय कम कर दिया गया होगा। यदि पहले से ही वह उसमे सम्मिलित न होता तो निर्युक्ति और चूर्णि मे उसके पदो की व्याख्या न आती।

स्थानकवासी जैन परम्परा दशाश्रुत स्कंध को प्रमाणिक आगम स्वीकार करती है तो कल्पसूत्र को, जो उसी का एक विभाग है, अप्रामाणिक मानने का कोई कारण नही प्रतीत होता। मूल कल्प सूत्र में ऐसा कोई प्रसग या घटना नही है जो स्थानकवासी परम्परा की मान्यता के विपरीत हो। श्रमण भगवान् महावीर की जीवन झाँकी का वर्णन आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कंध के साथ मिलता-जुलता है। भगवान् ऋषभदेव का वर्णन भी जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति से विपरीत नही है। अन्य तीर्थङ्करो का वर्णन जैसा सूत्ररूप में अन्य आगमसाहित्य

---

१. आचारदसाण दस अज्झयणा पण्णता, तं जहा—वीस असमाहिठाणा, एगवीस सवला, तीतीस आसायणातो अट्ठविहा गणिसंपया, दस चित्त-समाहिठाणा, एगारस उवासगपडिमातो, वारस भिक्खुपडिमातो पज्जोस-वणकप्पो, तीस मोहणिज्जठाणा, आजाइट्ठाणं—स्थानाङ्ग १० स्थान।

२. कल्पसूत्र प्रस्तावना, पृ. ८ पुण्यविजय जी।

में निखरा पड़ा है, उसी प्रकार का इसमे भी है। समाचारी का वर्णन भी आगम सम्मत है। स्थविरावली का निरूपण भी कुछ परिवर्तन के साथ नन्दी सूत्र में आया ही है, अत हमारी दृष्टि से कल्पसूत्र को प्रामाणिक मानने मे वाधा नहीं है।

पाश्चात्य विचारको का अभिमत है कि कल्पसूत्र मे चौदह स्वप्नो का आलंकारिक वर्णन पीछे से जोड़ा गया है एवं स्थविरावली तथा समाचारी का कुछ अंश भी वाद में प्रक्षिप्त हुआ है। पं० मुनि श्री पुण्यविजय जी का मन्तव्य है कि उन विचारको के कथन मे अवश्य ही कुछ सत्य-तथ्य रहा हुआ है। क्योकि कल्प सूत्र की प्राचीनतम प्रति वि० संवत् १२४७ की ताडपत्रीय प्राप्त हुई है, उसमें चौदह स्वप्नो का वर्णन नही है। कुछ प्राचीन प्रतियो में स्वप्नो का वर्णन आया भी है तो अति संक्षिप्त रूप से आया है। निर्युक्ति, चूर्णि, एव पृथ्वीचन्द्र टिप्पण आदि में भी स्वप्न सम्बन्धी वर्णन की व्याख्या नही है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि आज कल्पसूत्र मे स्वप्न सम्बन्धी जो आलंकारिक वर्णन है, वह एक हजार वर्ष से कम प्राचीन नही है। यह किसके द्वारा निर्मित है, यह अन्वेषणीय है।[1]

कल्पसूत्र को निर्युक्ति, चूर्णि आदि से यह सिद्ध है कि इन्द्र-आगमन, गर्भ-सक्रमण, अट्टणशाला, जन्म, प्रीतिदान, दीक्षा, केवल ज्ञान, वर्षावास, निर्वाण, अन्तकृतभूमि, आदि का वर्णन उसके निर्माण के समय कल्पसूत्र मे था और यह भी स्पष्ट है कि जिनचरितावली के साथ उस समय स्थविरावली और समाचारी विभाग भी था।[2]

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि स्थविरावली में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तक के जो नाम आये हैं, वे श्रुतकेवली भद्रबाहु के द्वारा वर्णित नही हैं अपितु आगम वाचना के समय इसमें सकलित कर दिये गये हैं।

---

१ कल्पसूत्र—प्रस्तावना पृ ९ का, साराश, पुण्यविजय।

२ पुरिमचरिमाण कप्पो, मगलं वद्धमाणतित्थम्मि। इह परिकहिया जिण-गणहराइथेरावलि चरितं, —कल्पसूत्र निर्युक्ति ६२

(ख) पुरिमचरिमाण य तित्थगराण एस मग्गो चेवजहा वासावास पज्जोसवेयव्व पडतु वा वास मावा। मज्झिमगाण पुण भयितं। अवि य वद्धमाणतित्थम्मि मगलणिमित्तं जिणगणहर (राइथेरा) वलिया सव्वेसिं च जिणाण समोसरणाणि परिकहिज्जति।

—कल्पसूत्र चूर्णि पृ० १०१ पुण्यविजय सम्पा०।

मुनि श्री पुण्य विजय जी के अभिमतानुसार समाचारी विभाग मे "अन्तरा वि से कप्पइ नो से कप्पइ तं रयणि उवायणावित्तए" यह पाठ संभवतः आचार्य कालक के बाद बनाया गया हो।[१]

सक्षेप मे सार यह है कि श्रुत केवली भद्रबाहु द्वारा रचित कल्पसूत्र मे अन्य आगमो की तरह कुछ अंश प्रक्षिप्त हुआ है, उसी को देखकर श्री वेबर ने यह धारणा बनायी है कि कल्पसूत्र का मुख्य भाग देवर्द्धिगणी के द्वारा रचित है।[२] और मुनि श्री अमर विजय जी के शिष्य चतुर विजय जी ने द्वितीय भद्रबाहु की रचना मानी है,[३] यह दोनो मान्यताएं प्रामाणिक नही हैं।

आज अनेकानेक प्रमाणो से यह सिद्ध हो चुका है कि कल्पसूत्र श्रुत केवली भद्रबाहु की रचना है।[४] जब दशाश्रुत स्कंध भद्रबाहु निर्मित है तो कल्पसूत्र उसी का एक विभाग होने से वह भी भद्रबाहु द्वारा ही निर्मित है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि श्रुत केवली भद्रबाहु ने दशाश्रुत स्कंध आदि जो आगम लिखे, वे कल्पना प्रसूत नही है। उन्होने दशाश्रुत स्कंध निशीथ, व्यवहार, और बृहत्कल्प ये सभी आगम नौवें पूर्व के प्रत्याख्यान विभाग से उद्धृत किये है।[५] पूर्व गणधर कृत हैं तो ये आगम भी पूर्वों से निर्यूढ होने के कारण एक दृष्टि से गणधर कृत हो जाते है।

दशाश्रुत स्कंध छेद सूत्र मे परिगणित होने पर भी प्रायश्चित सूत्र नही है। किन्तु आचार सूत्र है एतदर्थ आचार्यों ने इसे चरणकरणानुयोग के विभाग में लिया है।[६] छेद सूत्रो में दशाश्रुत स्कंध को मुख्य स्थान दिया गया है।[७] जब

---

१. कल्पसूत्र प्रस्तावना।

२. इण्डियन एण्टीक्वेरी जिल्द २१ पृ० २१२-२१३।

३. मन्त्राधिराज-चिन्तामणि-जैन स्तोत्र सदोह-प्रस्तावना पृ० १२-१३, प्रकाशक—सारा भाई माणिलाल नवाब अहमदाबाद सन् १८३६।

४. वदामि भद्दबाहुं पाईण चरियसयलसुयणाणिं।
सुत्तस्स कारगमिसिं दसासु कप्पे य ववहारे॥
—दशाश्रुत स्कंध निर्युक्ति गा० १

(ख) तेण भगवता आयारपकप्प दसाकप्प ववहारा य नवमपुव्व-नीसदभूता निज्जूढा। —पंचकल्प भाष्य गा० २३ चूर्णि

५. कतरं सुत्तं ? दसाउकप्पो ववहारो य। कतरातो उद्धृतं ? उच्यते—पच्चक्खाणपुव्वाओ। —दशाश्रुतस्कंध चूर्णि पत्र २।

६. इहं चरणकरणाणुओगेण अधिकारो। —दशाश्रुतस्कन्ध चूर्णि पत्र २।

७. इमं पुणच्छेयसुत्तपमुहभूतं। —दशाश्रुतस्कंध चूर्णि पत्र २।

दशाश्रुतस्कन्ध छेद सूत्रो में मुख्य है तो उसी का विभाग होने से कल्पसूत्र की मुख्यता भी स्वत सिद्ध है। दशाश्रुतस्कंध का उल्लेख मूलसूत्र उत्तराध्ययन के इकतीसवें अध्ययन में भी हुआ है।[१]

निर्युक्ति-चूर्णि

कल्पसूत्र की सबसे प्राचीन व्याख्या कल्प-निर्युक्ति, और कल्पचूर्णि है। निर्युक्ति गाथा रूप पद्य में है और चूर्णि गद्य रूप मे है। दोनो की भाषा प्राकृत हैं। निर्युक्ति के रचयिता द्वितीय भद्रबाहु हैं। चूर्णि के रचयिता के सम्बन्ध में अभी कोई निर्णय नही हो सका है।

कल्पान्तर्वाच्य

निर्युक्ति और चूर्णि के पश्चात् कल्पान्तर्वाच्य प्राप्त होते हैं। ये व्याख्या ग्रन्थ नही हैं अपितु वक्ता कल्पसूत्र का वाचन करते समय प्रवचन को सरस बनाने के लिए अन्यान्य ग्रन्थो से जो नोट्स लेता था उन्हें ही यहाँ कल्पान्तर्वाच्य की संज्ञा दी गई है। जितने कल्पान्तर्वाच्य प्राप्त होते हैं वे सभी एक ही की प्रतिलिपियाँ नही हैं, अपितु विविध लेखको ने अपनी अपनी दृष्टि से उनको तैयार किया है। कुछ लेखक तपागच्छीय, कुछ खतरगच्छीय, और कुछ अंचलगच्छीय रहे हैं। उनमें आयी हुई साम्प्रदायिक मान्यताओ के वर्णन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। एक कल्पान्तर्वाच्य को श्री सागरानन्द सूरि ने 'कल्प समर्थन' के नाम से प्रसिद्ध कराया है।

टीकाएं

जैनाचार्यों ने संस्कृत वाङ्मय का अत्यधिक प्रचलन देखकर आगमो पर भी सस्कृत भाषा में टीकाएं लिखी। कल्पसूत्र की टीकाओ में निर्युक्ति और चूर्णि के प्रयोग के साथ ही अपनी ओर से भी लेखको ने बहुत कुछ नयी सामग्री संकलित की है।

सन्देह विषौषधि कल्पपंजिका इस टीका के रचयिता जिनप्रभसूरि हैं। वृहट्टिप्पनिका के अभितानुसार टीका का रचना काल सं० १३६४ है। श्लोक परिमाण २५०० के लगभग हैं। भाषा प्रौढ है। कही कही अनागमिक वर्णन भी आ गया है।[२] इन्होने भगवान् महावीर के षट् कल्याणको की चर्चा भी की है।

---

१. पणवीसभावणाहिं उद्देसेसु दसाइणं।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले।।–उत्तरा० अ. ३१ गा. १७

२. प्रबन्ध पारिजात मुनि कल्याणविजय पृ० १५७।

कल्प किरणावली—इस टीका के निर्माता तपागच्छीय उपाध्याय श्री धर्म-सागर हैं। विक्रम संवत् १६२८ मे इसका निर्माण हुआ है। श्लोक परिमाण ४८१४॥ है।[१] इस टीका की परिसमाप्ति राधनपुर में हुई है। इतिवृत्त सम्बन्धी अनेक भूलें टीका में दृष्टिगोचर होती हैं और साथ ही सन्देह विषौषधि टीका का स्पष्ट प्रभाव भी परिलक्षित होता है।

प्रदीपिका वृत्ति—इसके टीकाकार पन्यास संघविजय हैं। टीका का परि-मार्जन उपाध्याय धनविजय ने १६८१ मे किया था। श्लोक परिमाण ३२५० है। टीका की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि लेखक खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति से अलग-अलग रहा है। पूर्व टीकाओ की तरह इस टीका में भी कुछ स्थलो पर त्रुटियाँ अवश्य हुई हैं।

कल्पदीपिका—इस टीका के लेखक पन्यास जय विजय जी हैं[२] और संशो-धनकर्ता हैं भावविजयगणी। विक्रम सं० १६७७ की कार्तिक शुक्ला सप्तमी को यह टीका समाप्त हुई है। लेखक ने प्रशस्ति में अपने गुरु का नाम उपाध्याय विमलहर्ष दिया है। श्लोकपरिमाण ३४३२ है। भाषा प्राञ्जल है। अपने विरोधी मन्तव्यो का खण्डन भी किया है पर मधुरता एव शिष्टता के साथ और तर्क-सगत। पाठको को वह खण्डन अखरता नही है।

कल्प प्रदीपिका—इस टीका के रचयिता संघ विजय जी हैं। विक्रम सं० १६७६ में यह टीका समाप्त हुई है।[३]

कल्पसुबोधिका—इस टीका के रचयिता उपाध्याय विनय विजय जी हैं। विक्रम सं० १६९६ मे यह टीका निर्मित की गई है। पूर्व की सभी टीकाओ से प्रस्तुत टीका विस्तृत है। भाषा की सरलता एवं विषय की सुबोधता के कारण अन्य टीकाओ से अधिक लोकप्रिय हुई है। कल्पकिरणा-वली और कल्पदीपिका टीकाओ का खण्डन-मण्डन भी यत्र-तत्र किया गया

---

१. अनुष्टुभोऽष्ट चत्वारिंशच्छतानि च चतुर्दश।
पोडशोपरि वर्णाश्च, ग्रन्थमानमिहोदितम्॥ —कल्प किरणावली

२. प्रणम्य निखिलान् सूरीन्, स्वगुरुं सततोदयम्।
कुर्वे स्वबोधविधये, सुगमा कल्पदीपिकाम्॥ २॥

३ प्रत्यक्षर गणनया ग्रन्थ मानं शता. स्मृताः।
चतुष्पञ्चाशदेतस्या वृत्तौ सूत्रसमन्वितम्॥

है। टीका का श्लोक परिमाण ५४०० है। प्रशस्ति[1] से स्पष्ट है टीका का संशोधन उपाध्याय भावविजय जी ने किया था।

कल्पकौमुदी—इस टीका के लेखक उपाध्याय शान्तिसागर जी हैं। विक्रम सं० १७०७ में उन्होंने यह टीका पाटण में लिखी। श्लोक सख्या ३७०७ है। टीका में उपाध्याय विनय विजय जी की कटु आलोचना की गई है। उपाध्याय जी ने सुबोधिका टीका में जो कल्पकिरणावली टीका का खण्डन किया है, उसी का प्रत्युत्तर इसमें दिया गया है।

कल्पव्याख्यानपद्धति—इसके संकलनकार वाचक श्री हर्षसार के शिष्य श्री शिवनिधान गणी हैं। यह अपूर्ण है। मुनि श्री कल्याण विजय जी के अभिमतानुसार इसकी रचना १७ वी शताब्दी मे होनी चाहिए।

कल्पद्रुम कलिका—इस टीका के रचयिता खतरगच्छीय उपाध्याय लक्ष्मीवल्लभ हैं। टीका में रचनाकाल का निर्देश नही किया गया है। भगवान् पार्श्व के जीवन में सर्पयुगल सम्बन्धी घटना तथा भगवान् के मुखारविन्द से महामंत्र सुनाने की घटना श्वेताम्बर चरित्र ग्रथो से विपरोत है।[2]

कल्पलता—इस टीका के रचयिता समयसुन्दर गणी है। विक्रम सं० १६९९ के आस-पास उन्होंने यह रचना की है। वृत्ति का ग्रन्थमान ७७०० श्लोक प्रमाण है। हर्षवर्धन ने इस टीका का सशोधन किया है। लेखक ने खतरगच्छीय मान्यताओ को लक्ष्य मे रखकर टीका निर्माण करने का सकल्प किया है।

कल्पसूत्र टिप्पनक—इसके रचयिता आचार्य पृथ्वीचन्द्र सूरि हैं। उन्होंने टिप्पण के अन्त में अपना परिचय दिया है। वे देवसेन गणि के शिष्य हैं। देवसेन

---

१. तस्य स्फुरदुरुकीर्त्तेर्वाचिकवरकीर्तिविजयपूज्यस्य।
विनयविजयो विनेय सुबोधिका व्यरचयत् कल्प ॥ १२ ॥
समशोधयस्तथैना पण्डितमविग्नसहृदयावतसाः।
श्री विमलहर्षवाचकवशे मुक्तामणिसमाना. ॥ १३ ॥
धिषणानिर्जितधिषणा सर्वत्र प्रसृतकीर्तिकर्पूरा।
श्री भावविजयवाचककोटीरा शास्त्रवसुनिकषा. ॥ १४ ॥
रसनिधिरसशशिवर्षे ज्येठे मासे समुज्ज्वले पक्षे।
गुरुपुष्पे यत्नोऽय सफलो जज्ञे द्वितीयायाम् ॥ १५ ॥
श्री रामविजयपण्डितशिष्य श्री विजय विबुध मुख्यानाम्।
अभ्यर्थनापि हेतुर्विशेयोऽस्या कृतौ विवृते ॥ १६ ॥

२. तओ भगवया णिययपुरिसवयणेण दवाविओ से पंचणमोक्कारो पच्चक्खाणं च, पडिच्छिय तेण। —चउप्पन्नमहापुरिस चरिय पृ. २६२

गणि के गुरु यशोभद्र हैं और वे राजा शाकंभरी के प्रतिबोध देनेवाले धर्म घोष सूरि के शिष्य हैं। धर्मघोष सूरि के गुरु चन्द्रकुलावतंसक आचार्य शील-भद्रसूरि के नाम से प्रसिद्ध हैं।[१] पं० मुनि श्री पुण्यविजय के अभिमतानुसार वे चौदहवी शताब्दी में होने चाहिए। श्लोक परिमाण ६८५ हैं।

कल्पप्रदीप—इस टीका के रचयिता संघविजय गणी है।

कल्पसूत्रार्थ प्रबोधनी—इस टीका के निर्माता अभिधान राजेन्द्र कोष के सम्पादक श्री राजेन्द्र सूरि हैं। यह टीका बहुत विस्तृत है।

इन टीकाओं के अतिरिक्त कल्पसूत्र वृत्ति (उदयसागर), कल्पदुर्गपद-निरुक्ति, पर्युषणाष्टाह्निका व्याख्यान, पर्युषणपर्व विचार, कल्पमंजरी रत्न-सागर, कल्पसूत्र ज्ञान दीपिका (ज्ञान विजय), अवचूर्णि, अवचूरि, टब्बा आदि अनेक टीकाएं व अनुवाद उपलब्ध होते हैं। डाक्टर हर्मन जेकोबी ने कल्पसूत्र का इंग्लिश में अनुवाद प्रकाशित किया है और उस पर महत्त्वपूर्ण भूमिका भी लिखी है। पं० मुनि श्री पुण्य विजय जी ने कल्पसूत्र का सुन्दर सम्पादन किया है। पं० बेचर दास जी ने उसका गुजराती में अनुवाद किया है। स्थानकवासी मुनि उपाध्याय श्री प्यार चन्द्र जी म० ने संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद किया है। सुत्तागमे के द्वितीय भाग में मुनि पुप्फभिक्खु जी ने भी मूलकल्पसूत्र छपवाया है। पूज्य पं० मुनि श्री घासी लाल जी म० ने नवीन कल्प-सूत्र का निर्माण किया है। इस प्रकार कल्प सूत्र पर विशाल व्याख्या साहित्य समय-समय पर निर्मित हुआ है, जो उसकी लोक प्रियता का ज्वलंत प्रमाण है। ●

---

१ चन्द्रकुलाम्बरशशिनश्चारित्रश्रीसहस्रपत्रस्य
श्री शीलभद्रसूरेर्गुणरत्नमहोदधेः शिष्य. ॥ १ ॥
अभवद् वादिमदहरषट्तर्काम्भोजबोधनादिनेशः।
श्री धर्मघोषसूरिर्बोधितशाकम्भरीनृपतिः ॥ २ ॥
चारित्राम्भोधिशशी त्रिवर्गपरिहारजनितबुधहर्षः।
दर्शितविधि. शमनिधि सिद्धान्तमहोदधिप्रवरः ॥ ३ ॥
बभूव श्री यशोभद्र सूरिस्तच्छिष्यशेखरः।
तत्पादपद्ममधुपोऽमूवछ्री देवसेनगणिः ॥ ४ ॥
टिप्पनकं पर्युषणाकल्पस्यालिखदवेक्ष्य शास्त्राणि।
तच्चरणकमलमधुप. श्री पृथ्वीचन्द्र सूरिरिदम् ॥ ५ ॥
इह यद्यपि न स्वधिया विहितं किञ्चित् तथापि बुधवर्गैः।
संशोध्यमधिकमूनं यद् भणित स्वपरबोधाय ॥ ६ ॥
—कल्पसूत्र टिप्पनकम् पृ० २३, पुण्य विजय सम्पादित।

६

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर : व्यक्तित्व और कृतित्व

भारतवर्ष पर सरस्वती की बडी कृपा रही है जिसके फल स्वरूप यहाँ पर समय-समय पर अनेक लेखक, कवि, दार्शनिक और विचारक हुए हैं जिन्होने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का निर्माण कर अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा का परिचय दिया। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर भी उन्ही मूर्धन्य लेखको में से एक हैं जिन्होंने जैन साहित्य को अनेक दृष्टियो से समृद्ध किया। जैन परम्परा में तर्क-विद्या और तर्क प्रधान संस्कृत वाङ्मय के वे आद्य प्रणेता हैं[1]। कवित्व की दृष्टि से जब हम उनके साहित्य का अध्ययन करते हैं तो कवि कुल गुरु कालिदास और अश्वघोष का सहज ही स्मरण हो आता है। पण्डित सुख लाल जी ने उनको प्रतिभा मूर्ति कहा है,[2] यह अत्युक्ति नही है। जिन्होंने उनका प्राकृतग्रन्थ 'सन्मति तर्क' देखा है, या उनकी संस्कृत द्वात्रिंशिकाएं देखी हैं, वे उनकी प्रतिभा की तेजस्विता से प्रभावित हुए बिना नही रह सकते। जैन साहित्य की जो न्यूनता थी, उसी की पूर्ति की ओर उनकी प्रतिभा का प्रयाण हुआ। उन्होने चर्वित-चर्वण नही किया। उन्होने टीकाएं नही लिखी किन्तु समय की गतिविधि को निहार कर उन्होंने तर्क सगत अनेकान्तवाद के समर्थन में अपना बल लगाया। सन्मति तर्क जैसे महत्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थ का सृजन किया। सन्मति तर्क जैन दृष्टि से और जैन मन्तव्यो को तर्क शैली से स्पष्ट करने तथा स्थापित करने वाला जैन साहित्य में सर्वप्रथम ग्रन्थ है। उत्तरवर्ती सभी श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्यों ने उसका आश्रय लिया है।

सन्मति तर्क में नयवाद का अच्छा विवेचन है। इसमें तीन काण्ड हैं। प्रथम काण्ड में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि का सामान्य विचार है। दूसरे

---

१. दर्शन और चिन्तन पृ० २७० पं० सुखलाल जी हिन्दी।

२. वही पृ० २६९

काण्ड में ज्ञान और दर्शन पर सुन्दर चर्चा है। तृतीय काण्ड में गुण और पर्याय, अनेकान्त दृष्टि और तर्क के विषय में अच्छा प्रकाश डाला गया है।

नय सात हैं। आगमो में सात नयो का उल्लेख है।[1] नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और भूत। इन सभी नयो को द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयो मे समाविष्ट किया जा सकता है। द्रव्यार्थिक दृष्टि में सामान्य या अभेदमूलक समस्त दृष्टियो का समावेश हो जाता है। विशेष या भेदमूलक जितनी भी दृष्टियाँ है, उन सब का समावेश पर्यायार्थिक दृष्टि में हो जाता है। आचार्य सिद्धसेन ने इन दोनो दृष्टियो का समर्थन करते हुए लिखा कि श्रमण भगवान् महावीर के प्रवचन मे मूलत दो ही दृष्टियाँ हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यार्थिक, शेष सभी दृष्टियाँ इन्ही की शाखाएं-प्रशाखाएं है।[2] तत्त्व का कोई पहलू इन दो दृष्टियो का उल्लंघन नही कर सकता क्योकि या तो वह सामान्य होगा या विशेषात्मक। इन दो दृष्टियों को छोड़कर वह कही नही जा सकता।[3] आचार्य सिद्धसेन ने अनुभव किया कि दार्शनिक जगत् में इन दो दृष्टियो के कारण ही झगड़ा होता है। कितने ही दार्शनिक द्रव्यार्थिक दृष्टि को ही अन्तिम सत्य मानते है तो कितने ही पर्यायार्थिक दृष्टि को। इन दोनो दृष्टियो का एकान्त आग्रह ही क्लेश का कारण है। अनेकान्त दृष्टि ही दोनो का समान रूप से सम्मान करती है। वही सत्य दृष्टि है।

इस प्रकार कार्य-कारण भाव का जो सघर्ष चल रहा है, उसे अनेकान्तवाद की दृष्टि से सुलझाया जा सकता है। कार्य और कारण का एकान्त भेद मिथ्या है। न्याय वैशेषिक दर्शन एतदर्थ ही अपूर्ण है। सांख्य का यह मन्तव्य है कि कार्य और कारण में एकान्त अभेद है। कारण ही कार्य है, अथवा कार्य कारण रूप ही है। यह अभेद दृष्टि भी एकागी है। आचार्य सिद्धसेन ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि के आधार से कार्य और कारण का प्रस्तुत विरोध नष्ट किया।

---

१. अनुयोगद्वार सूत्र १५६
 (ख) स्थानाङ्ग सूत्र ७।५५२

२. तित्थयरवयणसगह-विसेवपत्थारमूलवागरणी।
 दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सिं॥
 —सन्मति तर्क प्रकरण १।३

३. दव्व पज्जवविउयं दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि।
 उप्पादव्वयाट्ठिइ-भगा हंदि दव्वलक्खणं एयं॥
 —सन्मति तर्क १।१२

कारण और कार्य में द्रव्यार्थिक दृष्टि से कोई भेद नही है। पर्यायार्थिक दृष्टि से दोनों में भेद है। अनेकान्त दृष्टि से दोनो को सही माना जाता है। सत्य तथ्य यह है कि न कार्य कारण में एकान्त भेद है और न एकान्त अभेद ही है। यही समन्वय का श्रेष्ठ मार्ग है। असत्कार्य वाद और सत्कार्यवाद ही सम्यग्दृष्टि है।[१]

तत्त्वचिन्तन के सम्यक्पथ का विश्लेषण करते हुए उन्होने आठ बातो पर बल दिया। वे आठ बातें ये हैं—(१) द्रव्य, (२) क्षेत्र, (३) काल, (४) भाव, (५) पर्याय, (६) देश, (७) संयोग और (८) भेद।[२] इन आठ में पहले की चार बातें स्वय भगवान् महावीर ने बताई हैं। उनमें पीछे की चार बातो का भी समावेश हो जाता है किन्तु सिद्धसेन ने दृष्टि और पदार्थ की सम्यक् प्रकार से व्याख्या करने के लिए आठ बातो पर प्रकाश डाला।

आचार्य सिद्धसेन पूर्ण तार्किक थे तथापि वे तर्क की मर्यादा समझते थे। तर्क की अप्रतिहत गति है, ऐसा वे नही मानते। उन्होने अनुभव को श्रद्धा और तर्क इन दो भागो में बाँटा। एक क्षेत्र में तर्क का साम्राज्य है तो दूसरे क्षेत्र में श्रद्धा का। जो बातें विशुद्ध आगमिक है जैसे भव्य और अभव्य, जीवों की संख्या का प्रश्न आदि; उन बातो पर उन्होने तर्क करना उचित नही समझा। उन बातो को उसी रूप में ग्रहण किया गया। किन्तु जो बातें तर्क से सिद्ध या असिद्ध की जा सकती थी उन बातो को अच्छी तरह से तर्क की कसौटी पर कस कर स्वीकार किया।

अहेतुवाद और हेतुवाद ये धर्मवाद के दो प्रकार हैं। भव्याभव्यादिक भाव अहेतुवाद का विषय है और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि हेतुवाद के अन्तर्गत।[3] आचार्य सिद्धसेन के द्वारा किया गया यह हेतुवाद और अहेतुवाद का

---

१. जे संतवायदो से सक्कोलूया भणंति संखाणं।
संखा य असव्वाए तेसिं सव्वे वि ते सच्चा॥
ते उ भयणोवणीया सम्मदंसणमणुत्तरं होंति।
ज भवदुक्खविमोक्ख दो वि न पूरेंति पाडिक्कं॥—सन्मतितर्क ३।५०-५१

२. दव्वं खित्तं कालं भाव पज्जाय-देस-संजोगे।
भेदं च पडुच्च समा भावाण पण्णवणयज्जा॥—सन्मति तर्क ३।६०

३ दुविहो धम्मावाओ अहेउवाओ य हेउवाओ य।
तत्थ उ अहेउवाओ भवियाऽ भवियादओ भावा॥
भविओ सम्मद्दसण-णाण-चरित्तपडिवत्तिसंपन्नो।
णियमा दुक्खतकडो त्ति लक्खण हेउवायस्स॥

—सन्मति तर्क ३।४३-४४

विभाग हमें दर्शन और धर्म की स्मृति दिलाता है। हेतुवाद तर्क पर प्रतिष्ठित होने से दर्शन का विषय है और अहेतुवाद श्रद्धा पर आश्रित होने से धर्म का विषय है। इस तरह आचार्य सिद्धसेन ने परोक्ष रूप में दर्शन और धर्म की मर्यादा का संकेत किया है।

जैनागमो की दृष्टि से सर्वज्ञ के ज्ञान और दर्शन को भिन्न माना गया है किन्तु आचार्य सिद्धसेन ने तर्क से यह सिद्ध किया है कि सर्वज्ञ के ज्ञान और दर्शन में कोई भेद नही है। सर्वज्ञ के स्तर पर पहुँचकर ज्ञान और दर्शन दोनों एक रूप हो जाते हैं।[1] इसके अतिरिक्त अवधि और मन.पर्यवज्ञान को तथा ज्ञान और श्रद्धा को भी एक सिद्ध करने का प्रयत्न किया। जैनागमो में विश्रुत नैगम आदि सात नयो के स्थान पर छ नयो की स्थापना की। नैगम को स्वतंत्र नय न मानकर उसे संग्रह और व्यवहार मे समाविष्ट कर दिया। उन्होने यहाँ तक कहा कि जितने वचन के प्रकार हो सकते है उतने नयवाद के प्रकार हो सकते हैं और जितने नयवाद हो सकते हैं उतने ही मतमतान्तर भी हो सकते है। अद्वैतवादो को उन्होने द्रव्यार्थिक नय के संग्रहनयरूप प्रभेद में समाविष्ट किया। क्षणिकवादी बौद्धो की दृष्टि को पर्यायनयान्तर्गत ऋजुसूत्र-नयानुसारी बताया। सांख्य दृष्टि का समावेश द्रव्यार्थिक नय में किया और काणाद दर्शन को उभयनयाश्रित सिद्ध किया।[2]

ज्ञान और क्रिया के ऐकान्तिक आग्रह को चुनौती देते हुए सिद्धसेन ने कहा कि ज्ञान और क्रिया दोनो आवश्यक ही नही परमावश्यक हैं। ज्ञान रहित क्रिया व्यर्थ है और क्रिया रहित ज्ञान निकम्मा है। ज्ञान और क्रिया का समन्वय ही

---

१. ज अप्पुट्ठे भावे जाणइ पासइ य केवली णियमा।
तम्हा तं णाणं दंसण च अविसेसओ सिद्धं॥

—सन्मति तर्क २।३०

२. जावइया वयणवहा, तावइया चेव होंति णयवाया।
जावइया णयवाया, तावइया चेव परसमया॥
जं काविलं दरिसणं, एयं दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं।
सुद्धोअणतणअस्स उ, परिसुद्धो पज्जवविअप्पो॥
दोहि वि णएहि णीअं, सत्थमुलूएण तह वि मिच्छत्तं।
जं सविसअप्पहाणत्तणेण, अण्णोण्णोण्णनिरवेक्खा॥

—सन्मति तर्क ३।४७-४८-४९

वास्तविक सुख का कारण है। जन्म और मरण से मुक्त होने के लिए ज्ञान और क्रिया दोनो आवश्यक है।[१]

इस प्रकार सन्मति तर्क में उन्होने अपने विचारो को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया है।

बत्तीसियाँ

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने बत्तीस बत्तीसियाँ रची थी जिनमे से इक्कीस बत्तीसियाँ वर्तमान में उपलब्ध हैं। ये बत्तीसियाँ संस्कृत भाषा में रचित हैं। प्रथम की पाँच बत्तीसियाँ और ग्यारहवी बत्तीसी स्तुति परक है। प्रथम पाँच बत्तीसियों में श्रमण भगवान् महावीर की स्तुति की गई है और ग्यारहवी बत्तीसी में किसी पराक्रमी राजा की स्तुति की गई है। इन स्तुतियो को पढ-कर अश्वघोष के समकालीन बौद्ध स्तुतिकार मातृचेट रचित 'अध्यर्धशतक" और आर्य देव रचित चतु शतक की स्मृति हो आती है। सिद्धसेन ही जैन परम्परा के आद्य स्तुतिकार हैं, आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी दोनो बत्तीसियाँ सिद्धसेन की बत्तीसियो का आदर्श सामने रखकर ही रची हैं। यह उनकी रचना से स्पष्ट होता है।[२] आचार्य समन्तभद्र की 'स्वयंभूस्तोत्र' और 'युक्त्यनु-शासन' नामक दार्शनिक स्तुतियाँ भी आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की स्तुतियो का अनुकरण हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने व्याकरण के उदाहरण में 'अनुसिद्धसेनं कवयः' लिखा है। यदि उसका भाव यह हो कि जैन परम्परा के संस्कृत कवियो में आचार्य सिद्धसेन का स्थान सर्वप्रथम है तो यह कथन आज भी जैन वाङ्मय की दृष्टि से पूर्ण सत्य है।

आचार्य सिद्धसेन ने इन्द्र और सूर्य से भी भगवान् महावीर को उत्कृष्ट बताकर उनके लोकोत्तरत्व का व्यजन किया।[३] उन्होने व्यतिरेक अलकार के

---

१. णाणं किरियारहियं, किरियामेत्तं च दो वि एगता।
अप्समत्था दाएउ जम्म—मरणदुक्ख मा भाई ॥—सन्मति तर्क ३।६८

२. क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था
अशिक्षितालापकला क्व चैषा ?
तथापि यूथाधिपते पथस्थ
स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शाच्य.—अयोगव्यवच्छेदिका श्लोक ३

१. कुलिशेन सहस्रलोचन, सविता चाशुसहस्रलोचनः।
न विदारयितु यदीश्वरो, जगतस्तद्भवता हत तम ॥

द्वारा भगवान् की स्तुति की। हे भगवन्, आपने गुरु-सेवा किये विना ही जगत् का आचार्य पद पाया है जो दूसरो के लिए कदापि संभव नही।[१] उन्होंने सरिता और समुद्र की उपमा के द्वारा भगवान् में सब दृष्टियो के अस्तित्व का कथन किया है, जो अनेकान्तवाद की जड है।[२]

सिद्धसेन सर्वप्रथम जैनवादी है। वे वाद विद्या के पारंगत पण्डित हैं। उन्होने अपनी सातवी वादोपनिषद् वत्तीसी में वादकालीन सभी नियम और उपनियमो का वर्णन कर विजय पाने का उपाय भी वताया है, साथ ही उन्होने आठवी वत्तीसी में वादविद्या का परिहास भी किया है। वे कहते हैं कि एक मास पिण्ड के लुब्ध और लडने वाले दो कुत्तो में कभी मैत्री की संभावना भी है पर दो सहोदर भी वादी हो तो उनमें कभी सख्य की संभावना नही हो सकती।[३] उन्होने स्पष्ट कहा है कि कल्याण का मार्ग अन्य है और वादी का मार्ग अन्य है। क्योकि किसी भी मुनि ने वाग्युद्ध को शिव का उपाय नही कहा है।[४]

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने ही सर्वप्रथम दर्शनो के वर्णन की प्रथा का श्री गणेश किया। उसके पश्चात् अन्य आचार्यो ने उनका अनुकरण किया। आठवी शताब्दी में आचार्य हरिभद्र ने षड्दर्शन समुच्चय लिखा और चौदहवी शताब्दी में माधवाचार्य ने सर्वदर्शन संग्रह ग्रन्थ लिखा, जो सिद्धसेन द्वारा प्रस्तुत शैली का विकास था। अभी जो वत्तीसियाँ उपलब्ध है उनमें न्याय, वैशेषिक साख्य, बौद्ध, आजीवक और जैन दर्शन का वर्णन है किन्तु चार्वाक और मीमासक दर्शन का वर्णन नही है। सभव है उन्होने चार्वाक और मीमांसक दर्शन का वर्णन किया होगा पर वे वत्तीसियाँ वर्तमान में उपलब्ध नही है। जैन दर्शन का वर्णन उन्होने अनेक वत्तीसियो में किया है। उनकी पुरातनत्व समालोचना विषयक वत्तीसियो के सम्बन्ध मे पण्डित सुखलाल जी लिखते हैं: मैं नही जानता कि भारत में ऐसा कोई विद्वान् हुआ हो जिसने पुरातनत्व की इतनी क्रान्ति-

---

१. न सदसु वदन्नशिक्षितो, लभते वक्तृविशेषगौरवम्।
अनुपास्य गुरु त्वया पुनर्जगदाचार्यकमेव निर्मितम्॥

२. उदधाविव सर्वसिन्धवः, समुदीर्णास्त्वयि सर्वदृष्टयः।
न च तासु भवानुदीक्ष्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः॥

३. ग्रामान्तरोपगतयोरेकामिषसगजातमत्सरयोः।
स्यात् सख्यमपि शुनोर्भ्रात्रोरपि वादिनोर्न स्यात्॥ —वत्तीसी ८।१

४. अन्यत एव श्रेयास्यन्यत एव विचरन्ति वादिवृषाः।
वाक्संरंभ क्वचिदपि न जगाद मुनिः शिवोपायम्॥

कारिणी तथा हृदयहारिणी एव तलस्पर्शिनी निर्भय समालोचना की हो। मैं ऐसे विद्वान् को भी नही जानता कि जिस अकेले ने एक वत्तीसी मे प्राचीन सब उपनिषदो तथा गीता का सार वैदिक और औपनिषद भाषा में ही शाब्दिक और आर्थिक अलंकार युक्त चमत्कारिणी सरणी से वर्णित किया हो। जैन परम्परा में तो सिद्धसेन के पहले और पीछे आज तक ऐसा कोई विद्वान् हुआ ही नही है जो इतना गहरा उपनिषदो का अभ्यासी रहा हो और औपनिषद भाषा में ही औपनिषद् तत्त्व का वर्णन भी कर सके। पर जिस परम्परा में सदा एक मात्र उपनिषदो की तथा गीता की प्रतिष्ठा है उस वेदान्त परम्परा के विद्वान् भी यदि सिद्धसेन की उक्त वत्तीसी को देखेंगे तब उनकी प्रतिभा के कायल होकर यही कह उठेंगे कि आज तक यह ग्रन्थ रत्न दृष्टिपथ में आने से क्यो रह गया! मेरा विश्वास है कि प्रस्तुत वत्तीसी की ओर किसी भी तीक्ष्ण-प्रज्ञ वैदिक विद्वान् का ध्यान जाता तो वह उस पर कुछ न कुछ विना लिखे न रहता। मेरा यह भी विश्वास है कि यदि कोई मूल उपनिषदो का साम्नाय अध्येता जैन विद्वान् होता तो भी उस पर कुछ न कुछ लिखता।[१]

आचार्य सिद्धसेन ने लिखा—पुराने पुरुषो ने जो व्यवस्था निश्चित की है, वह विचार की कसौटी पर क्या उसी प्रकार सिद्ध होती है? यदि समीचीन सिद्ध हो, तो हम उसे समीचीनता के नाम पर मान सकते हैं, पर प्राचीनता के नाम पर नही। यदि वह समीचीन सिद्ध नही होती, तो केवल मरे हुए पुरुषों के झूठे गौरव के कारण 'हा में हा' मिलाने के लिए मैं उत्पन्न नही हुआ हूँ। मेरी सत्य-प्रियता के कारण यदि विरोधी वढते हैं तो वढ।[२] पुरानी परम्परा अनेक है उनमें परस्पर विरोध भी है अत विना समीक्षा किये प्राचीनता के नाम पर यो ही झटपट निर्णय नही दिया जा सकता। किसी कार्य-विशेष की सिद्धि के लिए यही प्राचीन व्यवस्था ठीक है अन्य नही, यह वात केवल पुरातन प्रेमी जड ही कह सकते हैं।[३] आज जिसे हम नवीन कहकर उडा देना चाहते हैं, वही व्यक्ति मरने के वाद नयी पीढ़ी के लिए पुराना हो

१. दर्शन और चिन्तन हिन्दी पृ० २७५।

२. पुरातनैर्या नियता व्यवस्थितिस्तथैव सा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति।
तथेति वक्तु मृतरूढगौरवादहं न जात. प्रथयन्तु विद्विष ।—वत्तीसी ६।२

३. बहुप्रकारा स्थितय परस्पर, विरोधयुक्ता. कथमाशु निश्चय।
विशेषसिद्धावियमेव नेति वा पुरातन-प्रेम जडस्य युज्यते॥
—वत्तीसी ६।४

जायेगा, जब कि प्राचीनता इस प्रकार अस्थिर है, तब विना विचार किए पुरानी बातो को कौन पसन्द कर सकता है।[१]

न्यायावतार

जिस प्रकार दिग्नाग ने बौद्ध दर्शन मान्य विज्ञानवाद को सिद्ध करने के लिए पूर्वपरम्परा मे किञ्चित् परिवर्तन करके बौद्ध प्रमाण शास्त्र को व्यवस्थित रूप प्रदान किया उसी प्रकार सिद्धसेन दिवाकर ने भी पूर्व परम्परा का सर्वथा अनुकरण न करके अपनी स्वतंत्र बुद्धि से न्यायावतार की रचना की। उन्होंने जैन दृष्टि को अपने सामने रखते हुए भी लक्षण-प्रणयन में दिग्नाग के ग्रन्थो का पर्याप्त मात्रा मे उपयोग किया और स्वयं सिद्धसेन के लक्षणो का उपयोग परवर्ती जैनाचार्यों ने अत्यधिक मात्रा में किया है।

आगम साहित्य में चार प्रमाणो का वर्णन है[२]। आचार्य उमास्वाति ने प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो प्रमाण माने और उन्ही में पाँच ज्ञानो को विभक्त किया। आचार्य सिद्धसेन ने भी प्रमाण के दो ही भेद माने हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष, किन्तु उन्होने प्रमाण का निरूपण करते समय जैन परम्परा सम्मत पाँच ज्ञानो को प्रमुखता प्रदान नही दी है. लोकसम्मत प्रमाणो को मुख्यता दी है। उन्होने प्रत्यक्ष की व्याख्या में लौकिक और लोकोत्तर दोनो प्रत्यक्षों का समावेश किया है और परोक्ष प्रमाण में अनुमान और आगम का। इस प्रकार सिद्धसेन ने साख्य और प्राचीन बौद्धो का अनुकरण करके प्रत्यक्ष अनुमान और आगम का वर्णन किया है।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ही प्रथम जैन दार्शनिक हैं जिन्होने न्यायावतार जैसी लघुकृति में प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय, और प्रमिति इन चार तत्त्वो की जैन दर्शन सम्मत व्याख्या करने का सफल प्रयास किया। उन्होने प्रमाण और उनके भेद प्रभेदो का लक्षण किया है। अनुमान के सम्बन्ध में उनके हेत्वादि सभी अंग प्रत्यंगो की संक्षेप में मार्मिक चर्चा की है।

---

१. जनोऽयमन्यस्य स्वय पुरातन. पुरातनैरेव समो भविष्यति।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत् ॥
—बत्तीसी ६।५

२. पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते तं जहा पच्चक्खे अणुमाणे।
ओवम्मे आगमे जहा अणुओगद्दारे तहा णेयव्वं पमाणं ॥
—भगवती ५।३।१९१-१९२

(ख) अहवा हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे। —स्थानाङ्ग ३३८

उन्होंने केवल प्रमाण निरूपण की ही चर्चा नही की किन्तु नयो का लक्षण और विषय बताकर जैन न्यायशास्त्र की ओर मनीषी दार्शनिको का ध्यान आकर्षित किया।

प्रस्तुत ग्रन्थ में स्वमतानुसार न्यायशास्त्रोपयोगी प्रमाणादि पदार्थों की व्याख्या करके ही आचार्य सिद्धसेन सन्तुष्ट नही हुए किन्तु उन्होंने संक्षेप में पर-मत का निराकरण भी किया है। लक्षण-निर्माण में दिग्नाग जैसे बौद्धो का यत्र-तत्र अनुकरण करके भी उन्ही के 'सर्वमालम्बने भ्रान्तम्' और पक्षाप्रयोग के सिद्धान्तो का युक्तिपुरस्सर खण्डन भी किया। बौद्धो ने जो हेतु-लक्षण किया था, उसके स्थान में अन्तर्व्याप्ति के बौद्ध सिद्धान्त से ही फलित होने वाला 'अन्यथा नुपपत्तिरूप' हेतु-लक्षण अपनाया। वह आज भी जैनाचार्यो द्वारा प्रमाणभूत माना जाता है।[२]

इस प्रकार हम देखते है कि विक्रम की पाचवी शताब्दी के ज्योतिर्धर आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने साहित्यिक क्षेत्र में जो मौलिकता दी है, वह महान् है।

---

२. आगम-युग का जैनदर्शन पृ० २७५-२७६ का सारांश

७

आचार्य हेमचन्द्र की साहित्य-साधना

आचार्य हेमचन्द्र बारहवी शताब्दी के बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न विशिष्टतम विद्वान् हैं। उनका व्यक्तित्व असाधारण और कृतित्व अभूतपूर्व तथा अनूठा रहा हैं। उनकी साहित्य-साधना बहुत ही विशाल और व्यापक रही है। उन्होने भूगोल, खगोल, ज्योतिष, इतिहास, न्याय, नीति, धर्म, दर्शन, कथा, कोश, व्याकरण, काव्य आदि सभी विषयो पर साधिकार लेखनी चलाई और बहुत ही मार्मिक एवं विशाल साहित्य का सृजन कर जीवन को प्रबुद्ध और प्रगतिशील बनाया।

आचार्य हेमचन्द्र एक जैनाचार्य थे अत. जैन सिद्धान्तो के प्रति उनकी स्वाभाविक अभिरुचि थी। तथापि जीवनोत्थान की प्रेरणा देने वाला ऐसा कोई विषय नही जिस पर उन्होंने न लिखा हो। वे एक समर्थ और सफल साहित्यकार थे। उनके द्वारा रचित साहित्य इतना रोचक, मर्मस्पर्शी और सजीव है कि पाश्चात्य विचारक भी उनपर मुग्ध हुए बिना न रहे और उन्होने उनको ज्ञान का महान् सागर Ocean of Knowledge कहा है। उनकी प्रत्येक रचना में नया दृष्टिकोण, नयी शैली, और नया चिन्तन है। उनके अगाध पाण्डित्य और गभीर चिन्तन के कारण ही उन्हे 'कलिकाल सर्वज्ञ' की उपाधि से अलंकृत किया गया।

उनकी विलक्षण प्रतिभा ने जिन ग्रन्थो का प्रणयन किया उसका संक्षिप्त वर्णन सोमप्रभसूरी ने, जो उनके समकालीन थे, इस प्रकार किया है—

> क्लृप्तं व्याकरण नव, विरचित, छन्दोनवं, द्वयाश्रया-
> लकारौ प्रथितौ नवौ, श्री योगशास्त्रं नव प्रकटित।
> तर्क. सजनितो नवो, जिनवरादीना चरित्रं नव
> वद्धं येन न केन केन विधिना मोह. कृत. दूरतः।

उन्होंने सरस्वती के भण्डार मे जो अमर कृतियाँ अर्पित की उनमे आद्यकृति कौन सी है इसका कही भी स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नही है तथापि विज्ञो की धारणा

है कि उन्होंने सर्वप्रथम व्याकरण को रचना की थी। व्याकरण निर्माण की भी एक मनोरंजक घटना है।

विक्रम सवत्-११९३ में सिद्धराज जयसिंह मालव पर विजय पताका फहरा कर गुजरात लौटे। मालव से सम्पत्ति के साथ ही वे विशाल साहित्य-सामग्री भी लेकर आये। जब उन्होंने भोजराज विरचित सरस्वती कंठाभरण नामक व्याकरण देखा तो उनको इच्छा हुई कि मेरे राज्य में भी व्याकरण होना चाहिए। उन्होंने उसी समय आचार्य हेमचन्द्र को बुलाया और निवेदन किया—हे मुनि पुंगव! आप अविलम्ब एक व्याकरण का निर्माण करें जो ससार के मानवो के लिए उपकारक हो, मेरा यश फैलावे और आपकी ख्याति बढावे[1]।

आचार्य हेमचन्द्र के पूर्व पाणिनी, चान्द्र, पूज्यपाद शाकटायन, भोजदेव आदि कितने ही वैयाकरण हो चुके थे। उन्होंने अपने समय में उपलब्ध समस्त व्याकरण साहित्य का अध्ययन कर एक सर्वांगपूर्ण, उपयोगी एव सरल व्याकरण का निर्माण कर सस्कृत और प्राकृत दोनो भाषाओ को पूर्णतया अनुशासित किया। उन्होंने उस समय प्रचलित अपभ्रंश भाषा का अनुशासन लिखकर उस भाषा को अमरत्व प्रदान किया और अपभ्रंश के प्राचीन दोहो को उदाहरण के रूप मे उपस्थित कर लुप्त होती हुई महत्त्वपूर्ण साहित्य सामग्री को रक्षा की। उन्होंने धातु और प्रातिपदिक, प्रकृति और प्रत्यय, समास और वाक्य, कृत और तद्धित, अव्यय और उपसर्ग प्रभृति का निरूपण, विवेचन और विश्लेषण विशिष्ट ढग से प्रस्तुत किया।

शब्दानुशासन के क्षेत्र में आचार्य हेमचन्द्र ने पाणिनी, भट्टोजिदीक्षित, और भट्टि का कार्य अकेले हो सम्पन्न किया। उन्होंने सूत्र, वृत्ति के साथ प्रक्रिया और उदाहरण भी लिखे। संस्कृत शब्दानुशासन सात अध्याय मे और प्राकृत शब्दानुशासन एक अध्याय में, इस प्रकार उनका शब्दानुशासन अष्टाध्यायी में विभक्त है। संस्कृत शब्दानुशासन के उदाहरण सस्कृत द्वयाश्रय काव्य में और प्राकृत शब्दानुशासन के उदाहरण प्राकृत द्वयाश्रय काव्य मे लिखे गये है।

सस्कृत शब्दानुशासन के प्रथम अध्याय में २४१ सूत्र, द्वितीय मे ४६० सूत्र, तृतीय में ५२१ सूत्र, चतुर्थ में ४८१ सूत्र, पंचम में ४९८ सूत्र षष्ठ में

---

१. यशोमम तव ख्याति. पुण्य च मुनिनायक।
विश्वलोकोपकाराय, कुरु व्याकरण नवम्॥
—प्रभावक चरित्रम्-हेमचन्द्रसूरि प्रबन्ध ८४

६९२ सूत्र, और सप्तम में ६७३ सूत्र है। आठवें अध्याय में १११९ सूत्र हैं। कुल सूत्र संख्या ३५६६ है।

प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में संज्ञाओ का निरूपण है। इसमे स्वर, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, नाभी, समान, सन्ध्यक्षर, अनुस्वार, विसर्ग, व्यंजन, घुट्, वर्ग, अघोष, घोषवत्, अन्तस्थ, शिट्, स्व, प्रथमादि, विभक्ति, पद, वाक्य, नाम, अव्यय, और सख्यावत् इन चौबीस का प्रतिपादन किया गया है। प्रस्तुत प्रकरण में आचार्य हेमचन्द्र ने व्यजन और विसर्ग इन दोनो सन्धियो का सम्मिलित रूप से विवेचन किया है।

द्वितीय अध्याय के पहले पाद में अवशेष शब्द रूपो की चर्चा, दूसरे पाद मे कारक, तीसरे पाद में षत्व-णत्व विधान और चौथे पाद में स्त्री प्रत्यय प्रकरण है।

तीसरे अध्याय के पहले और दूसरे पाद में समास प्रकरण, तीसरे और चौथे पाद में आख्यात प्रकरण आया है।

चौथे अध्याय के चारो पादो में भी आख्यात प्रकरण का ही नियमन किया गया है।

पाँचवे अध्याय के चारो पादो में कृदन्त, और छट्ठे तथा सातवें अध्याय में तद्धित प्रकरण सन्निविष्ट है।

आठवा अध्याय प्राकृत भाषा का अनुशासन करता है। उसमें चार पाद हैं। प्रथम पाद में स्वर और व्यंजन विकार, द्वितीय मे संयुक्त-विकार, तृतीय में सर्वनाम, कारक, कृदन्त, और चतुर्थपाद में धात्वादेश, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका, तथा अपभ्रंश का अनुशासन वर्णित है। प्राकृत भाषा के परिज्ञान के लिए इससे बढकर सर्वांग पूर्ण व्याकरण अन्य नही है। जिस प्रकार पाणिनी ने वैदिक संस्कृत और लौकिक सस्कृत भाषा का अनुशासन किया वैसे ही आचार्य हेमचन्द्र ने लौकिक संस्कृत और उसके निकटवर्ती प्राकृत का नियमन उपस्थित किया। *हैमशब्दानुशासन* इतना परिपूर्ण ग्रन्थ है कि उसके अध्ययन से लोक प्रचलित सभी पुरातन भारतीय भाषाओ की यथेष्ठ जानकारी हो जाती है।

पण्डित बेचरदास जी दोशी ने लिखा है—अभ्यास की सुगमता की दृष्टि से पाणिनी के सूत्रो की योजना की अपेक्षा हेमचन्द्र के सूत्रो की योजना विशिष्ट और सरल है। संज्ञाएं भी सुगम व सुबोध है।[१] प्रबन्ध चिन्तामणि में भी

---

२. गुजरात नू प्रधान व्याकरण—पं॰ बेचर दास दोशी।

अन्य व्याकरणों से इस व्याकरण की अपनी मौलिक विशेषता है, उस पर प्रकाश डाला गया है।[१]

आचार्य हेमचन्द्र की पाणिनि से तुलना करने पर सहज ही ज्ञात होता है कि आचार्य हेमचन्द्र पर पाणिनि का स्पष्ट प्रभाव है तथापि उनमें बहुत कुछ नवीनता और मौलिकता है। आचार्य हेमचन्द्र ने स्वर, व्यंजन, विधान सज्ञाओ का विवेचन करने के पश्चात् वैज्ञानिक निरूपण किया है, जिसका पाणिनि व्याकरण में पूर्ण अभाव है। पाणिनि में वाक्य की परिभाषा नही है। कात्यायन ने वाक्य की परिभाषा 'एकतिङ्वाक्यम्' दी है पर वह अपूर्ण है किन्तु हेमचन्द्राचार्य ने वाक्य की बहुत ही स्पष्ट परिभाषा दी है[२]। मूलसूत्र में सविशेषण आख्यान की वाक्य संज्ञा बताई गई है। यहाँ पर आख्यात विशेषण का अर्थ है अव्यय, कारक, सज्ञा विशेषण और क्रिया विशेषणो का साक्षात् या परम्परा से रहना। सूत्र की वृत्ति से स्पष्ट है कि प्रयुज्यमान और अप्रयुज्यमान आख्यात की ही वाक्य में प्रधानता रहती है। यहाँ पर विशेषण शब्द से संज्ञा विशेषण को ही केवल ग्रहण नही किया गया है किन्तु साधारण रूप से इसे अप्रधान रूप से ग्रहण किया है। वैयाकरणो की दृष्टि से आख्यात का अर्थ प्रधान होता है। अपनी वाक्य परिभाषा का सम्बन्ध आचार्य हेमचन्द्र ने 'पदायुग्विभक्त्येक वाक्ये रस्नसौ बहुत्वे'[3] सूत्र से भी माना है। इस प्रकार पाणिनि तंत्रकारो की अपेक्षा हेमचन्द्राचार्य की वाक्य परिभाषा अधिक तर्क सगत है।

सात सूत्रो में आचार्य हेमचन्द्र ने अव्यय संज्ञा का निरूपण किया है। उन्होने निपात संज्ञा को ही अव्यय सज्ञा में विलीन कर लिया है, यह उनकी विशेषता है। उन्होंने चादि को निपात न मानकर अव्यय माना है।

---

१. भ्रात. सवृणु पाणिनि प्रलपित कातन्त्रकथा वृथा,
मा कार्षी: कटु शाकटायन वच क्षुद्रेण चान्द्रेण किम्?
किं कण्ठाभरणादिभिर्वठस्य त्यात्मानमन्यैरपि,
श्रूयन्ते यदि तावदर्थमधुरा श्रीसिद्धहेमोक्तय।
—प्रबन्ध चिन्तामणि

२. सविशेषणमाख्यातं वाक्यम् १।१।२६

त्याद्यन्त पदमाख्यात साक्षात्पारम्पर्येण वा यान्याख्यातविशेषणानि तैः प्रयुज्यमानैरप्रयुज्यमानैर्वा सहित प्रयुज्यमानमप्रयुज्यमानं वा आख्यातं वाक्यसंज्ञ भवति। —हैमशब्दानुशासन १।१।२६

३. २।१।२१

इत् प्रत्यय और संख्यावत् संज्ञाओ का विवेचन भी पूर्ण है। उन्होंने पाणिनि व्याकरण का अवलोकन करके भी उनकी संज्ञाओ को ग्रहण नही किया। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञाएं पाणिनि ने भी लिखी है किन्तु उन संज्ञाओं में स्पष्टता और सहज सुगमता लाने के लिए एक, द्वि, त्रि मात्रिक को क्रमश: ह्रस्व दीर्घ और प्लुत कहा है।

हेमचन्द्राचार्य ने प्रत्याहारो का निरूपण नही किया है। वर्णमाला के वर्णो को लेकर ही संज्ञा का विधान किया है। पाणिनी ने प्रत्याहारों द्वारा संज्ञाओ का वि ्चन किया है जिसके कारण विना प्रत्याहारो को स्मरण किये संज्ञाओ का अर्थबोध नही हो सकता, अतः हेमचन्द्राचार्य का संज्ञाविधान पाणिनी की अपेक्षा सरल और सुबोध है। इस प्रकार पाणिनी के व्याकरण से हेमचन्द्राचार्य के व्याकरण में अनेक विशेषताएँ है।

व्याकरण के निर्माण के पश्चात कहा जाता है कि ३०० लेखको से उसकी प्रतिलिपिया तैयार करवाई गई और अन्य राज्यो में भी वे प्रचारार्थ भेजी गईं। काश्मीर मे उसकी बीस प्रतिया भेजी गईं। उसके शिक्षण का प्रबन्ध भी राज्य स्तर से किया गया। कायस्थ कुल का 'काकल' नामका एक विद्वान्, जो व्याकरण का प्रकाण्ड पंडित था, अध्यापक रखा गया। हैमशब्दानुशासन इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि अनेक विद्वानो ने उस पर टीकाएँ निर्मित की।
वे टीकाएँ ये है —

नाम	लेखक
लघुन्यास	हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र गणी
लघुन्यास	धर्मघोष
न्यासोद्धार	कनकप्रभ
हैमलघुवृत्ति	काकल कायस्थ
हैमवृहद्वृत्ति ढुढिका	सौभाग्य सागर
हैमढुढिका वृत्ति	उदयसौभाग्य
हैमलघुवृत्ति ढुंढिका	मुनि शेखर
हैम अवचूरि	धनचन्द्र
प्राकृतदीपिका	द्वितीय हरिभद्र
प्राकृत अवचूरि	हरिप्रभ सूरि
हैमचतुर्थपाद वृत्ति	हृदय सौभाग्य
हैमव्याकरण अवचूरि	जिनसागर

हैमदुर्गपद प्रबोध	रत्नशेखर
हैमकारक सुच्चय	ज्ञानविमल शिष्यवल्लभ
हैमवृत्ति	श्री प्रभसूरि

संस्कृत द्वयाश्रय

द्वयाश्रय नाम से ही यह स्पष्ट है कि उसमें दो तथ्यो पर प्रकाश डाला गया है। चौलुक्य वंश की परम्परा पर और व्याकरण के सूत्रो के उदाहरणों पर। इस महाकाव्य का निर्माण कर कवि ने अपनी विशिष्ट प्रतिभा का परिचय दिया है। इस महाकाव्य में बीस सर्ग हैं। महाकाव्य में जो वर्णन और विश्लेषण अपेक्षित है उसका इसमें पूर्ण निर्वाह हुआ है। सृष्टि वर्णन, ऋतुवर्णन, रसवर्णन, आदि सभी विषयो का वर्णन इसमें हुआ है। चौलुक्य वंश का सविस्तृत इतिहास चित्रित किया गया है। उनके राज्य का प्रारम्भ कैसे हुआ? किस प्रकार उतार और चढ़ाव आये? किस प्रकार गुजरात और मालव में स्पर्धा जागृत हुई? किस प्रकार उन्होने सांस्कृतिक और राजनैतिक प्रगति की? आदि सभी विषयों पर विशद् वर्णन किया गया है। दूसरी ओर यह लक्षण ग्रन्थ भी है। इसमें महाकाव्य और व्याकरण इन दोनो का सुमेल है। यह ग्रन्थ २८८८ श्लोको में आवद्ध है। वीस सर्ग में यह काव्य विक्रम स० १४१२ में अणहिलपुर पाटण में पूर्ण हुआ। इस काव्य पर अभयतिलक गणी ने १७१७ श्लोक प्रमाण टीका लिखी है।

प्राकृत द्वयाश्रय

इस काव्य में कुमारपाल के चरित्र का विस्तार से वर्णन किया गया है। संस्कृत द्वयाश्रय में चौलुक्य वंश का इतिहास और कुमार पाल के राज्य गद्दी पर बैठने तक का वर्णन है। इसमें उनकी धर्म निष्ठा, नीति, परोपकारिता, आचरण, सांस्कृतिक चेतना, धार्मिक उदारता, नागर जनो के साथ सम्बन्ध, जैन धर्म में दीक्षित होना आदि सभी का विस्तार-पूर्वक रोचक वर्णन किया गया है। इसमें आठ सर्ग और ७४७ गाथाएँ हैं। विक्रम सम्वत् १३७१ में पूर्ण कलशगणी ने इस पर एक टीका भी लिखी है।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्—

इस महा ग्रन्थ में त्रशठश्लाघनीय पुरुषों का जीवन चरित्र है। २४ तीर्थकर, १२ चक्रवर्ती ९ वलदेव, ९ वासुदेव, और ९ प्रति वासुदेव इनके पवित्र-चरित्र का विस्तार से वर्णन है। इस ग्रन्थ में दस पर्व हैं। आगम प्रभावक

पं० पुण्य विजय जी के अमितानुसार इस ग्रन्थ में ३२००० श्लोक हैं। जर्मन विद्वान् डाक्टर बुल्हर के अभिमतानुसार इसका रचना काल १२२६ से १२२९ के बीच का है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आत्मा, परमात्मा, कर्म, परलोक, धर्म, आदि सभी विषयों पर विस्तार से तर्क पुरस्सर चर्चा की गई है। 'यदिहास्ति तदन्यत्र यत्रेहास्ति न कुत्रचित्' की उक्ति के अनुसार ऐसा लगता है इसमें कुछ भी अवर्णित नही रहा। इसमे तात्कालिक सामाजिक स्थिति का भी यत्र तत्र सुन्दर निरूपण है।

कोश

किसी भी भाषा के शब्द समूह का रक्षण और पोपण कोश के द्वारा होता है। जैसे राजाओ और राष्ट्रो का कार्य कोश के बिना नही चलता। कोश के अभाव में शासन सूत्र के संचालन में क्लेश होता है, वैसे ही विद्वानो को भी शब्द कोश के विना अर्थ-संग्रह में क्लेश होता है[1] एतदर्थ ही आचार्य हेमचन्द्र ने चारकोश ग्रन्थो की रचना की। अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थ संग्रह, निघण्टु, और देशीनाम माला। इनमें से प्रथम तीन संस्कृत भापा के कोश हैं और चतुर्थ देशी शब्दो का संग्रह है। निघण्टु वनस्पतिशास्त्र का कोश है।

अभिधानचिन्तामणि

इस कोश में तीर्थङ्करों के नाम, पर्यायवाची शब्द, उनके माता पिता के नाम, अतिशयो के नाम, तीर्थंकरो के ध्वजचिह्न, उनकी जन्म भूमियाँ आदि सभी का वर्णन है। चतुर्थ काण्ड में नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति आदि की नामावली में त्रस और स्थावर के शब्दो का इतने विस्तार के साथ निरूपण किया गया है कि अन्य संस्कृत भाषा के किसी भी कोश में इतने पर्यायवाची शब्द नही हैं।

यह कोश पद्यमय है, इसमें छ काण्ड हैं और कुल १५४२ श्लोक।

अनेकार्थ संग्रह नाम कोश

अभिधान चिन्तामणि में एक शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द बतलाये हैं और इस कोश में एक शब्द के अनेक अर्थों का संकलन किया गया है। शैली की दृष्टि से यह भी अभिधान चिन्तामणि के समान ही है। इसमें सात काण्ड है, कुल १९३१ श्लोक हैं।

---

१. कोशश्चैव महीपाना, कोशश्च विदुषामपि।
उपयोगो महानेषः क्लेशस्तेन विना भवेत्॥

निघंटु शेष

यह वनस्पति कोश है। इसमें छ काण्ड हैं कुल ३९६ श्लोक हैं। इस कोश की रचना के पूर्व आचार्य हेमचन्द्र ने धनवन्तरि निघण्ट, राजकोश निघण्टु, सरस्वती निघण्टु, आदि सभी कोशो का मथन किया था और एक नवीन निघण्टु तैयार किया। डाक्टर बुल्हर ने इस कोश को श्रेष्ठ वनस्पति कोश माना है।[1] (Botauical Dictionary)।

देशीनाममाला

यह कोश अत्यन्त महत्वपूर्ण और उपयोगी है। प्रस्तुत कोश के आधार से आधुनिक आर्य भाषाओ के शब्दो की आत्मकहानी लिखी जा सकती थी। प्राकृत भाषा में तीन प्रकार के शब्द हैं—(१) तत्सम, (२) तद्भव और (३) देशी। जिनकी ध्वनिया संस्कृत के समान रहती है और जिनमें किसी भी प्रकार का वर्णविकार उत्पन्न नही हुआ, वे तत्सम शब्द हैं। जैसे देवो, नीर, कठ आदि। जिन शब्दो को सस्कृत ध्वनियो में वर्णलोप, वर्णागम, वर्णविकार या वर्णपरिवर्तन के द्वारा जाना जाय वे तद्भव शब्द है। जैसे—इष्ट का इट्ठ, गज का गय, ध्यान का झाण, धर्म का धम्म। जिन प्राकृत शब्दो की व्युत्पत्ति प्रकृति, प्रत्यय, विधान से संभव न हो और जिसका अर्थ रूढी पर अवलम्वित हो वे देश्य या देशी शब्द हैं। जैसे इराव=हस्ती, अगय=दैत्य, आकासिय=पर्याप्त आदि। देशीनाममाला में इसी प्रकार के नामो का संकलन है। जो शब्द न तो व्याकरण से व्युत्पादित हैं और न संस्कृत कोशो में निवद्ध हैं तथा लक्षणाशक्ति के द्वारा भी जिनका अर्थ प्रसिद्ध नही हैं ऐसे शब्द प्रस्तुत ग्रन्थ में सकलित हैं। देशी शब्दो से यहा पर महाराष्ट्र, विदर्भ, आभीर आदि प्रान्तो में प्रचलित शब्दो का संकलन नही है किन्तु यहाँ अतीतकाल से प्रचलित प्राकृत भाषा के शब्द ही देशी शब्द हैं।[2]

वर्णक्रम से लिखे गये इस कोश में आठ अध्याय हैं और कुल ७८३ गाथाएं हैं तथा ३९७८ कुल शब्दो का संकलन हुआ है[3]। धनपाल रचित 'पाइअ लच्छी-

---

1. Buhler life of Hemchandracharya. P. 37.

२ जे लक्खणे ण सिद्धाण, पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु।
ण य गउण लक्खणा, सन्ति संभवा ते इह निवद्धा॥
देसविसेसप्पसिद्धीइ, भण्णमाणा अणंतया हुंति।
तम्हा अणाइयाइअपयट्ट भासविसेसओ देसी॥

३. विशेष के लिए देखें—प्रो० मुरलीधर वनर्जी द्वारा सम्पादित देशीनाम का Introduction Page 33.

नाममाला' प्राकृत के आरंभिक अभ्यासियो के लिए उपयोगी है किन्तु यह नाम-माला प्रौढ़ विद्वानो के लिए भी उपयोगी है।

काव्यानुशासन

काव्यानुशासन आचार्य हेमचन्द्र की अलंकार विषयक एक सफल रचना है। वाग्भट्ट ने भामह, दण्डी और रुद्रट की भाँति अपना वाग्भटालंकार श्लोको में लिखा था किन्तु हेमचन्द्राचार्य ने अपना काव्यानुशासन वामन की तरह सूत्र शैली में लिखा है। सूत्रो में अलंकार शास्त्र संबन्धी कविशिक्षा, अलंकार, रस, ध्वनि गुण, दोष, और साथ ही नाटकीय तत्त्वो का भी विशद् विवेचन किया है। सूत्रो पर अलंकार चूडामणि नामक लघुवृत्ति और विशेष ज्ञातव्य बातो को समझाने के लिए विवेक नामक एक विस्तृत टीका भी स्वयं उन्होने लिखी है।[१] अलंकार आदि सिद्धान्तो के समर्थन के लिए विवेक में ६०० और अलंकार चूड़ामणि में ७०० पद्य उद्धृत किये हैं। उदाहरणो का चयन भी बहुत सुन्दर हुआ है।

विषय की दृष्टि से काव्य प्रकाश ध्वन्यालोक और काव्य मीमासा आदि की अपेक्षा काव्यानुशासन में अधिक विस्तार से निरूपण हुआ है। काव्य प्रकाश में मम्मट ने नाटकीय तत्त्वो पर प्रकाश नही डाला है जब कि आचार्य हेमचन्द्र ने उस पर एक पूरा प्रकाश लिखा है। उन्होने ध्वनिसिद्धान्त का भी जोरदार शब्दो में समर्थन किया। अलंकार चूडामणि और विवेक वृत्ति से विभूषित होकर काव्यानुशासन काव्य प्रकाश से भी अधिक महत्त्वशाली हो गया।

मधुसूदन मोदी ने अन्य लक्षण व अलंकार ग्रन्थो को दुर्बोध माना है और काव्यानुशासन को सरल तथा सुबोध स्वीकार किया है।[२]

योगशास्त्र

महाराजा कुमारपाल के निवेदन पर हेमचन्द्राचार्य ने योगशास्त्र की रचना की। इस ग्रन्थ में बारह प्रकाश और १०१२ श्लोक हैं। यह ग्रन्थ गृहस्थ जीवन को लक्ष्य में रखकर लिखा गया है। गृहस्थ जीवन में रहकर के भी आत्मसाधना किस प्रकार की जा सकती है, यही उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। इसमें चतुर्थ प्रकाश तक अणुव्रत का विवेचन किया गया है। पचम प्रकाश से आगे योग का परिभाषा, व्यायाम, रेचक, कुंभक, पूरक आदि का विवेचन कर चित्त की स्थिरता के लिए आसन आदि साधन बताये हैं। पातजल योगसूत्र में प्राणायाम

---

१. विवरीतुं क्वचित् दृब्धं, नवं सन्दर्भितं क्वचित्।
काव्यानुशासनस्यायं, विवेक. प्रवितन्यते ॥

२. हेमसमीक्षा देखें।

को योग का चतुर्थ अग माना है और उसे मुक्ति के प्रधान साधन के रूप में स्वीकार किया है परन्तु जैन विचारक मोक्ष-साधना के साधन रूप ध्यान में इसे सहायक नही मानते। उन्होने साधक के लिए प्राणायाम और हठयोग की साधना का स्पष्ट शब्दो में निषेध किया है।[1] प्राणायाम से मन का कुछ समय के लिए निरोध हो जाता है परन्तु उसमें एकाग्रता और स्थिरता नही आती और इस प्रक्रिया से मन में शान्ति का प्रादुर्भाव भी नही होता।

योगशास्त्र के अभ्यास से आध्यात्मिक जीवन को सम्यक् प्रेरणा प्राप्त होती है, व्यक्ति वहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होता है एतदर्थ ही कुमारपाल उसका प्रतिदिन स्वाध्याय करता था।

यश पाल ने योगशास्त्र की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि यह मुमुक्षुओ के लिए वज्रकवच के समान है[2]। योगशास्त्र की तुलना आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव से की जा सकती है। हेमचन्द्राचार्य ने इस पर वृत्ति भी लिखी है।

प्रमाणमीमांसा—

यह प्रमाणशास्त्र पर आचार्य हेमचन्द्र की महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें पहले सूत्र है और फिर उनकी स्वोपज्ञ व्याख्या। इस ग्रन्थ की सवसे महान् विशेषता है कि यह सूत्र और व्याख्या दोनो को मिलाकर भी मध्यमकाय है। यह न तो परीक्षामुख और प्रमाणनय तत्त्वलोक जितना संक्षिप्त ही है और न प्रमेयकमल मार्तण्ड और स्याद्वाद रत्नाकर जितना विशाल ही है। इसमें न्यायशास्त्र के के महत्वपूर्ण प्रश्नो का प्रतिपादन किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ को समझने के लिए न्यायशास्त्र की पूर्वभूमिका अपेक्षित है। इस समय यह ग्रन्थ पुर्ण उपलब्ध नही है। जव यह ग्रन्थ पूर्ण प्राप्त होगा, तव जैन न्याय शास्त्र के गौरव में बहुत अभिवृद्धि होगी।

इनके अतिरिक्त अयोगव्यवच्छेदिका और अन्ययोगव्यवच्छेदिका नाम की दो द्वात्रिंशिकाएँ भी लिखी। इनमें से अन्ययोगव्यवच्छेदिका पर मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी नामक टीका लिखी है जो शैली तथा सामग्री सभी दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है।

---

१. तन्नाप्नोति मन स्वास्थ्यं, प्राणायामै. कदर्थितम्।
प्राणस्यायमने पीडा तस्या स्याच्चित-विप्लव ॥
—योगशास्त्र ६।४

२. मोहन पराजय

इन कृतियो के अतिरिक्त अर्हन्नीति नाभेयनेमिद्विसंधान-काव्य, द्विजवदन-चपेटा, वीतराग स्तोत्र आदि अनेक कृतियाँ हेमचन्द्र की मानी जाती हैं। उनके अनेक ग्रन्थ अनुपलब्ध है और बहुत से अप्रकाशित हैं। कहा जाता है कि उन्होंने कुल मिलाकर साढे तीन करोड श्लोको की रचना की थी[1]।

मुनि श्री जिन विजय जी लिखते है "हेमचन्द्र की कृतियो के समान दूसरे आचार्यों की रचनाएँ प्रचार-प्रसार का अवसर न पा सकी। इनकी रचनाओ को राजाओ ने जैनेतर अनेक भण्डारो में भिजवाया था तथा दूर-दूर तक पहुँचाने की व्यवस्था की थी। संरक्षण की दृष्टि से कहा जाता है कि कुमार पाल ने सात सौ लेखको को अपने आश्रय मे रखकर हेमचन्द्र के ग्रन्थ लिपिबद्ध कराये थे और अपने राज्य में इक्कीस बडे-बडे ज्ञान भण्डार भी स्थापित कराये थे।[2]

डाक्टर हर्मन जैकोवी और बुल्वर ने आचार्य हेमचन्द्र के साहित्य का गहरा अध्ययन कर मननीय निबन्ध भी लिखे।

आचार्य हेमचन्द्र एक सफल साहित्यकार थे। उन्होने बहुत विशाल और मार्मिक साहित्य का सृजन कर अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा का परिचय दिया। उनका सम्पूर्ण साहित्य शान्तरस से आप्लाविस है। उनमें आध्यात्मिकता का स्वर मुखरित है। उनका ज्ञान गंभीर और व्यापक है एतदर्थ उनकी रचनाएँ भी बहुत गहरी, मर्मभेदी और सूक्ष्म विचारधारा को लिए हुए हैं। उनके सम्पूर्ण साहित्य सागर का मंथन कर पाना बडा ही कठिन है। आगमिक, दार्शनिक, साहित्यिक, सामाजिक और राजनैतिक सभी में उनकी गति कही भी स्खलित नही होती इसीलिए वे कलिकाल सर्वज्ञ की उपाधि से विभूषित किये गये।

---

१. भिक्षुस्मृति ग्रन्थ, जैनअलंकार साहित्य-पृ० २०६

२. हेमसमीक्षा—ले० मधुसूदन पुरोवचन।

८

नवाङ्गी टीकाकार अभयदेव

प्रतिभा की तेजस्विता ही विशिष्ट व्यक्तित्व के निर्माण का प्रमुख कारण है। आचार्य प्रवर अभयदेव का चमकता हुआ व्यक्तित्व और कृतित्व यह प्रमाणित करता है कि वे एक उदारचेता एव प्रखर पाण्डित्य के धनी महापुरुष थे जिन्होने अपने प्रवल पाण्डित्य और उत्कृष्ट चारित्र के प्रभाव से तात्कालिक विकृतिमूलक परम्पराओ का प्रतीकार कर समत्व की साधना का विशिष्ट पथ प्रशस्त किया।

अन्य आचार्यों की भाँति आचार्य अभयदेव ने भी अपने वैयक्तिक जीवन के सम्बन्ध में वहुत ही कम लिखा है। वृत्तियो की अन्तिम प्रशस्तियो में अपने पूर्वाचार्यों का, वृत्तियो के रचना काल व स्थान का निर्देश किया है, साथ ही स्नेही सन्तजनों के मधुर सहयोग का स्मरण करते हुए रचना के उद्देश्य पर भी प्रकाश डाला है।

परवर्ती इतिहास विज्ञो ने अभयदेव के सम्बन्ध मे जो कुछ भी लिखा है वह सर्वथा निर्भ्रान्त तो नही है तथापि उनके जीवन को समझने में उपयोगी है, ऐसा कहा जा सकता है।

सर्वप्रथम हमारा ध्यान वहिर्साक्ष्य में प्रभावकचरित्र पर केन्द्रित होता है जिसका रचनासमय वि० सं० १३३४ है। उसमें उनके प्रारभिक जीवन, साधना और मरण के सम्बन्ध में सक्षेप में उल्लेख किया गया है। १६ वी शताब्दी में सकलित, 'पुरातन प्रबन्धसंग्रह' में भी पूर्वोक्त ग्रन्थ की घटनाएं ही दृष्टिगोचर होती हैं। 'प्रबन्धचिन्तामणि' और तीर्थकल्प गणधरसार्धशतकान्तर्गत तथा 'उपदेशसप्तसप्तिका' में आचार्य के जीवन की कुछ घटनाए दी गई हैं किन्तु उनमें जन्मस्थान आदि के सम्बन्ध में कुछ भी उल्लेख नही है। ये सभी रचनाएं आचार्य अभयदेव के स्वर्गवास के द्विशती के पश्चात् की हैं, और उनमें अतिरजित घटनाएं व चमत्कारपूर्ण किंवदन्तियां सम्मिलित हैं।

प्रभावकचरित्र के अनुसार इनका जन्मस्थान धारानगरी है जिसका सांस्कृतिक गौरव और इतिहास महत्वपूर्ण रहा है और जहाँ गीर्वाणगिरा के यशस्वी कवि कालिदास ने काव्य की शीतल मन्दाकिनी प्रवाहित की, सम्राट् भोज ने विश्व-विश्रुत विद्यालय की स्थापना कर दृष्टि सम्पन्न कलाकारो का निर्माण किया और जो अध्यात्म-साधना साहित्य संस्कृति, कला व सभ्यता की समन्वय भूमि है। अभयदेव वर्ण से वैश्य थे। इनके पिता का नाम महीधर [1] और माता का नाम धनदेवी था। जिनेश्वर सूरि के प्रभावपूर्ण प्रवचनो से प्रभावित हो कर अभय देव ने सांसारिक ऐश्वर्य और भौतिक-वैभव को त्यागकर जैन दीक्षा अंगीकार की। गुरु के चरणो मे बैठकर सविनय न्याय, साहित्य, व्याकरण और आगमो का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त किया। प्रतापपूर्ण प्रतिभा और प्रकाण्ड पाण्डित्य को देखकर जिनेश्वर सूरि ने इन्हें आचार्य पद प्रदान किया।

आचार्य अभयदेव के समय चैत्य परम्परा मे दिनानुदिन शैथिल्य वृद्धिगत हो रहा था। वैराग्य की मूर्तिमंत जैन परम्परा भोग-रोग से ग्रसित होती जा रह थी। आचार शैथिल्य को अक्षम्य अपराध मानने वाले अभयदेव सूरि ने उस स्थिति का चित्रण इन शब्दो मे किया—देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तक की परम्परा को मैं भाव परम्परा मानता हूँ। इसके बाद शिथिलाचारियो ने अनेक द्रव्य परम्पराओ का प्रवर्तन कर दिया।[2] अभयदेव ने चैत्यवासियो के विरुद्ध आन्दोलन किया। उनकी कटु आलोचना की। किन्तु उनका वह विरोध व्यक्तिगत न होकर सैद्धान्तिक था, ग्रहण की गई शैथिल्य मूलक नीति से था। शिथिलाचार को समूल नष्ट करने के लिए आगमो के रहस्यो का ज्ञाता होना वे आवश्यक ही नही, अनिवार्य समझते थे।

आगम-उच्चतम लोकोत्तर चिन्तन का प्रधान स्रोत है। श्रमण संस्कृति के आचार विचार का भव्य-भवन जिस पर आधारित है उसकी उपेक्षा और दुर्दशा देखकर आचार्य अभयदेव का हृदय तिलमिला उठा। विज्ञो की कल्पना है कि सवत् ११२४ में आगम रहस्यो का समुद्घाटन करने वाली वृत्तियाँ लिखने का शुभ सकल्प उनके अन्तर्मानस मे समुत्पन्न हुआ होगा।

---

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग-३ पृ० ३९७ में पिता का नाम धनदेव दिया है।

२. देवड्ढि खमासमणजा, परपरं भावओ वियाणेमि।
सिढिलायारे ठविया, दव्वेण परम्परा बहुवहा।
—आगम अट्ठुत्तरी गाथा १४

अर्वदशक तक बाह्य साधन सामग्री एकत्रित कर सं० ११२० में पाटण के पवित्र प्राङ्गण में वृत्ति-लेखन का कार्य प्रारम्भ किया, जिसका उल्लेख प्रशस्तियो में स्वयं आचार्य ने किया है। उनको प्रथम वृत्ति स्थानाङ्ग सूत्र पर है जिसका रचना काल ११२० है[1] और अन्तिम रचना भगवतो सूत्र की वृत्ति मानी जाती है[2] जो विक्रम स० ११२८ में अणहिलपाटण नगर में पूर्ण हुई। इस प्रकार इनका वृत्तिकाल विक्रम सं ११२० से ११२८ है।

इस अवधि में सूरिजी मुख्यतः पाटण में रहे हैं। विक्रम सं० ११२४ में धोलका ग्राम में उन्होने याकिनी महत्तरा सूनु आचार्य हरिभद्र के पंचाशक ग्रन्थ पर विशिष्ट व्याख्या लिखी है। यह व्याख्या प्रमाणित करती है कि वे पाटण छोड़कर आस-पास के क्षेत्रो में भी कभी-कभी गये है।

टीकाओ के निर्माण में चैत्यवासियो के नेता द्रोणाचार्य का सहयोग प्रशंसनीय रहा है। जैसे राम को सुग्रीव का और तथागत बुद्ध को पंचवर्गीय भिक्षुओ का सहयोग प्राप्त हुआ, वैसे ही अभयदेव को द्रोणाचार्य का। इनका उल्लेख उन्होने अनेक स्थलो पर किया है।[3] द्रोणाचार्य ने अभयदेव द्वारा लिखित आगमग्रन्थो की व्याख्याओ को आद्योपान्त पढकर उनका शोधन कर औदार्यवृत्ति

---

१. श्री विक्रमादित्यनरेन्द्र कालाच्छतेन विशंत्याधिकेन युक्ते
समासहस्त्रेऽतिगते विदृब्धा, स्थानाङ्गटीकाऽल्पधियोऽपिगम्या।
—प्रशस्ति स्थानाग श्लोक ८ पृ० ५००

२. एकस्तयो' सूरिवरो जिनेश्वरः, ख्यातस्तथाऽन्योमुनि बुद्धिसागर.।
तयोर्विनेयेन विबुद्धिनाऽप्यल, वृत्ति कृतैषाऽभयदेवसूरिणा ॥ ५ ॥

अष्टाविंशतियुक्ते वर्षसहस्रे शतेन चाभ्यधिके।
अणहिलपाटकनगरे कृतेयमच्छुप्तश्रनिवसतौ ॥ १५ ॥

अष्टादसहस्राणि षट् शतान्यथ षोडश।
इत्येव मानमेतस्या श्लोकमानेन निश्चितम् ॥ १६ ॥
—व्याख्या प्रज्ञप्तिवृत्ति-प्रशस्ति

३ तथा सम्भाव्य सिद्धान्ताद् बोध्यं मध्यस्थयाद्दृिया।
द्रोणाचार्यादिभि. प्राज्ञैरनेकैरादृतं यत. ॥ ६ ॥
—स्थानाङ्ग वृत्ति प्रशस्ति

(ख) निर्वृतककुलनभस्तलचन्द्रद्रोणाख्यसूरिमुख्येन।
पण्डित गुणेन गुणवत्प्रियेण संशोधिता चेयम् ॥ १० ॥
—ज्ञाताधर्मकथा वृत्ति-प्रशस्ति

और आगमप्रेम का पुनीत परिचय दिया। यह सत्य है कि अभयदेव को यदि द्रोणाचार्य का सहयोग प्राप्त न होता तो वे उस विराट् कार्य को इतनी शीघ्रता से सम्पादन नही कर सकते थे।

अभयदेव के ऊर्जस्वित व्यक्तित्व का वास्तविक परिचय तो उनकी कृतियो से ही प्राप्त किया जा सकता है। वही उनके विचारो का मूर्तरूप है। साधारण से आधार पर अत्युच्च एवं विशद भावो को प्रकट करना सक्षम कलाकार की विशिष्टता है। उन्होने अपनी टीकाओ में विन्दु मे सिन्धु समाविष्ट कर अलौकिक प्रतिभा का परिचय दिया है। उनकी पाण्डित्य पूर्ण विवेचना शक्ति सचमुच प्रेक्षणीय है। उन्होने आगम रहस्यो को जिस सरलता से अभिव्यक्त किया है, वह उनके उच्चकोटि के सैद्धान्तिक ज्ञान का ज्वलंत प्रतीक है।

अभयदेव के सामने आगमो पर वृत्ति लिखते समय अनेक कठिनाइयाँ थी। उन्होने उनकी चर्चा करते हुए लिखा है :—

(१) सत् सम्प्रदाय का अभाव—अर्थबोध की सम्यक् गुरुपरम्परा प्राप्त नही है।

(२) सत् ऊह—अर्थ की आलोचनात्मक स्थिति प्राप्त नही है।

(३) आगम को अनेक वाचनाएँ है अर्थात् अध्यापन पद्धतियाँ हैं।

(४) पुस्तकें अशुद्ध है।

(५) कृतियाँ सूत्रात्मक होने के कारण बहुत गभीर हैं।

(६) अर्थ विषयक मतभेद भी हैं।[१]

इन सारी कठिनाइयो के उपरान्त भी उन्होने अपना प्रयत्न नही छोडा, और मर्मज्ञ अनुसंधाता की तरह सही पाठो का पृथक् करण कर वृत्तियाँ लिखी। यह कार्य कितना श्रम साध्य है, इसका अनुमान तो भुक्त भोगी ही कर सकता है।

(ग) अणहिलपाटनगरे श्रीमद्द्रोणाख्यसूरिमुख्येन।
पण्डितगुणेन गुणवत्प्रियेण संशोधिता चेयम्।
—औपपातिक वृत्ति ३॥ आगमोदय सस्करण

१ सत्सम्प्रदायहीनत्वात् सदूहस्य वियोगतः।
सर्वस्वपरशास्त्राणा—मदृष्टेरस्मृतेश्च मे ॥ १ ॥
वाचनानामनेकत्वात् पुस्तकानामशुद्धित।
सूत्राणामतिगाम्भीर्याद् मतभेदाच्च कुत्रचित् ॥ २ ॥
—स्थानाङ्ग वृत्ति प्रशस्ति—१-२

उनकी उल्लेखनीय रचनाएँ ये हैं :—

क्र.	रचना	संवत्	श्लोक संख्या		स्थान
(१)	स्थानाङ्ग वृत्ति	संवत् ११२०	श्लोक संख्या –	१४२५०	पाटण
(२)	समयाङ्ग वृत्ति	सवत् ११२०	,,	,, ०३५७५	,,
(३)	भगवती वृत्ति	,, ११२८	,,	,, १८६१६	,,
(४)	ज्ञातधर्मकथावृत्ति	,, ११२०	,,	,, ०३८००	,,
(५)	उपासक दशाग वृत्ति	,, ,,	,,	,, ८१२	,,
(६)	अन्तकृतदशासूत्र वृत्ति		,,	,, ००८९९	,,
(७)	अनुत्तरौपपातिक वृत्ति		,,	,, १९२	,,
(८)	प्रश्नव्याकरण वृत्ति		,,	,, ४६००	,,
(९)	विपाक वृत्ति		,,	,, ९००	,,
(१०)	औपपातिक वृत्ति		,,	,, ३१२५	,,
(११)	प्रज्ञापना तृतीय पद संग्रहणी		,,	,, १३३	,,
(१२)	पंचाशक सूत्रवृत्ति		,,	,, ७४८०	धोलका
(१३)	जयतिहुअण स्तोत्र		,,	,, ३०	थांभणा
(१४)	पंचनिर्ग्रन्थी		,,	,,	
(१५)	षष्ठकर्म ग्रन्थ-सप्तति का भाष्य		,,	,,	

उपर्युक्त ग्रन्थों में उनका साहित्यिक जीवन और सांस्कृतिक व्यक्तित्व निखर रहा है। साठ हजार के लगभग मौलिक श्लोकों का निर्माण कर जैन वाङ्मय की उन्होंने जो अभिवृद्धि की है, वह इस वैज्ञानिक और विकसित युग में भी अनुकरणीय है।

आचार्य अभयदेव के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्होंने टीकाओं के निर्माण में उपसर्ग उपस्थित न हो, एतदर्थ प्रारंभ से अन्त तक आचाम्ल व्रत किया।[1]

दीर्घकाल तक दिन में एक बार रूक्ष, लवण रहित, नीरस आहार को ग्रहण करना तथा साथ ही बौद्धिक श्रम करना कितना कठिन कार्य है। प्रभावक चरित्र और पुरातनप्रबन्ध संग्रह के अनुसार आचार्य अभयदेव को आचाम्लतप के कष्ट से तथा रात्रिजागरण से, और अत्यधिक श्रम करने से रक्त विकार

---

१. प्रभुभिग्रन्थसम्पूर्णतावधि यावद्
आचाम्लाभिग्रहोऽग्राहि सम्पूर्णेषु ग्रथेषु।
—पुरातन प्रबन्ध संग्रह

हो गया।[१] ऐसा भी कहा जाता है कि भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति करने से वे रोग से मुक्त हुए।[२] सोलहवी शताब्दी में रचित सोमधर्मगणि की उपदेशसप्तति मे कोढ रोग होने का उल्लेख है[3] और तीर्थकल्प में अतिसारव्याधि का[४]। रोग के भिन्न-भिन्न नामो का उल्लेख होने से यह तो स्पष्ट ही है कि वे किसी भयकर व्याधि से अवश्य ही ग्रसित हुए थे।

तीर्थकल्प गणधरसार्धशतकान्तर्गत प्रकरण आदि ग्रन्थो में ऐसा भी उल्लेख प्राप्त होता है कि रोग के उपशान्त होने पर उन्होने वृत्तियाँ लिखी।[५]

प्रभावक चरित्र में अभयदेव के स्वर्गवास का समय नही दिया है। वहाँ केवल इतना ही है कि वे पाटण में कर्णराज के राज्य में स्वर्गवासी हुए। पट्टावलियो में अभयदेव सूरि का स्वर्गवास विक्रम संवत् ११३५ मे तथा दूसरे अभिमत के अनुसार विक्रम संवत् ११३९ में होने का वर्णन है और उनमें पाटण के स्थान पर कपडवंज का उल्लेख है।

उल्लिखित पक्तियो मे नवाङ्गी वृत्तिकार अभमदेव सूरि का परिचय दिया गया है। परन्तु अभी भी बहुत सी ऐसी सामग्री है जो अन्वेषण की प्रतीक्षा में है। यदि विज्ञो का ध्यान उधर आकर्षित हुआ तो उनके जीवन की बहुत सी वास्तविक घटनाएँ प्रकाश में आ सकती हैं।

---

१. आचाम्ल तपः कष्टात्, निशायामतिजागरात्।
अत्यायासात् प्रभोर्जज्ञे, रक्तदोषो दुरायति.।
—प्रभावकचरित्र श्लोक १३०

(ख) आचाम्लतपसा रात्रिजागरणेन च प्रभूणा रक्तविकारो जात.।
—पुरातनप्रबन्धसंग्रह

२. नमः श्री वर्धमानाय, श्री पार्श्वप्रभवे नमः।
नमः श्रीमत्सरस्वत्यै सहायेभ्यो नमो नमः॥ —ज्ञाताधर्मकथा

३. कुष्ठ व्याधिरभूद्देहे —उपदेशसप्तति

४. तत्थ महावाहिवसेण, अईसाराई रोगे जाए। —तीर्थकल्प

५. तओ उवसंतरोगेण पहुणा-कालाइक्कमेण कया ठाणाइ—
नवंगाणंवित्ती। —तीर्थकल्प

९

आचार्य हरिभद्र और उनका साहित्य

अन्य अनेक भक्त व सन्त कवियो की भांति आचार्य हरिभद्र सूरि का जीवन वृत्त भी जन श्रुतियो से आच्छादित है। मध्ययुग चमत्कार प्रदर्शन का युग था, अतः विशिष्ट व्यक्तित्व का परिचय देने के लिए महापुरुष के जीवन के साथ अनेक अनहोनी कल्पनाए व किवदान्तियां जोड दो जाती थी जिससे इतिहास सम्मत तथ्य खोज निकालना अति कठिन हो गया है।

आचार्य हरिभद्र के नाम के अनेक आचार्य व ग्रन्यकार हुए हैं। उनकी जीवन सम्बन्धी घटनाएं एक दूसरे के जोवन चरित्रो में इतनो अधिक घुलमिल गई है कि कौन आचार्य किस समय हुए, कौन प्रथम और कौन पश्चात् हुए ? यह प्रश्न इतिहास वेत्ताओ के समक्ष एक समस्या के रूप में उपस्थित हो गया है।

पुरातत्त्व वेत्ता श्री जिन विजय जो तथा डाक्टर हर्मन जेकोवो ने याकिनी महत्तरा सूनु हरिभद्र को सर्वप्रथम हरिभद्र माना है। वे उनका समय ७०० से ७७० ईस्वी मानते हैं अर्थात् विक्रम संवत् ७५७ से ८२७।[१]

उनकी जन्मस्थली के सम्बन्ध में इतिहासज्ञ एक मत नही हैं। कितने ही वीरभूमि चित्तौड को इनका जन्म स्थान मानते हैं तो कितने ही चित्रकूट को। यह बात सर्व सम्मत है कि वे जाति से ब्राह्मण थे और प्रकाण्ड पण्डित थे। जितारि राजा के राज पुरोहित थे, अतः इन्हे अभिमान हो गया था कि मेरे समान इस भूखण्ड पर कोई पण्डित नही है। कहा जाता है कि ये अपने हाथ में जम्बू वृक्ष की एक शाखा रखते थे जिससे यह प्रकट हो सके कि जम्बू द्वीप में उनके जैसा कोई विद्वान् नही है। इतना ही नही, वे अपने पेट पर स्वर्ण-पट्ट भी बांध रखते थे जिससे लोगों को यह ज्ञात हो जाए कि उनमें इतना ज्ञान

---

१. जैन साहित्य सशोधक खण्ड १ अक १ पृ० ५८ से आगे

है कि पेट फटा जा रहा है। हरिभद्र ने यह प्रतिज्ञा भी ग्रहण कर रखी थी कि जिसके कथन का अर्थ मैं न समझ सकूंगा या जो मुझे शास्त्रार्थ में परास्त कर देगा, उसका मैं शिष्य बन जाऊंगा।

एक दिन हरिभद्र राजमहल से अपने घर की ओर लौट रहे थे। बीच में जैन उपाश्रय था। उसमें जैन साध्वियाँ स्वाध्याय कर रही थी। संयोग-वशात् निम्नांकित गाथा उनके कर्ण-कुहरों तक आ पहुँची :

> चक्कीदुगं हरिपणगं पणगं चक्कोण केसवो चक्की।
> केसव चक्की केसव दु चक्की केसव चक्की य॥

कुछ समय तक विचार करने पर भी जब इसका अर्थ समझ में न आया तो वे सीधे उपाश्रय में गये और बोले—माता जी, आपने तो इस गाथा में खूब चकचकाट किया। साध्वी ने उत्तर में कहा—'श्रीमान्, नया-नया तो ऐसा ही लगता है।' यह सुनते ही उनका मिथ्या अभिमान गल गया। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वे बोले—माता जी, मुझे अपना शिष्य बनाइये और प्रस्तुत गाथा का अर्थ समझाने का अनुग्रह कीजिए। साध्वी महत्तरा की आज्ञा को शिरोधार्य कर वे उसी नगर में अवस्थित आचार्य जिनभट के शिष्य हुए।[1] प्रभावक चरित्र के अनुसार उनके दीक्षा गुरु जिनभट थे, किन्तु हरिभद्र के स्वयं के उल्लेखो से ऐसा प्रतीत होता है कि जिनभट उनके गच्छपति गुरु थे, जिनदत्त दीक्षा गुरु थे, याकिनी महत्तरा धर्मजननी थी, उनका कुल विद्याधर गच्छ एवं सम्प्रदाय श्वेताम्बर था[2]। याकिनी महत्तरा के प्रति अपनी कृतज्ञता, श्रद्धा तथा मातृभाव प्रदर्शित करने के लिए उन्होने दशवैकालिक बृहट्टीका, उपदेशपद, अनेकान्त जयपताका, आवश्यक निर्युक्ति टीका आदि अनेक ग्रन्थो में अपने को याकिनी महत्तरा के धर्मपुत्र के रूप में प्रदर्शित किया है।

---

१. देखिए प्रभावकचरित्र

२. समाप्ता चेयं शिष्यहिता नाम आवश्यक टीका। कृतिः सिताम्बराचार्यजिनभटनिगदानुसारिणो विद्याधरकुल तिलकाचार्यजिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनो अल्पमते आचार्य हरिभद्रस्य।

—आवश्यक-निर्युक्ति-टीका का अन्त

(ख) एयं जिणदत्तायरियस्स उ अवयवभूएण चरियमिणं

> जं विरइऊण पुन्नं महाणुभावचरियं मए पत्तं।
> तेणं गुणाणुरामो होइ इहं सव्वलोयस्स॥

—समाराइच्च कहा का अन्त

१४४४ ग्रंथो के निर्माण के सम्बन्ध में यह बात प्रसिद्ध है कि इनके दो भगिनी पुत्र शिष्य थे। उनके नाम भद्रेश्वर सूरि ने प्राकृत कथावली में हंस और परम हंस दिया है तथा प्रभावक सूरि ने प्रभावक-चरित्र में जिनभद्र और वीरभद्र दिया है। उन दोनो पर हरिभद्र का अत्यधिक अनुराग था। संस्कृत और प्राकृत भाषा का उच्च अभ्यास करने के पश्चात् आचार्य हरिभद्र की इच्छा न होने पर भी वे बिहार में स्थित बौद्ध विद्यापीठ में बौद्ध दर्शन का अध्ययन करने गये। वहाँ पर बौद्धों के अतिरिक्त किसी अन्य को अध्ययन नहीं कराया जाता था अत. वे वहाँ पर बौद्ध वेश में अध्ययन करने लगे। उन्होने वही बौद्ध तर्कों का उत्तर देने के लिए जैन दृष्टि से ग्रन्थ लिखना भी प्रारंभ किया। किन्तु एक दिन आँधी और तूफान से उनके ग्रन्थ के पृष्ठ उड़ गये और कुलपति के हाथ लगे जिससे कुलपति अत्यन्त रुष्ट हुआ। उन्हें मार डालने का विचार किया गया किन्तु यह बात ज्ञात होते ही वे वहाँ से पलायित हो गये। उनका पीछा किया गया और हंस मार्ग में ही मारा गया। 'परम हंस' राजा सूरपाल की सहायता से आचार्य हरिभद्र के पास पहुँचा और वह भी पिछली करुण-कथा कहते कहते स्वर्गवासी हो गया। इस घटना से बौद्धो के प्रति हरिभद्र के मानस में क्रोध का दावानल सुलग उठा। वे प्रतिशोध लेने के लिए राजा सूरपाल के पास गये। वहाँ बौद्धो के साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ में शर्त यह थी कि जो हारेगा उसे उबलते हुए कड़ाह में गिरना पड़ेगा। पराजित होने पर शर्त के अनुसार कितने ही बौद्ध पण्डितो को प्राणो की आहुति देनी पड़ी। जब हरिभद्र के गुरु जिनभद्रसूरि को यह बात ज्ञात हुई तो उन्होने शिष्यों के साथ गाथाएं भेजी[1] जिनमें दो जीवो का वर्णन था। एक क्रोध के कारण अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है और दूसरा क्षमा के कारण मुक्ति को वरण करता है। इन गाथाओ को पढते ही उन्हें अपने दुष्कृत्य पर पश्चात्ताप हुआ। १४४४ बौद्धों के संहार का जो भीषण संकल्प मन में था उसका परित्याग कर, उसके प्रायश्चित्त स्वरूप १४४४ ग्रन्थो के निर्माण की प्रतिज्ञा की, और उन गाथाओ के आधार पर 'सम-राइच्च कहा' का निर्माण किया।

---

१. गुण-सेण-अग्गिसम्मा, सीहाऽऽणंदा तह पियाउत्ता।
सिहि-जालिणि माइ-सुया-धणधणसिरिमो य पई भज्जा ॥ १ ॥
जय-विजया य सहोयर-धरणो लच्छीय तह पई-भज्जा।
सेण विसेणापित्तिय उत्ता जम्मम्मि सत्तम ए ॥ २ ॥
गुणचंद-वाणमतर समराइच्च-गिरिसेण पाणो उ।
एक्कस्स तओ मोक्खो, बीयस्स अणन्तसंसारो ॥ ३ ॥

प्रवन्धकोश में राजेश्वर सूरि ने वौद्धों के साथ शास्त्रार्थ का उल्लेख न कर मंत्रो के द्वारा उनका नाश करने की वात कही है और इसी वात का समर्थन संवत् १९३४ में हुए मुनि क्षमाकल्याण जी ने भी किया है।[1] उन्होंने हरिभद्र के क्रोध को शान्त करने का श्रेय जिनभद्र को न देकर याकिनी महत्तरा को दिया है।

आचार्य हरिभद्र ने अपने ग्रन्थो के अन्त में अपने प्रिय शिष्यो के विरह से दुःखी होकर 'विरह' शव्द का प्रयोग किया है।[2]

अधिकार की भाषा में नही कहा जा सकता कि उन्होने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार १४४४ ग्रन्थ लिखे ही थे। जैन दर्शन की भूमिका में पण्डित वेचरदास जी ने और जैन ग्रन्थावली में पं० हरगोविन्द दास जी ने ७३ ग्रन्थो का उल्लेख किया है। वे इस प्रकार हैं :—

(१) अनुयोगद्वारसूत्रवृत्ति, (२) अनेकान्तजयपताका (स्वोपज्ञ टीका सहित), (३) अनेकान्तप्रघट्ट, (४) अनेकान्तवाद प्रवेश, (५) अष्टक, (६) आवश्यक निर्युक्ति लघु टीका, (७) आवश्यक निर्युक्ति वृहट्टीका, (८) उपदेशपद, (९) कथाकोश, (१०) कर्मस्तववृत्ति, (११) कुलक, (१२) क्षेत्रसमासवृत्ति, (१३) चतुर्विंशतिस्तुतिसटोक, (१४) चैत्यवन्दनभाष्य, (१५) चैत्यवन्दनवृत्ति-ललित-विस्तरा, (१६) जीवाभिगम लघुवृत्ति, (१७) ज्ञानपञ्चक विवरण, (१८) ज्ञानादित्यप्रकरण, (१९) दशवैकालिक अवचूरि, (२०) दशवैकालिक वृहट्टीका, (२१) देवेन्द्रनरकेन्द्रप्रकरण, (२२) द्विजवदनचपेटा (वेदांकुश), (२३) धर्मविन्दु, (२४) धर्मलाभसिद्धि, (२५) धर्मसंग्रहणी, (२६) धर्मसार-मूलटीका, (२७) धूर्ताख्यान, (२८) नन्दीवृत्ति, (२९) न्यायप्रवेशसूत्रवृत्ति, (३०) न्यायविनिश्चय, (३१) न्यायमृततरंगिणी, (३२) न्यायावतारवृत्ति, (३३) पंचनिर्ग्रन्थी, (३४) पंचलिंगी, (३५) पंचवस्तु सटीक, (३६) पंचसंग्रह, (३७) पंचसूत्रवृत्ति, (३८) पंचस्थानक, (३९) पचाशक, (४०) परलोकसिद्धि, (४१) पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति (अपूर्ण), (४२) प्रज्ञापनाप्रदेशव्याख्या, (४३) प्रतिष्ठा-कल्प, (४४) वृहन्मिथ्यात्वमंथन, (४५) मुनिपतिचरित्र, (४६) यतिदिनकृत्य,

---

१. खतरगच्छपट्टावली—मुनि क्षमाकल्याण।

२. अतिशयहृदयाभिरामशिष्यद्वयविरहोर्मिभरेण तप्तदेहः
निजकृतिमिह संव्यवात् समस्तां विरहपदेनयुतां सतां स मुख्यः।

—प्रभावक चरित्र, हरिभद्र प्रवन्ध का० २०६।

(४७) यशोधरचरित्र, (४८) योगदृष्टिसमुच्चय, (४९) योगविन्दु, (५०) योग-शतक, (५१) लग्नशुद्धि (लग्नकुण्डलि), (५२) लोकतत्त्वनिर्णय, (५३) लोक-विन्दु, ५४) विंशति, (विंशति विंशिका), (५५) वीरस्तव, (५६) वीरागद-कथा, (५७) वेदवाह्यतानिराकरण, (५८) व्यवहारकल्प, (५९) शास्त्रवार्ता-समुच्चय सटीक, (६०) श्रावकप्रज्ञप्तिवृत्ति, (६१) श्रावकधर्मतन्त्र, (६२) षड्-दर्शनसमुच्चय, (६३) षोडशक, (६४) संकितपचासी, (६५) संग्रहणी वृत्ति, (६६) संपंचासित्तरी, (६७) संबोधसित्तरी, (६८) संबोधप्रकरण, (६९) संसार-दावास्तुति, (७०) आत्मानुशासन, (७१) समराइच्चकहा, (७२) सर्वज्ञसिद्धि-प्रकरण सटीक, (७३) स्याद्वादकुचोद्यपरिहार[1] ।

इन ग्रन्थो में से कुछ ग्रन्थ तो पचास श्लोक प्रमाण भी हैं। इसी तरह 'पंचाशक' नाम के १९ ग्रन्थ आचार्य हरिभद्र ने लिखे है जो वर्तमान में पचाशक नामक एक ही ग्रन्थ में समाविष्ट हैं। इसी तरह सोलह श्लोको के षोडशक, बीस श्लोको की विंशिकाएँ भी है। 'संसारदावानल' स्तुति केवल चार श्लोक प्रमाण ही है। इस प्रकार से प्रस्तुत ग्रन्थ संख्या में और भी वृद्धि हो सकती है। हर्मन जेकोबी की मान्यतानुसार आचार्य हरिभद्र के १४४० ग्रन्थ हैं और उनकी संख्या वे पंचाशक के १९ प्रकरण, अष्टक के ३२ प्रकरण, षोडशक के १६ प्रकरण, विंशिका के वीस प्रकरण आदि के द्वारा बिठाने का प्रयास करते हैं। श्री जिनविजय जी उनके छब्बीस ग्रंथ ही प्रामाणिक मानते हैं।

प्रत्येक लेखक की अपनी एक विशिष्ट शैली होती है जो उसके लेख की आत्मा हुआ करती है। जब तक उसे हृदयंगम न किया जाय, तब तक उसके विचारो को समुचित रूप से नही समझा जा सकता। हरिभद्रसूरि की भी अपनी निजी शैली है जिसमें प्रतिभा का चमत्कार है, भाषा का सौष्ठव है। संस्कृत और प्राकृत दोनो भाषाओ पर उनका पूर्ण अधिकार है। उन्होंने सस्कृत और प्राकृत दोनो ही भाषाओ में गद्य और पद्यमय सफल रचनाएँ की।

हरिभद्र सूरि ने ही सर्वप्रथम आगम-ग्रन्थो पर गीर्वाण गिरा में टीका लिखने की परम्परा का श्री गणेश किया। आपके पूर्व आगम रहस्यो का समुद्घाटन करने वाली निर्युक्तियाँ, चूर्णियां और भाष्य ही थे। आपने आवश्यक, दशवैकालिक, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, नन्दी, अनुयोग द्वार और पिण्ड निर्युक्ति पर टीकाएँ लिखी। पिण्ड निर्युक्ति की अपूर्ण टीका वीराचार्य ने पूर्ण की थी।

---

१. जैनदर्शन—प्रस्तावना पृ० ४५-५१, अनुवादक पं० बेचरदास जी।

वाचक उमास्वाति ने, सिद्धसेन दिवाकर ने और जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने जिस प्रकरणात्मक पद्धति का प्रचलन किया था, उसको आचार्य हरिभद्र ने अनेक प्रकरणो को रचनाएं कर व्यवस्थित रूप प्रदान किया। हर्मन जैकोबी के शब्दो में 'आचार्य हरिभद्र सूरि ही व्यवस्थित प्रकरणो के रचयिता है'।

आचार्य हरिभद्र की यह महान् विशेषता है कि उन्होने जितनी सफलता से जैन दर्शन पर लिखा है उतनी ही सफलता से वैदिक और बौद्ध दर्शन पर भी लिखा है। उनमें साम्प्रदायिक अभिनिवेश का अभाव है, तार्किक खण्डन-मण्डन के समय भी उनका मस्तिष्क संतुलित रहता है और वे मधुर भाषा का प्रयोग करते हैं। जैसे 'आह च न्यायवादो' 'उक्तं च न्यायवादिना' 'भवता तार्किक चूडामणिना' ·· ····। महात्मा बुद्ध एव कपिल, पतजलि और व्यास आदि वैदिक विद्वानो के लिए भी अन्य लेखको की तरह पशु-वृषभ आदि असभ्य शब्दो का प्रयोग न करके भगावन्, सर्वव्याधिभिषग्वर, महामुनि, महर्षि आदि महत्त्व सूचक शब्दो का प्रयोग करते हैं जो उनको धार्मिक सहिष्णुता के साथ समत्व की भावना को व्यक्त करते हैं। पं० बेचर दास जी के शब्दो में 'महावीर स्वामी के शासन संरक्षक आचार्यों में ऐसा उदारमतवादी समन्वय-शील आचार्य कोई हुआ है तो हरिभद्र हैं'।

अनेकान्त जय पता का, षड्दर्शन समुच्चय, शास्त्र वार्ता समुच्चय, अनेकान्तवाद प्रवेश, धर्म संग्रहणी आदि उनके न्याय के विशिष्ट ग्रन्थ हैं। उन ग्रन्थो में प्रत्येक दर्शन में छिपे हुए सत्य का दर्शन किया है और तटस्थ दृष्टि से उन दर्शनो पर गहराई से विचार किया है।

अनेकान्त जैन दर्शन की आत्मा है जिसपर उनकी पूर्ण निष्ठा है। वे नाना प्रकार के तर्क-वितर्कों द्वारा उस पर गंभीरता से विचार करते हैं और अपनी उत्कृष्ट दार्शनिक प्रतिभा का परिचय देते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य हरिभद्र अपने समय के एक प्रतिभाशाली विद्वान् थे। वे आगम, न्याय, दर्शन, व्याकरण और साहित्य के विशेषज्ञ थे। जिस किसी भी विषय पर उन्होंने लेखिनी उठाई उस पर उन्होने सागोपांग विचार किया है। क्लिष्ट विषयो को सरल बनाने का प्रयास किया है। प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल जी ने उनके सम्बन्ध में लिखा है—"आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थ हमारी जिन्दगी तक के लिए मनन करने के लिए और शास्त्रीय प्रत्येक विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए पर्याप्त हैं।"

⊛

१०

षड्दर्शन समुच्चय एक अनुचिन्तन

भारतवर्ष दर्शनो की जन्मस्थली और क्रीडा भूमि है। यहाँ अनेक दार्शनिको ने दर्शनशास्त्र की गम्भीर मीमासा की है जिसके फलस्वरूप यहाँ का अनपढ व्यक्ति भी ब्रह्म, ज्ञान, मोक्ष और अनेकान्त जैसी दार्शनिक शब्दावली का प्रयोग करता है, जिसे सुनकर आश्चर्य होना अस्वाभाविक नही।

दर्शन की चर्चा करने के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि दर्शन शब्द का अभिप्राय क्या है? दर्शन का सामान्य अर्थ दृष्टि है, जिसे अंगरेजी भाषा में विजन (Vision) कहा गया है। जिन्हे नेत्र प्राप्त है, वे सभी देखते हैं। पर यहाँ दर्शन का अर्थ दिव्य दृष्टि है जिसके द्वारा तत्त्व का सही साक्षात्कार होता है। इस दृष्टि की उत्पत्ति नेत्र से न होकर बुद्धि से है, विचार-शक्ति और चिन्तन से है। साधारण दृष्टि से देखने का कार्य आँखें करती हैं जब कि दार्शनिक दृष्टि में देखने का कार्य विचार-शक्ति करती है। मानव प्रतिपल-प्रतिक्षण अनेक वस्तुएँ देखता है। वह अपने को पदार्थों से घिरा हुआ पाता है। तब सहज ही यह चिन्तन होने लगता है कि आखिर यह सब क्या है? इन पदार्थों के साथ मेरा सबंध है या नही? है तो क्या संबध है? और स्वयं मैं क्या हूँ? आदि। इस प्रकार जीवन और जगत् को समझने का विवेकयुक्त, जो चिन्तन है, वही दर्शन है। वह जीवन और जगत् को खण्ड-खण्ड रूप से न निहार कर अखण्ड रूप से उसका अध्ययन करता है। वह एक कुशल विज्ञान वेत्ता की तरह सत्ता के किसी एक अंश विशेष का ही अध्ययन नही करता, न कवि या कलाकार की भाँति सत्ता के सौन्दर्य अंश का ही चित्रण करता है, न व्यापारी की तरह हानि-लाभ का ही विचार करता है और न धर्मोपदेशक की तरह परलोक की ही चिन्ता करता है, अपितु सत्ता के सभी धर्मों पर एक साथ चिन्तन करता है, तत्त्व को गहराई तक पहुँचने का प्रयास करता है। प्लेटो के शब्दो में कहा

जाय तो वह सम्पूर्ण काल और सत्ता का द्रष्टा होता है।[1] दर्शन का क्षेत्र ज्ञान की सभी धाराओ से विशाल है। मानव-मस्तिष्क की सभी चिन्तन-लहरियाँ दर्शन में समाविष्ट हो जाती हैं। मानव के चिन्तन के साथ ही दर्शन का प्रारंभ होता है। दर्शन ज्ञान की प्रत्येक धारा का अध्ययन-चिन्तन करता है, इसका तात्पर्य इतना ही है कि वह विश्व के मूलभूत सिद्धान्तो की अन्वेषणा करता है। जगत् में कौन सा तत्त्व कार्य कर रहा है? उस तत्त्व का जीवन के साथ क्या सम्बन्ध है? आध्यात्मिक और भौतिक सत्ता में क्या-क्या अन्तर है? दोनो भिन्न है या अभिन्न है? समान है या असमान है? इत्यादि सभी प्रश्नो पर विचार करना ही दर्शन का मुख्य उद्देश्य है। भौतिक विज्ञान की भाँति वह केवल जगत् का विश्लेषण ही नही करता अपितु उसकी उपयोगिता पर भी चिन्तन करता है। उपयोगितावाद दर्शन की मौलिक सूझ-बूझ है। इसी से वह जीवन की वास्तविकता समझने का अपने को अधिकारी मानता है। जीवन की वास्तविकता को जिसने समझा है वह जगत् की वास्तविकता को स्वतः समझ लेता है।

पाश्चात्य विचारक दर्शन की उत्पत्ति आश्चर्य, सन्देह, व्यावहारिकता, बुद्धिप्रेम, और आध्यात्मिक प्रेरणा से मानते हैं, पर भारतीय चिन्तन दर्शन का प्रादुर्भाव दु.ख से मानता है। दु ख से मुक्ति पाना ही भारतीय दर्शन का प्रयोजन है। इसी प्रयोजन की सिद्धि हेतु अनेक दर्शनो ने यहाँ पर जन्म लिया है। और उनका विकास हुआ है। सूत्रकृताग में ३६३ मतो का उल्लेख है[2]। पर वे सभी मत षड् दर्शनो के अन्तर्गत आ जाते है। दु ख क्या है, उसका क्या रूप है, वह कितने प्रकार का है और उससे मुक्त होने की क्या विधि है? इत्यादि प्रश्नो के आधार से ही विभिन्न दर्शनो ने अपनी विचार धारा का निर्माण किया। प्रत्येक दर्शन शास्त्र की उत्पति के रहस्य को जानने के लिए इन विचारो को समझना अतीव आवश्यक है।

चार्वाक दर्शन

चार्वाक दर्शन भारतीय दर्शनो में एकान्त रूप से भौतिक वादी दर्शन है। उसकी विचार-धारा का मुख्य आधार भौतिक सुख है। यद्यपि उसकी विचार धारा का नेतृत्व करने वाला कोई प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नही है तथापि दर्शन शास्त्र में पूर्व पक्ष के रूप मे उसकी मान्यताओ को जो चर्चाए आती

---

१. The spectater of all time & Existence.

२. असियसयं किरियाण अकिरिय वाईण माह चुलसीई।
अन्नाणि य सतट्ठी, वेणइयाणं च बत्तीसं॥

हैं, उनसे स्पष्ट है कि वह विशुद्ध भौतिकवादी है। आत्मा, और उसके पुनर्जन्म में उसका विश्वास नही है। आत्मा की मान्यता को वह सर्वथा भ्रान्त धारणा मानता है। उसका मन्तव्य है कि चार भूतो के अतिरिक्त कोई स्वतंत्र आत्मा नही है। जिस समय चारो भूत अमुक मात्रा में अमुक रूप से मिलते हैं, उसी समय शरीर बन जाता है और उसमें चेतना आ जाती है। चारो भूतो के पुनः बिखर जाने पर चेतना नष्ट हो जाती है।[१] अतः जब तक जियो तब तक सुखपूर्वक जियो, हँसते और मुस्कराते हुए जियो। कर्ज लेकर के भी आनन्द करो। जब तक देह है, उससे जितना लाभ उठाना चाहो उठाओ, क्यो कि शरीर के राख हो जाने पर पुनरागमन कहाँ है?[२] इस प्रकार चार्वाक दर्शन का प्रादुर्भाव वर्तमान के सुख को लेकर और उसकी ससिद्धि के लिए हुआ है।

जैन दर्शन

सांसारिक दु:खो से निवृत्त होकर आध्यात्मिक सुख की उपलब्धि करना ही जैन दर्शन का मुख्य लक्ष्य है। यह दर्शन, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव और पुद्गल ये छह द्रव्य मानता है और इन छह द्रव्यों के आधार से ही सारे विश्व की व्याख्या करता है। इन छह तत्त्वो में जीव और पुद्गल ये दो तत्त्व सक्रिय हैं। इनके पारस्परिक सम्बन्ध के कारण अनेक प्रकार के कष्ट प्राणियो को झेलने पड़ते हैं, और ऐन्द्रिय सुख भी इन्ही का परिणाम है। जैन दर्शन का यह दृढ मन्तव्य है कि जब तक आत्मा पुद्गल के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नही हो जाता, तब तक अनन्त आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति सभव नही है। अनादि काल से मिले हुए ये दोनो तत्त्व किस प्रकार पृथक् हो सकते हैं, इस प्रश्न का अत्यन्त हृदय ग्राही उत्तर हमें जैन दर्शन से प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनो मिलकर उस मार्ग का निर्माण करते है,[३] जिस पर चलने से जीव एक दिन पुद्गल के प्रभाव से पृथक् हो जाता है और अपने शुद्ध स्वाभाविक स्वरूप को प्राप्त कर परमात्मा

---

१. अत्र चत्वारि भूतानि, भूमिवार्यनलानिला।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥ ३ ॥
—सर्वदर्शन संग्रह, चार्वाक दर्शन

२. यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृत पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमन कुतः ॥

३. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष मार्गः। —तत्त्वार्थ सूत्र

बन जाता है। इस प्रकार दुःख से सर्वथा मुक्त होना ही जैन दर्शन का लक्ष्य है।

बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन ने भी दुःख से मुक्त होने का उपाय बताया है। दुःख चार आर्य सत्यो में प्रथम आर्य सत्य है। संसार अवस्था में विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप इन पाँच स्कधो को छोडकर दु ख अन्य कुछ भी नही है।[१] जब पाँच स्कंध समाप्त हो जाते है, तब दु ख भी समाप्त हो जाता है। इन स्कंधो को समाप्त कैसे किया जा सकता है? इन स्कन्धो की परम्परा के चलने के क्या कारण है? परम्परा समाप्त होने पर क्या अवस्था होती है? इन प्रश्नो के उत्तर के लिए ही दु.ख आर्य सत्य के अतिरिक्त अन्य तीन समुदय, मार्ग, और निरोध इन आर्य सत्यो का निरूपण किया गया है। दु.ख का स्वरूप पाँच स्कन्धो के रूप में निरूपण किया गया है। जिसके कारण राग आदि भावनाएं उत्पन्न होती हैं—यह मेरी आत्मा है, ये मेरे पदार्थ है, इस प्रकार जो ममत्व है, वह समुदय है।[२] सारे सस्कार क्षणिक है—कुछ भी नित्य नही है, इस प्रकार की वासना मार्ग है और समस्त दु खो से मुक्ति मिलने का नाम निरोध है।[३] निरोधावस्था में आत्मा का एकान्त अभाव हो जाता है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन का मूल उद्देश्य प्राणियो को दु.ख से मुक्त करना है।

सांख्य दर्शन

साख्य दर्शन का भी मुख्य उद्देश्य दु ख से मुक्त होना है। कपिल ने, जो साख्य दर्शन के प्रणेता हैं, अपने सांख्य सूत्र मे सर्व प्रथम लिखा है कि जीवन का सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ तीन प्रकार के दु खो की आत्यन्तिक निवृत्ति है।[४] सांख्य

---

१. दु.खं ससारिणः स्कंधास्ते च पंच प्रकीर्तिता ।
विज्ञानं वेदना संज्ञा, सस्कारो रूप मेव च ॥
— षड्दर्शन समुच्चय, बौद्ध दर्शन

२. समुदेति यतो लोके रागादीना गणोऽखिलः ।
आत्माऽऽत्मीयभावाख्यः समुदय. स उदाहृत ॥
— षड्दर्शन समुच्चय, बौद्ध दर्शन

३. क्षणिका. सर्व सस्कारा इत्येव वासना यका ।
स मार्ग इह विज्ञेयो निरोधो मोक्ष उच्यते ॥ —वही

४. अथ त्रिविधदु.खात्यन्तनिवृत्ति अत्यन्तपुरुपार्थ. ।
—साख्य सूत्र० १, कपिल

कारिका में भी यही बात प्रतिपादित की गई है।[1] सांख्य दर्शन में अनेक प्रकार के दु खो का वर्णन है। उन्हें 'आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधि-भौतिक' इन तीन राशियो में विभक्त किया है। शारीरिक और मानसिक रूप से आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार का है। पाँच प्रकार के वात, पाँच प्रकार के पित्त, और पाँच प्रकार के श्लेष्मा—इनकी विषमता से रोग उत्पन्न होते है। यह शारीरिक दु ख है। काम-क्रोध, मद-मोह, मत्सर आदि से जो क्लेश उत्पन्न होता है वह मानसिक दु.ख है। यक्ष, राक्षस भूत आदि से होने वाला दुःख आधिदैविक है। अन्य जंगम प्राणियो से या जड पदार्थों से होने वाला दु ख आधिभौतिक है। इन तीनो प्रकार के दु खो में से कभी किसी की और कभी किसी की प्रधानता होती है। इन तीनो दुःखो का ऐकान्तिक—आत्यन्तिक नाश ज्ञान से होता है। वह ज्ञान क्या है ? उसकी प्राप्ति के उपाय क्या हैं ? प्रभृति प्रश्नो के समाधान में पुरुष और प्रकृति के आधार पर सांख्य दर्शन की विचारधारा आगे बढती है।[2] सांख्य दर्शन के चिन्तन का यही आधार है।

योग दर्शन

सांख्य और योग दर्शन में ईश्वर के सम्बन्ध में कुछ मत भेद है। शेष बात प्रायः दोनो दर्शनो में समान है। सांख्य-दर्शन ज्ञान प्रधान है और योग-दर्शन क्रिया प्रधान है। पातजल योग-दर्शन में स्पष्ट लिखा है कि संसार दु ख-मय है, जिसे हम सुख अनुभव करते है, वस्तुत वह सुख नही दु ख है। यह जीवन अनेक प्रकार की वृत्तियो और वासनाओ युक्त है। वे विविध वृत्तियाँ और वासनाएँ चित्त में परस्पर कलह किया करती है। जहा एक वृत्ति की पूर्ति से चित्त आह्लादित होता है, वहाँ दूसरी वृत्ति को अपूर्ति से चित्त अप्रसन्न होता है। इन सभी दु खो का मूल कारण द्रष्टा और दृश्य, पुरुष और प्रकृति का संयोग है। सयोग का मुख्य हेतु अविद्या है। उसको हटाने का उपाय है विवेक ख्याति+तत्त्व ज्ञान अर्थात् प्रकृति और पुरुष तत्त्व की भिन्नता को समझ लेना। विवेक ख्याति से ही सभी कर्म और क्लेश नष्ट होते हैं।[3] सांख्य और

---

१. दु खत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
—सांख्य कारिका-१ ईश्वर कृष्ण

२ ज्ञानेन चापवर्गो……

३ परिणामतापसंस्कार दु खैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दु खमेव सर्व विवेकिन.। दृष्टदृश्ययो सयोगो हेयहेतु। तस्य हेतुरविद्या। विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय। —योगसूत्र अ० २, सू० १५, १७, २४, २६

योग-दर्शन का उद्देश्य एक है। मूल सिद्धान्त एक होने पर भी योग-दर्शन ने क्रिया पक्ष पर अधिक बल दिया है। सांख्य दर्शन विवेक ख्याति के लिए ज्ञान को ही आवश्यक मानता है।

न्याय दर्शन

न्याय दर्शन का उद्देश्य अपवर्ग है। उसने प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह स्थान-- इन सोलह पदार्थों की सत्ता स्वीकार की है। इनका ज्ञान क्रमश. दु.ख और दु ख के कारणो की परम्परा को नष्ट कर अपवर्ग-मोक्ष-नि.श्रेयस् प्राप्त कराता है।[१] दुःख सुख संसार अवस्था में आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। मोक्ष अवस्था में वे उससे अत्यन्त विच्छिन्न हो जाते है और आत्मा अपने शुद्ध रूप में रहती है।

वैशेषिक दर्शन

इस दर्शन के निर्माता कणाद हैं। कणाद ने धर्म और दर्शन को एक मानकर अपने सूत्रो में स्थान-स्थान पर धर्म शब्द का उपयोग किया है। उसने कहा—धर्म वह पदार्थ है जिससे सासारिक अभ्युदय और पारमार्थिक नि.श्रेयस् दोनो की उपलब्धि हो।[२] प्रस्तुत दर्शन का यही प्रयोजन है।

पूर्व मीमांसा

मीमासा सूत्र का प्रारम्भ ही धर्म-जिज्ञासा से होता है।[३] धर्म पुरुष को नि.श्रेयस् की प्राप्ति कराता है, कल्याण से सम्बद्ध करता है अतएव धर्म अवश्य ही करना चाहिए।[४] सम्यक् प्रकार से धर्म के स्वरूप को समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि धर्म क्या है ? उसके साधन क्या हैं ? धर्माभास और साधनाभास क्या है ? धर्म का अन्तिम लक्ष्य क्या है ? मत-भेद और विवाद को मिटाकर धर्म को असली रूप को समझने के लिए युक्ति-युक्त परीक्षा करना मीमासा दर्शन है। मीमासा-शास्त्र ने कर्म काण्ड पर अधिक बल दिया है किन्तु उसका अन्तिम लक्ष्य वही दु ख निवृत्ति है।

---

१ न्याय सूत्र १।२

२. यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धिः स धर्मः —वैशेषिक सूत्र १।२

३. अथातो धर्मजिज्ञासा —मीमासा सूत्र १

४. तस्माद् धर्मो जिज्ञासितव्य.। स हि निःश्रेयसेन पुरुषं संयुनक्तीति प्रतिजानीमहे। —मीमांसा सूत्र शबर भाष्य

वेदान्त दर्शन

वेदान्त दर्शन का लक्ष्य ब्रह्म ज्ञान है। वह ब्रह्म किस प्रकार का है, जिसके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु की सत्ता नही है, जो सब कुछ है और जिसमें सब कुछ हैं। जो चेतना स्वरूप है, चित् शक्ति रूप है, आत्मा है। ब्रह्म को जानने का अर्थ हैं स्वय ब्रह्म रूप हो जाना। ज्ञाता और ज्ञेय में कोई भेद नही। जहाँ भेद है वहाँ द्वैत है और द्वैत ही दु.ख का मूल है।

भारतीय दर्शन का मुख्य लक्ष्य दु.ख निवृत्ति है और सभी ने उसी पर बल दिया है। आचार्य हरिभद्र ने अति सक्षेप में षड् दर्शन समुच्चय नामक ग्रन्थ में ८७ श्लोको में इन दर्शनो की परिचय रेखा दी है। यह हरिभद्र की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है लेकिन यह देखकर आश्चर्य होता है कि इसकी भाषा में वह प्रौढता नही जो हरिभद्र के अन्य ग्रंथो में दृष्टिगोचर होती है। इस कारण तथा पद्यो मे पादपूर्ति के लिए किए गए निरर्थक शब्दो के प्रयोग से कुछ विद्वानो को ऐसी आशका भी है कि प्रस्तुत रचना किसी अन्य हरिभद्र नामक विद्वान् की तो नहीं है ?

संवत् १९३२ में आदित्यवर्धन नगर में इस ग्रन्थ पर श्री विद्या तिलक सूरि ने सर्व प्रथम टीका का निर्माण किया। टीका पर आचार्य हेमचन्द्र को प्रमाणमीमासा का और मल्लीषेण कृत स्याद्वादमजरी का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। यह टीका संक्षिप्त होने के कारण लघु वृत्तिका के नाम से प्रसिद्ध है।

उसके पश्चात् प्रस्तुत ग्रन्थ पर गुणरत्न सूरि ने 'तर्करहस्यदीपिका' नामक वृहत् टीका लिखी जिसमें प्रत्येक दर्शन की विस्तार से चर्चा की गई और उन दर्शनो के मानने वालो का वाह्य वेश, आचार-विचार, मान्य ग्रंथ और उपासना पद्धति पर भी संक्षिप्त टिप्पणिया लिखी गई।

विज्ञो की धारणा है कि आचार्य हरिभद्र को प्रस्तुत ग्रन्थनिर्माण की प्रेरणा प्रतिभामूर्ति सिद्धसेन दिवाकर की वत्तीसियो से प्राप्त हुई है। 'जैन साहित्य नो सक्षिप्त इतिहास' में मोहनलाल दलीचन्द्र भाई लिखते हैं "आवश्रीशीओज श्री हरिभद्र सूरि ना षड्दर्शनसमुच्चय ओर माधवाचार्य ना सर्वदर्शन सग्रहनी प्राथमिक भूमिका छे"।

आचार्य हरिभद्र के इस षड्दर्शन समुच्चय के अतिरिक्त श्री राजशेखर सूरि का षड्दर्शनसमुच्चय तथा एक अज्ञात लेखक का भी षड्दर्शनसमुच्चय प्राप्त होता है किन्तु हरिभद्र सूरि का षड्दर्शन समुच्चय ही अधिक लोकप्रिय हुआ।

११

सुरसुन्दरी चरियं एक परिचय

'सुरसुन्दरी चरिय' यह महाराष्ट्री प्राकृत भाषा में निर्मित महाकाव्य है जो सोलह परिच्छेदो में विभक्त है। काव्यशास्त्र के मर्मज्ञो ने महाकाव्य की जो परिभाषा दी है यदि हम उस परिभाषा की कसौटी पर प्रस्तुत काव्य को कसते है तो यह एक सफल महाकाव्य प्रतीत होता है।

सुरसुन्दरी नायिका के नाम से प्रकृत ग्रन्थ का नामकरण किया गया है। ग्रन्थ शान्त रस प्रधान है। ग्रन्थारंभ में मगलाचरण किया गया है। महापुरुषो की प्रशसा और दुष्टो की निन्दा की गई है। प्राकृतिक सौन्दर्य-सुषमा का चित्रण किया गया है। प्रत्येक परिच्छेद २५० गाथाओ से समलकृत है और छन्द प्राय आर्या है।

ग्रन्थ का सम्यक् प्रकार से पारायण करने पर भली-भाँति ज्ञात होता है कि इसमें आचार्य हरिभद्र की रचनाओ जैसी प्रौढता का अभाव है। जो प्रौढता हम हरिभद्र की समराइच्च कहा मे देखते है, उसका इसमें दर्शन नही होता। कही-कही पर वर्णन मर्यादा का उल्लघन भी कर गया है। जैसे द्वितीय परिच्छेद में सुप्रतिष्ठित पल्लीपति से वनदेव उसका परिचय पूछता है। उत्तर में वह माता पिता का परिचय देता है। इस प्रसग मे माता पिता की श्रृंगार चेष्टा का वर्णन पुत्र के मुँह से कराकर कवि ने बुद्धिमत्ता का परिचय नही दिया है। इसी तरह अनेक स्थलो पर मर्यादा के विपरीत वर्णन हुआ है।

भाषा की दृष्टि से प्रस्तुत महाकाव्य काफी अंशो तक सफल है। भाषा सरल, सरस और प्रवाहपूर्ण है। अनुभूति की अभिव्यक्ति इतनी मधुर है कि पाठक आनन्द विभोर हो जाता है। भाव के अनुरूप भाषा चहकती और फुदकती चलती है। भावो को प्रकट करने के लिए कवि को भाषा विकृत करने की आवश्यकता नही है। देश्य शब्दो का प्रयोग यत्र-तत्र हुआ है, जो भाषा की

श्री वृद्धि करने में सहायक है। मुहाविरो के व सूक्तियो के सफल प्रयोग से काव्य और भी अधिक चमक उठा है। उदाहरणार्थ देखिए

'उट्टमुहाओ अहवा नीहरइ न जीरयं कहवि।'
ऊँट के मुँह से क्या कभी जीरा निकलता है ?

और भी :—

'न हु सक्कररस सित्तोवि चयइ कडुयत्तणं निंवो।'

अर्थात् शक्कर के मधुर रस से सींचने पर भी नीम कटुता का परित्याग नही करता। दुर्जन के स्वभाव को अभिव्यक्त करने के लिए यह उक्ति कितनी शानदार है! और भी :—

'जूया भएण परिहण विमोयणं हदि न डु जुत्तं।'
अर्थात् यूकाओ के भय से वस्त्र उतार कर फेंक देना उचित है ?

कर्तव्य निष्ठा की वात कितने सुन्दर रूप से प्रस्तुत की गई है कि विघ्नों के भय से अपने कर्तव्य से विमुख न वनो। आगे और देखिए महा पुरुष के स्वभाव का चित्रण कवि कितने सुन्दर रूप से करता है —

'कुणइ सुयंधं वासि ताच्छिज्जतो विमल य रुहो'

इस प्रकार सूक्तियो मे विराट् भावनाएं भर दी हैं, जो इन्सान को एक प्रेरणा व जीवनोत्कर्ष की शिक्षाए देती हैं।

काव्य कला के निखार में अलकारो का होना भी आवश्यक है। यद्यपि अलंकार काव्य की आत्मा नही है, तथापि उसकी उपयोगिता स्वय सिद्ध हैं। अलकारो के उचित प्रयोग से काव्य में चार चांद लग जाते हैं। सुरसुन्दरी चरिय महाकाव्य मे कवि ने मगलाचरण के रूप में जिन अलंकारो का प्रयोग किया है, वह दिल को लुभाने वाला है।

भगवन् ऋषभदेव ने जव दीक्षा ग्रहण करने के समय लुचन प्रारम्भ किया तव कानो के पास में रहे हुए केश इस प्रकार प्रतीत हो रहे थे कि मानो वे काम देव के दूत हो और कान के पास में अवस्थित होकर भगवान् से अन्दर प्रवेश करने की प्रार्थना कर रहे हो।

'कन्ना सन्ने सोहइ जस्स, अवत्थाण—पत्थणत्थ व
चित्तब्भंतर रुद्धप्पवेसकदप्प दूअव्व ॥'

उपर्युक्त गाथा में उपमालकार का प्रयोग दर्शनीय है। आगे की गाथा में उन्ही केशो का वर्णन करते हुए भगवान् के शरीर को दीप-शिखा की उपमा से अलकृत किया गया है। देखिए—

सोहइ जस्स सुसंगय उभयस लुलंत-कुन्तल कलावा ।
मुत्ती सुवन्न वन्ना सकज्ज लग्गव्व दीव-सिहा ॥

महा काव्य में उपमा, उत्प्रेक्षा, श्लेष, अनुप्रास आदि अलंकारो का प्रयोग विशेष रूप से हुआ है। उनके लिए कवि को प्रयास करने की आवश्यकता नही रही है। कवि ने काव्य के प्रारम्भ में ही आत्म निवेदन करते हुए लिखा है कि मैं उपमा, श्लेष, रूपक आदि अलकारो से अलंकृत एवं विद्वानो के मन को आकर्षित करने वाला उत्कृष्ट और गभीर काव्य रच सकता हूँ, पर प्रस्तुत काव्य जन साधारण के लिए लिख रहा हूँ।[१]

सुर सुन्दरी चरिय के रचयिता जैन मुनि धनेश्वर सूरि है। उनका समय ग्यारहवी शताब्दी है। धनेश्वर नाम के अनेक सन्त हुए हैं। उन्होने अनेक ग्रन्थ लिखे है परन्तु वे इनसे भिन्न है और उनका समय भी पृथक् है। इन्होने ग्रन्थ के अन्त में अपने वंश की परिचय रेखा इस प्रकार दी है .

महावीर स्वामी, सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी, प्रभव स्वामी, वज्र स्वामी, जिनेश्वर सूरि, उपाध्याय वर्धमान सूरि

|

जिनेश्वर सूरि, बुद्धिसागर सूरि

|

धनेश्वर सूरि

इससे यह प्रतीत होता है कि धनेश्वर सूरि वर्धमान सूरि के शिष्य जिनेश्वर सूरि के शिष्य थे अथवा बुद्धिसागर के शिष्य थे। इन दोनो में उनके गुरु कौन थे, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता।

महा काव्य के प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में स्वयं कवि ने "साहु धणेसर विरइय" लिख कर अपना परिचय दिया है। इतिहास विज्ञो का कथन है कि ये धनेश्वर आचार्य थे किन्तु उन्होने अपनी लघुता प्रकट करने के लिए आचार्य या सूरि शब्द का प्रयोग न कर अपने लिए 'साधु' शब्द का प्रयोग किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ को रचने की प्रेरणा अपनी गुरु भगिनी कल्याण मती प्रवर्तनी से प्राप्त हुई थी, जैसा कि स्वय कवि ने प्रथम परिच्छेद की ४१ वी गाथा में अंकित किया है।

---

१. नियगुरु कमप्पसाया, कावि हु सत्ती उजइवि मह अत्थि ।
उवमा सिलेस रुवग-वण्णग वहु लम्मि कव्वम्मि ॥
तहवि हु तय न कीरइ, असमत्थं पत्थु अम्मि जं अत्थे ।
तो अवुह वोहणत्थं, पयउत्था कीरइ एसा ॥

१२

उपाध्याय यशोविजय और जैन तर्क भाषा

जैन तर्क भाषा के प्रणेता उपाध्याय श्री यशोविजय जी हैं। उनका जैन साहित्य के निर्माण में गौरव-पूर्ण स्थान रहा है। उनका जन्म स्थान गुर्जर प्रान्त में कलोल के सन्निकट 'कन्होडु' ग्राम है। ईस्वी सन् १६२३ में उनका जन्म हुआ था।[१] उनके पिता का नाम नारायण और माता का नाम सोभाग दे था। ये दो भ्राता थे। सुप्रसिद्ध श्री हीरविजय सूरि की शिष्य परम्परा के श्री नय विजय जी के उपदेश से प्रभावित होकर विक्रम सवत् १६८८ में पाटण नगर में अल्प वय में दीक्षित हुए। दीक्षा के पूर्व उनका नाम जशवन्त था और भाई का नाम पद्मसिंह। दीक्षित होने पर क्रमश यशो विजय और पद्म विजय नाम रखा गया। उपाध्याय यशो विजय जी ने अपनी कृति के प्रान्त में प्रिय भ्राता का स्मरण किया है, जो उनके भ्रातृ-प्रेम का प्रबल प्रमाण है।

वि० संवत् १६९९ में अहमदाबाद के संघ के समक्ष जब श्री यशो विजय जी ने आठ अवधान किये, तो सभा चकित हुई। धन जी सुरा, जो वहा का प्रसिद्ध व्यापारी था, यशो विजय जी की प्रतिभा की तेजस्विता से प्रभावित हुआ। उसने यशोविजय जी के गुरु नय विजय जी से प्रार्थना की कि आप इन्हें काशी अध्ययनार्थ भेजें। अध्ययन के लिए दो सहस्र चादी की दीनारें मैं खर्च करूँगा। धनजी सुरा के आग्रह से वे अपने गुरु के साथ काशी पहुँचे। तीन वर्ष तक वहाँ पर रहकर न्याय दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया। वहाँ पर किसी वरिष्ठ विद्वान् को शास्त्रार्थ में पराजित कर 'न्याय विशारद' की उपाधि प्राप्त की। कहा जाता है कि वे वहाँ न्यायाचार्य के पद से भी अलंकृत किये गये थे।

---

१. श्री महावीर विद्यालय सुवर्ण महोत्सव ग्रन्थ भाग १ पृ० १९०।

उसके पश्चात् चार वर्ष तक आगरा में रहकर के भी न्यायशास्त्र का विशेष अध्ययन किया। वहाँ से विहार कर अहमदाबाद पहुँचे और औरंगजेब के द्वारा नियुक्त गुजरात के सूबेदार मोहब्बत खा के सामने अठारह अवधान किये। आपकी बहुमुखी प्रतिभा से प्रभावित होकर विजय प्रभव सूरि ने संवत् १७१८ में आपको उपाध्याय पद से विभूषित किया।

उपाध्याय जी एक असाधारण-प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी चिन्तन निस्सीम था। काशी और आगरा में रहकर उन्होने नव्य न्याय का जो अध्ययन किया था उससे प्रतिभा में अधिक निखार आ गया था। फलत. उनके साहित्य में पूर्ववर्ती विद्वानो से अधिक परिमार्जन और तर्क युक्त दार्शनिक विश्लेषण पाया जाता है। उपाध्याय जी न केवल तार्किक ही थे अपितु वे आगम, व्याकरण, काव्य, धर्म, दर्शन आदि अनेक विषयों के भी गहरे अभ्यासी थे। सवा सौ से भी अधिक रचनाओ में उनका गंभीर चिन्तन अभि-व्यक्त हुआ है।

इनकी कृतियाँ भाषा की दृष्टि से संस्कृत, प्राकृत, गुजराती और राजस्थानी में हैं। सस्कृत विज्ञो की भाषा थी। उसमें प्रचुर दार्शनिक ग्रन्थ थे। उपाध्याय जी ने भी अपने दार्शनिक विचार विज्ञो तक पहुँचाने के लिए संस्कृत भाषा में दार्शनिक ग्रन्थो का प्रणयन किया। इनकी संस्कृत भापा प्रौढ़ और परिमार्जित थी। जैन श्रमण होने के नाते इन्होने प्राकृत-भापा में भी ग्रन्थ लिखे। साधारण जनता के लिए गुजराती और राजस्थानी भाषा में रचनाएं की। गुजराती और राजस्थानी भापा की रचनाए इतनी अधिक लोक प्रिय हुईं कि आज भी भावुक भक्त उन्हें पढते पढते तल्लीन हो जाते हैं।

विषय की दृष्टि से उनके सम्पूर्ण साहित्य को दो भागो मे विभक्त कर सकते हैं—एक आगमिक और दूसरा तार्किक। कर्म आचार आदि विषयो पर आगमिक शैली से लिखा है और प्रमाण, प्रमेय, नय, मंगल, मुक्ति, आत्मा, योग आदि विषयो पर नवीन तार्किक शैली से लिखा है।

शैली की दृष्टि से उनकी कृतियाँ तीन भागो में विभक्त हैं:—

(१) खण्डनात्मक,
(२) प्रतिपादनात्मक और
(३) समन्वयात्मक

जब वे किसी विषय का खण्डन करते हैं तो वस्तु के अन्तस्तल तक पहुँचते हैं। उनका खण्डन तर्क से युक्त एवं प्रतिपादन सूक्ष्म और विशद होता है। गीता और योगशास्त्र के साथ जैन दृष्टि का जब वे समन्वय करते हैं तो उनकी

प्रतिभा की तेजस्विता पर प्रबुद्ध पाठक मुग्ध हुए बिना नही रहता। उनकी कितनी ही रचनाएँ तो पूर्वाचार्यों के द्वारा रचित ग्रन्थो की व्याख्याएँ हैं—टीका रूप हैं और कितनी ही रचनाएँ स्वतंत्र व मौलिक हैं। दार्शनिक विषय को नव्य-न्याय की शैली में व्यक्त करना आपकी विशिष्ट देन है।

उपाध्याय जी श्वेताम्बर परम्परा में दीक्षित होने पर भी सम्प्रदायवाद के दल-दल में फँसे हुए नही थे। उन्होने जहाँ वैदिक परम्परा के पातञ्जल योग सूत्र पर अपनी मौलिक समालोचना लिखी है, वहाँ दिगम्बराचार्य प्रतिभामूर्ति विद्यानन्द के कठिनतर अष्टसहस्री ग्रन्थ पर भी व्याख्या लिखी।

वर्तमान में उपाध्याय यशोविजय जी का जितना साहित्य उपलब्ध है, यदि उसका गहराई से अध्ययन किया जाय तो जैन परम्परा के चारो अनुयोगो पर, व आगमिक, तार्किक सभी विषयो पर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है। उपाध्याय जी ने नव्यन्याय पर अपनी मौलिक कृतियाँ लिखकर जैन वाङ्मय की जो श्रीवृद्धि की है, वह विस्मृत नही की जा सकती। उन्होने जैन दर्शन को नई भाषा और नई शैली प्रदान की।

जैन तर्क भाषा

उपाध्याय यशोविजय जी की तर्क विषयक एक लघुकृति है। प्रस्तुत ग्रंथ के निर्माण की प्रेरणा बारहवी शताब्दी के बौद्ध वाङ्मय के उद्भट विद्वान मोक्षाकर की 'तर्कभाषा' से तथा तेरहवी चौदहवी शताब्दी के वैदिक विद्वान केशवमिश्र की अक्षपाद के न्यायसूत्र पर लिखित तर्कभाषा से प्राप्त हुई थी। इन दोनो तर्क भाषाओ का अवलोकन कर उपाध्यायजी ने जैनमन्तव्यो को प्रकट करने लिए जैन तर्कभाषा का निर्माण किया।

मोक्षाकरीय तर्कभाषा तीन परिच्छेदो में विभक्त थी अत उपाध्याय को भी अपनी जैन तर्क भाषा तीन परिच्छेदो में विभक्त करने की कल्पना हुई होगी। यह स्पष्ट है कि बौद्ध और वैदिक तर्क भाषाओ को देखकर उन्हें भी जैन तर्क भाषा के निर्माण की कल्पना हुई किन्तु उनके सामने एक समस्या यह थी कि कौन से कौन से विषय उसमें समाविष्ट किए जायँ? उस समय उन्हें भट्टारक अकलक की 'लघीयस्त्रय' कृति प्राप्त हुई होगी जिसमें प्रमाण, नय और निक्षेप पर वर्णन था। यही तीन विषय उन्होने अपनी तर्क भाषा के लिए पसंद किए। इस प्रकार नामकरण में मोक्षाकर आदि की तर्क भाषा का और विषय-निर्वाचन में 'लघीयस्त्रय' का अनुकरण करके उन्होने तर्क भाषा लिखी है, जो अपने आप में विशिष्ट है।

उपाध्याय जी के पूर्व अनेक आचार्यों ने तर्क विषयक सूत्र व प्रकरण ग्रन्थ लिखे हैं किन्तु किसी ने भी अकलंक की तरह प्रमाण, नय, और निक्षेप पर तार्किक दृष्टि से एक साथ विवेचन नही किया। अतएव उपाध्याय जी के विषय पसंदगी का मूल आधार लघीयस्त्रय ही है। लघीयस्त्रय के अनेक वाक्य प्रस्तुत ग्रन्थ में प्राप्त होते हैं।

जैन तर्क भाषा के विषय निरूपण का मुख्य आधार सटीक विशेषावश्यक भाष्य और सटीक प्रमाणनय तत्त्वालोक है। मुख्य रूप से व्याख्या में ज्ञान के निरूपण में विशेषावश्यक भाष्य का आधार है, ज्ञान और निक्षेप की चर्चा विशेषावश्यक भाष्य में अत्यधिक विस्तार से है तो जैन तर्क भाषा में संक्षिप्त है। प्रमाण और नय के निरूपण का आधार प्रमाणनय-तत्त्वालोक और उसकी याख्या रत्नाकरावतारिका है। उपाध्याय जी जैसे बहुश्रुत की रचना में चाहे जितना संक्षेप हो तथापि पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और वस्तु के विश्लेषण में शास्त्रीय तत्त्वों का समावेश करने के कारण वह स्वत: ही महत्त्वपूर्ण बन जाती है। दूसरे शब्दो में कहा जाय तो जैनतर्कभाषा आगमिक तार्किक पूर्ववर्ती जैन प्रमेयों का नव्य-न्याय की परिभाषा में विश्लेषण है। यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि उपाध्याय जी ने पूर्ववर्ती ग्रन्थो का अनुकरण ही नही किया है किन्तु नव्य-न्याय का उपयोग कर बहुत कुछ नया भी लिखा है। जैन तर्क भाषा में कई स्थल तो अतीव संक्षिप्त हो गये हैं और कई स्थल संक्षिप्त न होने पर भी नव्य-न्याय की परिभाषा के करण अत्यन्त दुरूह हो गये हैं। जैन तर्क भाषा का प्रतिपाद्य विषय ही प्रथम तो सूक्ष्म है और फिर उसपर उपाध्याय जी की सूक्ष्म विवेचना तथा यत्र तत्र नव्य न्याय की परिभाषा विषय को और भी अधिक क्लिष्ट बना देती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर पण्डित प्रवर सुखलाल जी की तात्पर्य संग्रह वृत्ति और विजय सेन सूरि के शिष्य विजय देव सूरि रचित रत्न प्रभा वृत्ति उपलब्ध होती है। पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल द्वारा उसका हिन्दी-अनुवाद किया जा चुका है, जिसे धार्मिक परीक्षा बोर्ड पाथर्डी ने प्रकाशित किया है।

अधिकार की भाषा में कहा जा सकता है कि उपाध्याय जी का साहित्यिक व्यक्तित्व उर्जस्वल था। उनके व्यक्तित्व की छाप उनके साहित्य में स्पष्ट रूप से झलक रही है। पं० सुखलाल जी के शब्दो में "जैन व जैनेतर समाज में यशोविजय जी जैसा विशिष्ट विद्वान् अभी तक उनके ध्यान में नही आया है।"

१३

भारतीय साहित्य और आयुर्वेद

आयुर्वेद अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण और स्वतंत्र विषय है, जिस पर भारत के मूर्धन्य मनीषी विचारको ने सहस्राधिक ग्रन्थो का प्रणयन कर अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा का परिचय दिया है। उनका तलस्पर्शी सूक्ष्म विवेचन अद्भुत और आकर्पक है। यदि भारतीय चिन्तन-क्षेत्र से आयुर्वेदिक साहित्य को पृथक् कर दिया जाय तो भारतीय साहित्य की चमक-दमक न्यून हो जायेगी और ऐसा प्रतिभासित होगा कि अनुभवो की अनुपम मणि-मञ्जूषा हम से छीन ली गई है। आयुर्वेदिक साहित्य में काव्योचित कमनीय कल्पना की ऊँची उडान नही है और न बौद्धिक विलास ही है अपितु स्वस्थ व्यक्तियो के स्वास्थ्य की रक्षा करने और रुग्ण व्यक्तियो को रोग से मुक्ति दिलाने की विधि है।[1]

इतिहास के प्रकाश में

आयुर्वेद का प्रारम्भ कब से हुआ, यह एक गंभीर प्रश्न है। उसके उद्भव स्थान और काल का निश्चित पता लगाना टेढी खीर है। अन्य ज्ञान-विज्ञान की निर्झरणी के आदि स्रोत का पता लगाना चाहे संभव हो, पर आयुर्वेद का छोर ढूंढना अत्यन्त कठिन है।

कल्पना के आलोक में

कहा जा सकता है कि इस विराट् विश्व में अनन्त प्राणी हैं—चर, अचर, सूक्ष्म, स्थूल, जगम, स्थावर, विकसित चेतना वाले, अविकसितचेतना वाले। उन सभी को अपने प्राण प्रिय है।[2] सब यही चाहते हैं कि हम चिरकाल तक

---

१. प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च।
— चरकसंहिता अ० ३० श्लोक २६

२. सव्वे पाणा पियाउया। —आचारांग २।८१। उ० ३

सुखपूर्वक जीये। मरण किसी को प्रिय नही।[1] यह प्राणैषणा होने पर भी कितने ही प्राणियो में वुद्धि-विकास के अभाव मे अनुभूति होने पर भी अभिव्यक्ति की कला नही है। सहस्रो वर्षों से उन पामर प्राणियो का जीवन उसी रूप में चल रहा है। उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन और परिमार्जन नहीं हुआ। पर मानव तो सृष्टि का शृंगार है। उसमें चिन्तन की शक्ति है। वुद्धि की प्रखरता है, जीवन को सजाने-संवारने की क्षमता है। जव से उसने होश सँभाला है तव से वह वैदिक ऋषि के शब्दो में प्रभु से यही प्रार्थना करता आया है—प्रभो! मेरे समस्त अग पूर्ण स्वस्थता से अपना-अपना कार्य करें, मेरी वाणी, प्राण, आँख और कान अपना-अपना कार्य करें, मेरे वाल काले रहें, दाँतो में किसी भी प्रकार का कोई रोग न हो, वाहुओ में वहुत वल हो, मेरी ऊरुओ में ओज हो, जाँघो में वेग और पैरो में दृढता हो,[2] हमारा शरीर पत्थर के समान दृढ हो[3]। हम सौ और सौ से भी अधिक वर्षों तक जीवित रहें।[4] स्वस्थ और प्रसन्न रहें। यह मानव की जिजीविषा ही आयुर्वेद के जन्म का प्रमुख कारण है।

जैन दृष्टि से

जैन साहित्य के परिशीलन से स्पष्ट परिज्ञात होता है कि वर्तमान युग में भगवान् श्री ऋषभदेव इसके प्रथम पुरस्कर्ता है। उन्होने प्रजा के हित के लिए सुख के लिए आयुर्वेद का उपदेश दिया।[5] भगवान् ऋषभ के पूर्व मानव समाज पूर्ण स्वस्थ था। रोग मुक्त था।[6]

---

१. सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउं न मरिज्जिउं।

—दशवैकालिक ६।११

२. वाड्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णो. श्रोत्रं कर्णयो अपलिताः केशा अशोणा दन्ता वहु वाह्वोर्वलम् ऊर्वोरोजो जड्घयोर्जव. पादयो प्रतिष्ठा।

—अथर्ववेद १९।६०।१-२

३. अश्मा भवतु नस्तनु. —यजुर्वेद २९।४९

४. जीवेमः शरद. शतम् —अथर्ववेद १९।६७ २

५. चिकित्सा—रोगहरणलक्षणा सा तदैव जाता।

—आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति १३१।१

(ख) चिकित्सा नाम रोगापहार क्रियाऽसाऽपि तदैव भगवदुपदेशात् प्रवृत्ता। —ऋषभ चरित्र

६. अत्थिणं भंते! भरहेवासे दुब्भुआणिइवा, कुलरोगाइवा, गामरोगाइवा, मडलरोगाइवा, पोट्टसीसवेयणाइवा, कण्णोट्ठअच्छिणहदंत वेअणाइवा,

जैन आगम साहित्य को बारह भागो में विभक्त किया गया है। इसलिए उसका नाम द्वादशाङ्गी है।[1] द्वादशाङ्गी मे बारहवां अंग दृष्टिवाद है। दृष्टिवाद के भी पाँच प्रकार हैं।[2] (१) परिकर्म, (२) सूत्र, (३) पूर्वगत, (४) अनुयोग, (५) चूलिका। इनमें से चतुर्थ विभाग पूर्वगत में चौदह पूर्वों का समावेश होता है। उनमें से बारहवे पूर्व का नाम प्राणायु[3] पूर्व है।[4] इस पूर्व श्रुत में इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास, आयुष्य और प्राण का निरूपण है। आभ्यन्तर मानसिक एवं आध्यात्मिक-स्वास्थ्य एवं बाह्य शारीरिक स्वास्थ्य की यथावत् स्थिति के रखने के उपायभूत यम-नियम आहार-विहार एवं उपयोगी रस-रसायनादि का विस्तृत विवेचन है। तथा जनपद ध्वंसि मौसिमी, दैविक, भौतिक, व्याधियो की चिकित्सा तथा उसके नियंत्रण के उपायादि का विशद विचार किया है।[5] जैन दृष्टि से प्राणायु पूर्व ही आयुर्वेद का मूल शास्त्र है। इसी के प्रकाश में पश्चात्वर्त्ती आचार्यों ने अनेक आयुर्वेदिक ग्रन्थो की रचनाएँ की हैं।

कासाइवा, सासाइवा, जराइवा, दाहाइवा, अरिसाइवा, अजीरगाइवा, दउदराइवा, पंडुरोगाइवा, भगंदराइवा, एगाहिआइवा, वेआहिआइवा, तेआहिआइवा, चउत्थहियाइवा, इंदग्गहाइवा, धणुग्गहाइवा, खदग्गहाइवा, कुमारग्गहाइवा, जक्खग्गहाइवा, भूअग्गहाइवा, मत्थयसूलाइवा, हिअयसूलाइवा, पोट्टकुच्छिजोणिसूलाइवा, गाममारीइवा, जाव सण्णिवेसमाराइवा, पाणीक्खया, जणक्खकुलक्खया वसणब्भुयमणारिया ? गोयमा णो इणट्ठे समट्ठे ववगय रोगायंका ण ते मणुआ पण्णत्ता।

— जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, कालवर्णन अमोलक, ६८

१. समवायाङ्ग सूत्र० १३६

(ख) अनुयोग द्वार

(ग) नन्दी सूत्र

२. से समासओ पचविहे पण्णन्ते त जहा—(१) परिकम्मे (२) सुत्ताइं (३) पुव्वगए (४) अणुओगे (५) चूलिका। —नन्दी सूत्र

३. तत्त्वार्थ श्रुतसागरीय वृत्ति में प्राणवाय नाम आया है।

४. नन्दी सूत्र

५. कायचिकित्साद्यष्टाङ्गं आयुर्वेदः भूतिवर्यजागुलि प्रक्रम प्राणापानविभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत् प्राणावायाम्।

—तत्त्वार्थराजवार्तिक अ० १, सू० २

पूर्वों के सम्बन्ध में आचार्यों की यह धारणा है कि वह ज्ञानराशि भगवान् श्री महावीर के पूर्व से चली आ रही है, इसलिए उत्तरवर्ती साहित्य रचना के समय इसे 'पूर्व' नाम दिया गया। इस पूर्व की रचना के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए आचार्य अकलंक ने कहा—जैसे तीव्र हवा के झोंके से दीपक को बचाने के लिए लालटेन का उपयोग न किया जाय तो वह बुझ जाता है और यदि आवरण हो तो बचा रहता है, बुझता नहीं है। इसी तरह तीव्र सन्निपातादि से ग्रस्त मानव की यदि उपेक्षा की जाय, उचित निदान पूर्वक चिकित्सा न की जाय तो वह मर सकता है, इसके विपरीत यदि आयु शेष है तो उचित चिकित्सा उसे बचा लेगी। इसी मूल भूत विचार से प्राणवाय पूर्व की रचना की गई।[१]

दिगम्बराचार्य उग्रादित्य ने प्रतिपादित किया है कि समाट् की प्रार्थना से भगवान् श्री ऋषभदेव ने कैलाश पर्वत पर मानवो को रोग मुक्ति दिलाने के लिए और स्वस्थ के स्वाथ्य का रक्षण करने के लिए भरत को आयुर्वेद का उपदेश दिया।[२] वही प्राणायु नामक पूर्व कहलाया। आयुर्वेद के प्रणयन का यही मूल है।

वैदिक दृष्टि से

वैदिक दृष्टि से आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है। ऋग्वेद में भी इस विषय की अनेक ज्ञातव्य बाते दी गई है। चरकसंहिता आयुर्वेद का एक विशिष्ट ग्रन्थ है। उस का एक सुन्दर सन्दर्भ है कि ब्रह्मा ने दक्ष प्रजापतियो को आयुर्वेद का परिज्ञान कराया, उन्होने स्वर्ग के वैद्य अश्विनी कुमारो को और अश्विनी कुमारो ने देवराज देवेन्द्र को अध्ययन कराया।

आदिकाल में मानव समाज पूर्ण स्वस्थ था, पर किन्ही कारणो से जब वह व्याधियो से संत्रस्त होने लगा[३] तब दयालु ऋषियो की एक विराट् सभा हिमालय के अंचल में हुई। उन्होने गम्भीरता से चिन्तन किया कि आरोग्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का प्रधान कारण है तथा रोग आरोग्य व जीवन को नष्ट करने वाला है।[४] आरोग्य मानव समुदाय के लिए वरदान है और

---

१. आयुर्वेद प्रणयनान्यथानुपपत्ते। —तत्त्वार्थराजवार्तिक

२. योगचिन्तामणि

३. विघ्नीभूता यदा रोगा प्रादुर्भूता शरीरिणाम्। —चरकसंहिता

४. धर्मार्थकाम मोक्षाणा, मारोग्य मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्तार., श्रेयसो जीवितस्य च॥ —चरक संहिता १५

रोग अभिशाप है। रोग से मुक्ति दिलाने के लिए ऋषिगण ध्यानस्थ हो गये[१] और उन्होने दिव्य दृष्टि से देखा कि हमें इन्द्र के पास जाना चाहिए वही हमें रोगो के उपशमन का उपाय वतायेंगे।[२] ऋषियो की ओर से भारद्वाज ऋषि आयुर्वेद के अध्ययन के लिए इन्द्र के पास गये और इन्द्र ने निदान, लक्षण तथा औषध ज्ञान—इस त्रिसूत्र का उपदेश दिया।[३] यह है वैदिक परम्परा की दृष्टि से आयुर्वेद के प्रादुर्भाव की कहानी।

आरोग्य जीवन है

आरोग्य मानवता का सार है[४] जीवन की अनमोल निधि है। जिसके अभाव में जीवन दीन, हीन और दरिद्र सा है। धन धान्य मणि मुक्ताओ का अम्वार भी आरोग्य के अभाव में मन को आह्लादित नही कर सकता। विलास के विपुल साधन भी विष सदृश प्रतीत होने लगते हैं और परिवार भी प्रमोद प्रदाता नही रहता।[५] आरोग्य से वल, आयु आदि इच्छित वस्तुए प्राप्त होती हैं। आरोग्य जीवन का शुभ लक्षण है।[६] आरोग्य ही परम लाभ है।[७] आरोग्य ही अध्ययन करने का प्रधान कारण है।[८] आरोग्य ही सुख का मूल मंत्र

---

१. प्रादुर्भूतो मनुष्याणमन्तरायो महानयम्।
क: स्यात्तेषा शमोपाय. इत्युक्ता ध्यानमास्थिता: ।।
—चरक संहिता १६

२. अथ ते शरणं शक्रं, ददृशुर्ध्यानचक्षुषा।
स वक्ष्यति शमोपायं, यथावदमरप्रभु. ।। —चरक संहिता १७

३. हेतुलिङ्गौषध ज्ञानं, स्वस्थातुरपरायणम्।
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं, बुबुधे य पितामह. ।।
—चरक संहिता २४

४. आरोग्ग सादिअं माणुसत्तणं,

५. उत्तराध्ययन अ० २० —अनाथी मुनि

६. आरोग्याद्वलमायुश्च, सुखं च लभते महत्।
इष्टाश्चाप्यपरान् भावान्, पुरुष शुभलक्षण. ।। —चरक संहिता

७. आरोग्ग परमा लाभा। —वुद्धागम

८. अह पंचहिं ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थभा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य ।।
—उत्तराध्ययन अ० ११ गा० ३

है।[1] भगवान् श्री महावीर ने सुख को दस भागों में विभक्त किया है और उनमें सर्वप्रथम स्थान आरोग्य का है।[2] पहला सुख निरोगी काया है।

रोग क्या है?

आरोग्य अनुकूल होने से सुख और रोग अनुकूल होने से दु:ख है।[3] सुख का नाम आरोग्य है और दु:ख का नाम रोग है।[4] सुश्रुत मे रोग की परिभाषा करते हुए कहा है कि किसी भी दु ख के संयोग होने का नाम रोग है।[5] दूसरे शब्दो में कहा जाय तो वात पित्त कफ की विषमता का नाम रोग है और उनकी समता का नाम आरोग्य है।[6]

चिकित्सा क्या है?

जिस क्रिया विशेष के द्वारा विषम धातु सम होती हैं वह चिकित्सा है,[7] अर्थात् वृद्धि प्राप्त दोष क्षीण हो जाते है और क्षीण दोष वृद्धि प्राप्त कर लेते हैं तब ही आरोग्य की उपलब्धि होती है। दोषो व धातुओ का मात्रा से अधिक होना भी रुग्णता का कारण है और आवश्यकता से कम होना भी हानिप्रद है। चिकित्सा दोनो को सम करती है।[8] सम होने पर रोग स्वतः नष्ट हो जाता है।

---

१. आरोग्यं सुखं व्याधिर्दु.खं।

२. दसविहे सोक्खे पण्णत्ते तं जहा—
आरोग्ग दीहमाउं, अड्ढेज्जं काम भोग संतोसे।
अत्थि सुहभोग निक्खममेव तत्तो अणावाहे।
—स्थानाङ्ग अ० १०।१००२

३. अनुकूल वेदनीय सुखं प्रतिकूल वेदनीयं दु.खं —पातञ्जल योग दर्शन

४. सुख संज्ञक मारोग्यं, विकारो दु.खमेव च। —चरक संहिता

५. अस्मिन् शास्त्रे पंचमहाभूत शरीरि समवाय. पुरुष इत्युच्यते तद् दु ख= संयोगा= व्याधय इत्युच्यन्ते। —सुश्रुत अ० १

६. (क) रोगस्तु दोप वैषम्यं, दोष साम्यमरोगता।
(ख) विकारो धातु वैषम्यं, साम्यं प्रकृति रुच्यते। —चरक सहिता

७. याभिः क्रियाभि जयिन्ते, शरीरे धातव. समा।
सा चिकित्सा विकाराणा, कर्म तद्भिषजां मतम्॥
—चरक सहिता अ० १६

८. चतुर्णा भिषगादीनां, शास्त्राणा धातु वैकृते।
प्रवृत्तिर्धातु साम्यार्था, चिकित्सेत्यभिधीयते॥—चरक संहिता अ० ९

कित्—'रोगापनयने' धातु से चिकित्सा शब्द बना है जिसका अर्थ रोग को दूर करना है। अमर कोष[१] और ऋषभ चरित[२] से भी प्रस्तुत कथन का समर्थन होता है।

आयुर्वेद क्या है ?

जो आयु का परिज्ञान कराता है वह आयुर्वेद है, अर्थात् जिस ग्रन्थ में (१) हित आयु (२) अहित आयु, (३) सुख आयु, (४) और दुःख आयु के लिए हितकारी, अहितकारी, पथ्यकारी, अपथ्यकारी, सुखकारी, असुखकारी विधान हो, तथा प्रमाण और अप्रमाण द्वारा आयु का स्वरूप बताया गया हो, वह आयुर्वेद है।[3]

रोग का आश्रय

रोग का आश्रय तन और मन है।[४] आत्मा नही। आत्मा तो शुद्ध है, अमूर्त है, रोग रहित है।[५] रोग असाता वेदनीय कर्म का फल है। मानसिक रोग प्रज्ञापराध से उत्पन्न होता है और शारीरिक रोग विषम अर्थ—अयोग अतियोग और मिथ्यायोग से तथा काल के परिणाम से होता है। मानसिक रोग का प्रशमन सम्यग्ज्ञान से होता है और शारीरिक रोग अर्थ, शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श और काल के समयोग से ठीक होता है।

---

१. चिकित्सा रुक् प्रतिक्रिया। —अमर कोष

२. रोग हरणं तिगिच्छा। —ऋषभ चरित
   (ख) आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति

३ तदायुर्वेदयतीत्यायुर्वेद, कथमिति चेत् ? उच्यते—स्वलक्षत सुखासुखतो हिताहितत. प्रमाणाप्रमाणतश्च यतश्चायुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्य गुण कर्माणि वेदयत्यतोऽप्यायुर्वेद. । —चरक संहिता अ० ३०।२३

(ख) हिताहित सुख दु खमायुस्तस्य हिताहितम्।
मान च तच्च यत्रोक्त मायुर्वेदः स उच्यते॥
—चरक संहिता सूत्र स्थान ४१

४. शरीरं सत्वसंज्ञं च, व्याधीनामाश्रयो मत।

५. लेखक की पुस्तक धर्म और दर्शन-अध्यात्मवाद . एक अध्ययन।

६. प्रज्ञापराधो विषमास्तथाऽर्था, हेतुस्तृतीयः परिणामकाल'।
सर्वामयानां त्रिविधा च शान्तिर् ज्ञानार्थकाला. समयोग युक्ताः॥
—चरक संहिता शरीर स्थानक अ० २। श्लो० ४०

त्रिविध रोग

आयुर्वेदिक साहित्य में रोग के तीन प्रकार माने गये है—(१) दोषज (२) कर्मज, (३) दोषकर्मज। दोपज रोग वह है जो मिथ्या आहार आदि से उत्पन्न होता है। कर्मज रोग वह है जो नियमित दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या इत्यादि का पूर्णतया पालन करने पर भी उत्पन्न हो जाता है। कर्म बडे शक्तिशाली हैं। कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। कर्मो के द्वारा जो रोग उत्पन्न होते हैं, वे चिकित्सा के फल को नष्ट कर देते हैं[1]। अर्थात् चिकित्सा से कर्मज रोग ठीक नही होते।

जैन दृष्टि से भी निकाचित कर्मों का फल अवश्य प्राप्त होता है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप में वह चार प्रकार का होता है।[2] उसे बिना भोगे छुटकारा नही।[3] तपाकर निकाली लोह शलाकाएँ घन से कूटने पर जैसे एकमेक हो जाती है वैसे ही ये कर्म आत्मा के साथ एकमेव हो जाते हैं अत. उन्हें भोगना ही पड़ता है पर निधत्त कर्मों के लिए निश्चय रूप से ऐसा नही कहा जा सकता। उनमें संक्रमण भी संभव है।[4]

कर्मज रोग वह है जो अल्प कारण होने पर अधिक मात्रा में बद जाता है।

स्थानाङ्ग मे रोग के चार प्रकार बताये हैं (१) वातजनित (२) पित्तजनित, (३) कफजनित (४) और सन्निपात जनित।[5]

---

१. न हि कर्म महत् किंचित्, फल यस्य न भुज्यते।
क्रियाघ्ना कर्मजा रोगा, प्रशमं यान्ति तत्क्षयात्॥

—चरक संहिता शरीर स्थान ११७

२ चउव्विहे निगाइए पण्णते तं जहा—पगइनिगाइए, ठिइनिगाइए, अणुभाग निगाइए, पएसनिगाइय।

—स्थानाङ्ग ४।२।३७१

३. कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि।

—उत्तराध्ययन ४।३

४. देखिए कर्मग्रन्थ, और धर्म दर्शन में कर्मवाद : पर्यवेक्षण।

—लेखक का लेख

५. चउव्विहा वाही पण्णते त जहा—वाइए, पित्तिए, सिंभिए, सन्निवाइए।

—स्थानाङ्ग ४।४।३४३

(ख) आवश्यक चूर्णि पृ० ३८५

(ग) बृहत्कल्पभाष्य ३।४४०८—१०

रोगों के प्रकार

रोग संख्यातीत हैं। आचार्य भद्रबाहु ने पाँच करोड़, अडसठलाख, निन्यानवे हजार पाँच सौ चौरासी रोग बताये हैं।[1] जैन ग्रन्थो में अनेक स्थलो पर सोलह विशिष्ट रोगो के नाम प्राप्त होते हैं (१) गंडी [गंडमाला जिसमें ग्रीवा फूल जाती है] (२) कुष्ठ[2] (३) राजयक्ष्मा (४) अपस्मार (५) काणिय—काण्य अक्षिरोग (६) झिमिय-जड़ता (७) कुणिय—हीनागत्व (८) खुज्जिय—कुबड़ापन (९) उदररोग (१०) मूकता (११) सूणीय—शरीर का सूजजाना (१२) गिलासणि—भस्मकरोग (१३) वेवइ (कम्पन) (१४) पीटसप्पि—पगुत्व (१५) सिलीवयइ—लीपद-फीलपाँव का रोग (१६) मधुमेह[3]।

किसी-किसी का मन्तव्य है कि अत्यन्त बाधा उत्पन्न करने वाले कुष्ठ जैसे

---

१. व्याधे कोटय पञ्च भवन्त्यष्टाधिक षष्टि लक्षाणि।
नवनवति-सहस्राणि, पञ्चशती चतुरशीत्यधिका.॥
--परिशिष्ट भद्रबाहु संहिता श्लोक ४

२. कुष्ठ रोग अठारह प्रकार का है जिसमें सात महा कुष्ठ है और ग्यारह क्षुद्र कुष्ठ हैं। समस्त धातुओ में प्रवेश करने से महा कुष्ठ असाध्य माना गया है। महाकुष्ठ के सात प्रकार ये हैं—(१) अरुण, (२) ओदुम्बर, (३) निश्य-इसे सुश्रुत में ऋष्यजिह्व हरिण के समान खुरदरा कहा है। (४) कपाल (५) काकनाद—सुश्रुत मे इसे काकणक लिखा है (६) पौण्डरीक-सुश्रुत में पुण्डरीक लिखा है। (७) दद्रु।
क्षुद्र कुष्ठ के ग्यारह भेद—(१) स्थूलारुष्क (२) महा कुष्ठ (३) एक कुष्ठ, (४) चर्मदल (५) परिसर्प (६) विसर्प (७) सिध्म, (८) विचर्चिका अथवा—विपादिका (९) किटिभ (१०) पामा—अतिदाहयुक्त पामा को कच्छू कहते है। (११) शतारुक—सुश्रुत में इसे रकसा और चरक में शतारु लिखा है।
—सुश्रुत सहिता निदान स्थान ५।४।५ पृ० ३४२
(ख) चरक संहिता २।७। पृ० १० ४९

३. (क) आचारांग १।६।१।१७३
(ख) विपाक सूत्र अभय देव वृत्ति वडौदा सू० १ पृ० ७।
(ग) निशीथ भाष्य ११, ३६४६।
(घ) उत्तराध्ययन। १०।२७
(ङ) मुत्त सक्कर के लिए निशीथ भाष्य १।५९९ देखें

रोगो को व्याधि कहा जाता है और कदाचित् होने वाले ज्वर आदि को रोग कहा जाता है।[1]

चरक में आठ महारोगो का वर्णन है[2] वात व्याधि, अपस्मार, कुष्ठ, शोफ, उदररोग, गुल्म, मधुमेह, राजयक्ष्मा। यदि इन महारोगो से ग्रसित व्यक्ति बल मास से युक्त है तो वह चिकित्सा के योग्य है अन्यथा वह अचिकित्स्य होता है।[3]

अन्य रोगो के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। जैसे दुब्भूय—दुर्भूत-टिड्डीदल द्वारा धान को हानि पहुँचाना। कुल रोग, ग्राम रोग, नगर रोग, मंडल रोग, शीर्ष वेदना, ओष्ठ वेदना, नख वेदना, दंत वेदना, शोषक्षय, कच्छु, खसर पाण्डुरोग, एक दो तीन चार दिन के पश्चात् आने वाला ज्वर, इन्द्र ग्रह, धनुर्ग्रह[4] स्कन्द ग्रह, कुमार ग्रह, यक्ष ग्रह, भूत ग्रह, उद्वेग, हृदय शूल, उदर शूल, योनि शूल, महामारी[5], वल्गुली—जी मचलाना[6] विषकुंभ फुडिया[7] आदि।

रोगोत्पत्ति के कारण

स्थानाङ्ग सूत्र में रोगोत्पत्ति के नौ कारण बताये हैं।[8] अत्यासन-अधिक

---

१ व्याधय—अतीव बाधा हेतव कुष्ठादयो, रोग-ज्वरादय.।
—उत्तराध्ययन वृहद्वृत्ति पत्र ४५४

२. वातव्याधिरपस्मारी, कुष्ठी शोफी तथोदरी।
गुल्मी च मधुमेही च, राजयक्ष्मी च यो नरः॥
—चरक सहिता इन्द्रिय स्थान ८

३. अचिकित्स्या भवन्त्येते, बल मासक्षये सति।
अन्येष्वपि विकारेषु, तान् भिषक् परिवर्जयेत्॥
—चरक संहिता इन्द्रिय स्थान ९

४ धनुर्ग्रहोऽपि वातविशेषो य शरीर कुब्जी करोति।
—वृहत्कल्प भाष्य वृत्ति ३, ३८१६

५. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति २४ पृ० १२०, शान्तिचन्द्र वृत्ति बम्बई १९२०।
(ख) जीवाभिगम वृत्ति मलय गिरि ३, पृ० १५३।
(ग) व्याख्या प्रज्ञप्ति ३, ६, पृ० ३५३।

६ वृहत्कल्प भाष्य ५।५८७०।

७. वृहत्कल्प भाष्य ३।३९०७।

८. नवहिं ठाणेहिं रोगुप्पत्ती सिया, तं जहा—अच्चासणाए, अहियासणाए, अइणिद्दाए, अइजागरिएणं, उच्चार निरोहेणं, पासवण निरो- [illegible] ोयणपडिकूलयाए, इदियत्थ विकोवणयाए।
—स्थानाङ्ग अ० ९

वैठना, अहितासन—प्रतिकूल आसन से वैठना, अतिनिद्रा लेना, अति जागरण, उच्चारनिरोध, प्रस्रवणनिरोध, अतिगमन, प्रतिकूल भोजन, इन्द्रियार्थ-विकोपन विषय वासना में अत्यधिक आसक्ति।

आचार्य शय्यंभव ने दशवैकालिक में श्रमण के लिए यह विधान किया है कि वह भिक्षा के लिए जाते समय मल-मूत्र से निवृत्त होकर जाये। प्रमाद वश यदि विस्मृत हो जाय या अन्य किसी कारण से पुन वाधा हो जाय तो वाधा को न रोके किन्तु निर्दोष स्थान पर निवृत्त हो ले।[१]

आचार्य जिन दास गणिमहत्तर[२] और आचार्य हरिभद्र[३] ने इसका कारण वताते हुए लिखा है कि मूत्र को रोकने से नेत्र शक्ति क्षीण होती है और मलावरोध से तेज नष्ट होता है और कभी-कभी जीवन भी खतरे में पड़ जाता है।

प्रस्तुत गाथा की व्याख्या करते हुए अगस्त्यसिंह स्थविर ने एक महत्त्वपूर्ण गाथा उद्धृत की है—मूत्र का वेग रोकने से नेत्र की ज्योति नष्ट होती है। मल का वेग रोकने से जीवन शक्ति का नाश होता है। ऊर्ध्व वायु रोकने से कुष्ठ रोग पैदा होता है और वीर्य का वेग रोकने से पुरुषत्व की हानि होती है।[४]

वृहत्कल्प भाष्य[५] मे भी पुरीष के रोकने से मरण, मूत्र के निरोध से दृष्टि हानि और वमन के निरोध से कुष्ठ रोग की उत्पत्ति वतलायी है।

(ख) तुलना कीजिए मिलिन्द प्रश्न पृ० १३५
वहाँ रोग के दस कारण वताये हैं।

१. गोयरग्गपविट्ठो उ, वच्चोमुत्तं न धारए।
ओगासं फासुयं नच्चा, अणुन्नविय वोसिरे। —दशवैकालिक ५।१९

२. ...... भिक्खायरियाए पविट्ठेण वच्चमुत्त न धारेयव्व, किं कारण ? मुत्तनिरोधे चक्खुवाधाओ भवति, वच्चनिरोहे य तेय जीवियमवि रुधेज्जा, तम्हा वच्चमुत्तनिरोधो न कायव्वात्ति।
—दशवैकालिक जिनदास चूर्णि

३. पुव्वमेव साहुणा सन्नाकाइओवयोग काऊण गोअरे पविसिअव्वं, कहिंवि ण कओ कए वा पुणो होज्जा ताहे वच्चमुत्तं ण धारेअव्व, जओ मुत्त-निरोहे चक्खुवघाओ भवति, वच्चनिरोहे जीविओवघाओ, असोहणा अ आयविराहणा। —दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति प० १६७

४. मुत्तनिरोहे चक्खुं, वच्च विरोहे य जीविय चयति।
उड्ढं निरोहे कोढं, सुक्कनिरोहे भवइ अपुम॥
—दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि

५. वृहत्कल्प भाष्य ३,।४३८०

चरक मे तेरह अधारणीय वेग बताये हैं। उन वेगो को रोकने से शरीर में व्याधि होने की संभावना रहती है। वे तेरह वेग ये है—(१) मूत्र (२) पुरीष (३) रेतस्-शुक्र, (४) वात-अपानवायु (५) वमन, (६) क्षवथु-छीक, (७) उद्गार-डकार (८) जुम्भा – जंभाई (९) क्षुत् १०) पिपासा (११) वाष्प आसू, (१२) निद्रा (१३) एवं परिश्रम से उत्पन्न श्वास के वेगो को रोकना।[1]

अष्टाङ्गसग्रह में कास के वेग को रोकना भी हानिप्रद बताया है। चरक के अष्टोदरीय अध्याय में वात, मूत्र, पुरीष, शुक्र, वमन और छीक इन छह वेगो को रोकने से उदावर्त बताया है। तात्पर्य यह है कि स्थानाङ्ग और चरक के रोगोत्पत्ति के कारणो में अत्यधिक साम्य है।

चिकित्सा के प्रकार

स्थानाङ्ग मे चिकित्सा के चार प्रकार बताये हैं--वैद्य, औषधियाँ, रोगी और परिचारक[2]। आयुर्वेदिक ग्रंथो में भी इसी तरह चिकित्सा का क्रम मिलता है। जिसे चिकित्सा के चार पाद कहते है। अष्टाग हृदय में भी लिखा है—वैद्य, औषधादि द्रव्य, उपस्थाता और परिचारक, चिकित्सा के ये चार पाद हैं।[3]

आयुर्वेद के आठ अंग

स्थानाङ्ग, सुश्रुत, चरक, अष्टाग संग्रह, प्रभृति ग्रन्थो में आयुर्वेद रूपी शरीर के आठ अग बताये हैं। यह ठीक है कि स्थानाङ्ग में जो क्रम दिया गया वह चरक के क्रम से भिन्न है और चरक में जो क्रम निर्दिष्ट किया गया है वह

---

१. न वेगान् धारयेद्धीमाञ्जातान् मूत्र पुरीषयो ।
न रेतसो न वातस्य, न च्छर्द्या क्षवयो र्न च ।।
नोद्गारस्य न जृम्भाया, न वेगान् क्षुत्पिपासयोः ।
न वाष्पस न निद्राया, नि.श्वासस्य श्रमेण वा ।।
एतान् धारयतो जातान्, वेगान् रोगा भवन्ति ये ।
पृथक् पृथक् चिकित्सार्थं, तान्मे निगदतु. शृणु ।।
—चरक सहिता सूत्र स्थान अ० ७ श्लोक ३।४।५

२. चउव्विहा तिगिच्छा पण्णते त जहा—विज्जो, ओसहाइ, आउरे, परियारे।   —स्थानाङ्ग ४।४।३४३

३. भिषग् द्रव्याण्युपस्थाता, रोगी पाद चतुष्टयम् ।
चिकित्सितस्य निर्दिष्टं, प्रत्येक तच्चतुर्गुणम् ।।
—अष्टाग हृदय सूत्र स्थान श्लोक २९

सुश्रुत के क्रम से भिन्न है। वस्तुतः देखा जाय तो क्रम और विक्रम का प्रश्न ही नहीं रहता, क्यो कि सभी ग्रन्थ घूम फिर कर वे ही अग बतलाते हैं।

स्थानाङ्ग में वह क्रम इस प्रकार है[1]—(१) कुमार भृत्य, (२) काय-चिकित्सा, (३) शालाक्य (४) शल्य पहर्तृक, (५) जंगोली, (६) भूत-विद्या (७) क्षारतंत्र, (८) रसायन।

चरक में वह क्रम इस प्रकार है :—[2] (१) काय चिकित्सा, (२) शालाक्य, (३) शल्य पहर्तृक (४) विषगर—अगदतत्र, (५) भूतविद्या, (६) कौमार भृत्य (७) रसायन, (८) वाजीकरण।

सुश्रुत में वह क्रम इस प्रकार है :—[3] (१) शल्य, (२) शालाक्य, (३) काय चिकित्सा, (४) भूतविद्या (५) कौमार भृत्य, (६) अगदतंत्र, (७) रसायन, (८) वाजीकरण।

सुश्रुत सहिता के आधार पर इनका परिचय इस प्रकार है :—

शल्यतन्त्र

शल्य, तृण, काष्ठ प्रस्तर, पाशु, लोह, मिट्टी, अस्थि, केश, नाखून आदि के निष्कासन का उपाय जिस तन्त्र में बताया गया हो और साथ ही अनेक प्रकार के क्षार प्रयोग, अग्निकर्म के द्वारा दग्धीकरण, जोक के द्वारा शोध स्थान से रक्त विश्रावण, यन्त्रो के माध्यम से ऑपरेशन आदि क्रिया जिसमें हो वह शल्य-तंत्र है।[4]

शल्य तत्र को ही आज की भाषा में सर्जरी कहते हैं।

शालाक्य

आँख, कान, नाक, मुख, शिरोरोग आदि के निदान एवं चिकित्सा का जिस तन्त्र में वर्णन किया गया हो, अर्थात्—जिसमें शलाकायन्त्रो का स्वरूप तथा

---

१. अट्ठविहे आउव्वेए पण्णत्ते तं जहा—कुमारभिच्चे, काय तिगिच्छा, सालाई, सल्लहत्ता, जगोली, भूय विज्जा, खारतंते, रसायणे।
—स्थानाङ्ग ८।६११

२. तस्यायुर्वेदस्याङ्गान्यष्टौ, तद्यथा—कायचिकित्सा, शालाक्य, शल्यापहर्तृकं, विषगरवैरोधिक प्रशमन, भूतविद्या, कौमार भृत्यकं, रसायनं, बाजीकरणमिति। —चरक संहिता ३०।२८

३. तद्यथा—शल्यं, शालाक्यं, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्यम्, अगदतन्त्रं, रसायनतन्त्रं, वाजीकरणमिति। —सुश्रुत सूत्रस्थान ७

४. तत्र शल्यं नाम विविध तृण काष्ठ पाषाण पाशु लोह लोष्ठास्थि वाल, नखपूयास्त्रावदुष्टव्रणान्तर्गर्भ शल्योद्धरणार्थ यन्त्र शस्त्र क्षाराग्नि प्रणिधान व्रण विनिश्चयार्थञ्च। —सुश्रुतसहिता सूत्रस्थान १

प्रयोग करने की विधि का भी निर्देश हो। जैसे मोतियाबिन्द का ऑपरेशन, दाढ निकालना आदि शालाक्य है।[१]

शालाक्य के पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति में तीन विभाग किये गये हैं। प्रथम विभाग में कर्ण, नासिका और कण्ठ की, द्वितीय में आँख की और तृतीय में दन्त की चिकित्सा का विधान है।

काय चिकित्सा

ज्वर, अतिसार, संग्रहणी, अर्श, रक्तपित्त, राजयक्ष्मा, कास, श्वास, अपस्मार, उन्माद, वात व्याधि, मूत्रकृच्छ, मूत्राघात, प्रमेह शोथ, कुष्ठ आदि के रोगो की चिकित्सा का वर्णन जिसमें हो, वह कायचिकित्सा है।[२]

भूत विद्या

भूत, प्रेत, पिशाच, डाकिनी, शाकिनी, यक्ष, राक्षस, गधर्व, असुर, नाग आदि के द्वारा उत्पन्न उपद्रवो से मुक्ति प्राप्त करने के लिए मणि मंत्र औषध, शान्तिपाठ तथा वलि प्रयोग आदि का जिसमें विधान हो, वह भूत विद्या है।[3]

कौमारभृत्य

नवजात शिशु के जन्म से लेकर जव तक कुछ वडा नही होता तव तक शिशु के भरण-पोपण गृहदोप निवृत्युपाय, तथा माँ के स्तन व दूव के शुद्धाशुद्ध होने का वर्णन तथा समस्त वाल रोगो के दूर करने का उपाय जिस तंत्र में वताया गया हो वह कौमारभृत्य है।[४]

अष्टाग हृदय में इस तत्र का नाम वालचिकित्सा दिया गया है।

अगदतन्त्र

सर्प, वृश्चिक, गोधा, मकडी, मक्षिका, जहरीले कुत्ते आदि के सभी प्रकार के विप के शमन का उपाय जिस तत्र में वताया गया हो वह अगद तंत्र है।[५]

---

१. शालाक्य नामोर्ध्वजत्रुगताना रोगाणा श्रवण नयन वदन घ्राणादि सश्रितानां व्याधीनामुपशमनार्थम् शलाकायत्र प्रणिधानार्थं च। –सु. सू १०

२. काय चिकित्सा नाम सर्वाङ्ग सश्रिताना व्याधीनां ज्वररक्तपित्त शोपोन्मादापस्मार कुष्ठ मेहातिसारादीनामुपशमनार्थम्। –सुश्रुत सू० ११

३ भूतविद्या नाम देवासुरगधर्वयक्षरक्ष पितृ पिशाच नाग ग्रहाद्युपसृष्ट चेतसां शान्ति कर्म वलिहरणादि गृहोपशमनार्थम्। —सुश्रुत सूत्र स्थान १२

४. कौमारभृत्य नाम कुमारभरणधात्रीक्षीर दोष संशोधनार्थं दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानाञ्च व्याधीनामुपशमनार्थम्। —सुश्रुत सूत्र स्थान १३

४. अगदतत्रं नाम सर्पकीटलतामूपिकादिदंष्टविपव्यजनार्थ विविधविष संयोगोपशमनार्थं च। —सुश्रुत सूत्र स्थान १४

इस तन्त्र का अपर नाम चरक में विषगर वैरोविक प्रशमन, तथा अष्टाङ्ग हृदय संग्रह में दंष्ट्राचिकित्सा व विषतन्त्र उपलब्ध होता है। स्थानाङ्ग में जङ्गोली व जाङ्गली प्रसिद्ध हैं।

रसायन

जिसमें जरा व्याधि को नष्ट करने की विद्या बताई गई हो[१] अर्थात् जिस औषध के सेवन से असमय में वृद्धावस्था न आये और बुद्धि एवं आयु की वृद्धि होकर रोग प्रतिरोधक शक्ति पैदा हो जाय, यह जिसमें बताया गया हो वह रसायन है।[२] जैसे च्यवन प्राश, ब्रह्म रसायन, गड्ची-गिलोय, पिप्पली रसायन आदि।

वाजीकरण

जिसके द्वारा नपुंसकता नष्ट हो कर तारुण्यावस्था प्राप्त हो, बलादि की अभिवृद्धि हो, वह वाजीकरण है।[३] इसे ही स्थानाङ्ग में क्षारतंत्र कहा है। शुक्र के क्षरण को क्षार कहते है जिसमें यह विषय हो उसे क्षार तंत्र कहते है।

प्रस्तुत अष्टाङ्ग में चिकित्सा की सम्पूर्ण विचार धाराएं आ गई है। वैज्ञानिक महानुभावो के सतत प्रयत्न से आज पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति में नित्य-नूतन अध्याय जुडते जा रहे हैं। शल्य चिकित्सा का विकास अपूर्व है और औषध विज्ञान में भी उनके कदम आगे बढते जा रहे हैं, पर स्पष्ट है कि आधुनिक चिकित्सा पद्धति का विशाल महल भारतीय आयुर्वेद की अष्टाङ्ग पद्धति की बुनियाद पर ही खडा है।

नीव की ईंट

अन्य ज्ञान विज्ञान की तरह ही अन्वेषणा से परिज्ञात होता है कि यूनानियो के चिकित्सा शास्त्र के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'मेटिरिया मेडिका' और 'हिप्पो क्रेटीन भारतीय आयुर्वेदिक ग्रन्थो के आधार पर ही निर्मित हुए थे।

सर्व प्रथम प्रतिभा सम्पन्न अरबी विज्ञो ने भारतीय अङ्कगणित, बीज गणित, रेखा गणित, त्रिज्यामिति, चिकित्सा शास्त्र प्रभृति विषयो का अध्ययन किया और फिर उन्होंने उसका प्रचार स्पेन के विश्व विद्यालय के माध्यम से

---

१. मज्जरा व्याधि, विध्वस भेषज तद रसायनम्। —चरक सहिता

२. रसायन तंत्रं नाम वय स्थापन मायुर्मेधा बलकरं रोगापहरण समर्थञ्च —सुश्रुत सू० १७

३ वाजीकरण तंत्रं नामाल्पंदुष्ट क्षीण विशुष्करेत सामाप्यायन प्रसादोपचयजनन निमित्तं प्रहर्षजननार्थञ्च। —सुश्रुत सं० सूत्रस्थान १६

यूरोप में किया। उस समय अरबो का साम्राज्य उत्तर अफ्रिका व दक्षिण यूरोप में स्पेन तक था। स्पेन के 'सेलमन' आदि विश्व विद्यालयो में अरब आचार्यों से शिक्षा प्राप्त करने के लिए यूरोप के विभिन्न प्रान्तो से विद्यार्थी आते थे।

विज्ञो का मन्तव्य है कि बगदाद के खलीफाओ ने भारतीय आयुर्वेदिक संस्कृत ग्रन्थो का अरबी मे अनुवाद कराया था, वही अरब के सम्पूर्ण चिकित्सा शास्त्र का मूल आधार है। अनुशीखा का समकालीन 'वेजोयेह' आयुर्वेद का अध्ययन करने के लिए भारत आया था। ईसा की आठवी शताब्दी में 'अलम न्सुर' ने भी सस्कृत के अनेक ग्रन्थो का अनुवाद किया था। खलीफा हारूनल रशीद' ने भी अपने दरबार में भारतीय विज्ञ वैद्यो को निमंत्रित किया था।

'संस्कृतलिट्रेचर' में मेकडॉनेल ने लिखा है "ईसा के सात सौ वर्ष पश्चात् अरबो पर भारतीय आयुर्वेद का जबरदस्त प्रभाव पडा, क्यो कि बगदाद के खलिफाओं ने तद्विषयक कितने ही संस्कृत ग्रन्थो को अरबी में अनुवादित करवाया। चरक व सुश्रुत के ग्रन्थ ईसा की आठवी शताब्दी के अन्त के लगभग अरबी में अनुवादित किये गये और ईसा की दसवी शताब्दी के सुप्रसिद्ध अरब हकीम अलरजी द्वारा प्रमाण ग्रन्थ माने जाकर उद्धृत किये गये। यह अरबी चिकित्साशास्त्र ईसा की सत्रहवी शताब्दी तक यूरोप के वैद्यो के लिए प्रमाणभूत रहा। यूरोपीय वैद्य भारतीय आयुर्वेदिक ग्रन्थो के लेखको को भी बहुत मानते होगे। क्योकि अरब लेखक 'इब्नसीना' 'अलरजो' 'इब्नसरफ्यू' आदि के ग्रन्थो के लैटिन अनुवाद में चरक का बार बार उल्लेख आता है। आधुनिक काल मे भी यूरोपीय शल्यविद्या ने 'हिनो-प्लेष्टी' के ऑपरेशन का ज्ञान गत शताब्दी में भारत से प्राप्त किया था"।[१]

सम्राट् अशोक के लेखो से भी ज्ञात होता है कि उसने अपने राज्य में स्थान-स्थान पर औषधालय स्थापित किये थे और भारत की श्रेष्ठ जडी बूटियाँ विदेशो मे भी भिजवाई थी।[२]

स्पष्ट है कि पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति का प्रारम्भ भारतीय चिकित्सा ग्रन्थो के अध्ययन से हुआ है, परन्तु आज उसने अत्यधिक विकास कर लिया है जिससे वह नीव की ईंट दिखलाई नही दे रही है।

भारत में शल्य चिकित्सा

कितने ही विचारको का मन्तव्य है कि भारतीय आयुर्वेदिक ग्रन्थो में शल्य चिकित्सा का केवल नाम ही था, किन्तु उसका उपयोग नही होता था। यह मन्तव्य सत्य से युक्त नही है।

---

१ सस्कृतलिट्रेचर—मेकडॉनेल पृ० ४२७।

२. भारतीय संस्कृति—शिवदत्त ज्ञानी।

भगवती सूत्र में एक मधुर प्रसंग है। एक कायोत्सर्ग के अभिग्रह वाले मुनि जो छट्ठ के तप से आतापना ले रहे है, उनकी नासिका मे अर्श है। उस अर्श के कारण मुनि को श्वासोच्छ्वास लेने में कष्टानुभव हो रहा है। उस समय कोई वैद्य उनका ऑपरेशन करता है तो धर्म वृद्धि और सत्कार्य में प्रवृत्ति होने से वैद्य को शुभ क्रिया होती हैं और मुनि को शुभध्यान के विच्छेद के कारण धर्मान्तिराय के सिवाय कोई क्रिया नही लगती।[१]

विनय पिटक के महावग्ग में जीवक नामक प्रसिद्ध बौद्ध भिषक् का वर्णन है जो शल्य चिकित्सा में निष्णात था; जिसे आज की भाषा में सर्जन कह सकते है। उसके पास ऑपरेशन करने के लिए अनेक प्रकार के स्वर्ण, रजत, ताम्र व लोह के शस्त्र थे। विशिष्ट व्यक्तियो के लिए स्वर्ण रजत आदि के शस्त्र उपयोग में लाये जाते थे।[२]

अश्वघोष ने भी एक बौद्ध भिक्षु के भगन्दर का सफल ऑपरेशन किया था।[3] धन्वतरि प्रसिद्ध शल्य चिकित्सक थे।

आवश्यक चूर्णि, निशीथ चूर्णि और वृहत्कल्प भाष्य में शल्य चिकित्सा के अनेक प्रसंग आये हैं। उन सभी प्रसंगो को यहाँ न देकर एकाध प्रसंग की ही चर्चा की जायेगी। किसी राजा के पास लक्षण सम्पन्न घोडा था। वह अदृश्य शल्य से पीड़ित था। राजा ने वैद्य को बुलाया। वैद्य ने घोडे का सम्यक् प्रकार से परीक्षण कर उसके शरीर पर कर्दम का लेप किया तो जो शल्य वाला स्थान था, वह शीघ्र सूख गया। वैद्य ने वहाँ से शल्य निकाल कर उसे रोग मुक्त कर दिया। इसके अतिरिक्त पैर में कांटा चुभने पर उसकी चिकित्सा की जाती थी।

इस प्रकार प्राचीन ग्रन्थो में ऑपरेशन के सम्बन्ध में अनेक वर्णन प्राप्त होते हैं जिसके आधार पर निःसकोच कहा जा सकता है कि भारत में प्राचीन काल में शल्य चिकित्सा होती थी। शल्य चिकित्सा करने वाले वैद्य यत्र तत्र

---

१. तस्य णं अंसियाओ लंवंति त चेव वेज्जे अदक्खु ई सिं पाडेति, ई सिं पाडेत्ता असियाओ छिंदेज्जा, से नूणं भंते! जे छिंदति तस्स किरिया कज्जति जस्स छिज्जति नो तस्स किरिया कज्जइ णण्णत्थेगेण धम्मं-तराइएण? —हंता गोयमा! जे छिंदति जाव धम्मंतराइएण।

—भगवती शतक १६ उद्दे० ३

२. विनय पिटक महावग्ग

३. विनय पिटक महावग्ग ६।१।१४

४. विपाक सूत्र ८ पृ० ४८

सुलभ थे। अनाथी मुनि ने मगव सम्राट् श्रेणिक से कहा—'जव में अक्षिवेदना से अत्यन्त पीड़ित था तव मेरे पिता ने मेरी चिकित्सा के लिए वैद्य-विद्या, और मत्रो के द्वारा चिकित्सा करने वाले आचार्य, शल्य-चिकित्सक और औपधियो के विशारद आचार्यों को वुलाया था'।[१]

पशु-चिकित्सा के विशेषज्ञ भी होते थे किसी एक वैद्य ने चिकित्सा कर एक सिंह की आँखें खोल दी थी।[२]

भारतीय आयुर्वेद का लक्ष्य

भारतीय आयुर्वेद का लक्ष्य पाश्चात्य चिकित्सा की भांति केवल तन और मन को स्वस्थ और प्रसन्न रखने तक ही सीमित नही है, तन और मन से भी बढ़कर है आत्मा। आत्मदेव के दर्शन करना भारतीय आयुर्वेद शास्त्र का लक्ष्य है[३] जो आयुर्वेद शास्त्र इस लक्ष्य की पूर्त्ति नही करता, उस आयुर्वेद शास्त्र को भारतीय ऋषियो ने पापश्रुत कहा है।[४] भारतीय आयुर्वेद का चरम लक्ष्य मोक्ष है। इसी से स्वास्थ्य के साथ ही यम, नियम, व्रत, ध्यान, योग आदि निवृत्ति मार्ग का भी उसमें विस्तार से वर्णन किया गया है।[५]

उपसंहार

आज भारत सर्वतत्र स्वतंत्र हो चुका है। भारतीय सास्कृतिक विचार धारा के अध्ययन के लिए आवश्यक है कि भारतीय साहित्य का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया जाय जिससे भारतीय संस्कृति के मौलिक तत्त्व प्रकाश में आ सकें। यहाँ कतिपय पंक्तियो मे साधना भाव होने पर भी जैन दृष्टि से आयुर्वेद के सम्वन्ध में विचार किया गया है, जो केवल दिशा-दर्शन मात्र है। विशिष्ट विज्ञो को अधिक ऊहापोह करने की आवश्यकता है।

---

१. उतराध्ययन २०।२२, सुखवोधा, पत्र २६९।

२. केनचिद् भिषजा व्याघ्रस्य चक्षुरुद्घाटितमटव्याम्।
— उतराध्ययन वृहद्वृत्ति पत्र ४६२

३. रसतंत्र सार व रस प्रयोग ग्रन्थ का प्रथम श्लोक।

४. नव विधे पावसुयप्पसंगे प० तं उप्पाते निमित्ते मंते आतिक्खते, तिगिच्छते। कला आवरणेऽन्नाणे मिच्छापावतणेति त।
(ख) हारिभद्रीयावश्यक —स्थानाङ्ग अ० ३१।गा० १९
(ग) उत्तराध्ययन

५. धर्मार्थ काम मोक्षाणा आरोग्य मूलमुत्तमम्।

१४

भारतीय संस्कृति में संगीत-कला

संगीत : एक कला

संगीत एक कला है, अपने आप में इतनी परिपूर्ण और चित्ताकर्षक कि गुलाबी बचपन से लेकर जीवन की सुनहरी संध्या तक सभी के दिल को लुभा लेती है, मन को मोह लेती है और हृदय को हर लेती है। वह केवल विशिष्ट शिष्ट विज्ञों को ही प्रिय नही है अपितु साक्षर निरक्षर, स्त्री पुरुष, बालक वृद्ध युवक, धनवान् निर्धन, किसान और विद्वान् सभी को प्रिय है। सभी का समान खाद्य है।

संगीत का महत्त्व

इतना ही नही संगीत की सुमधुर स्वर लहरी को श्रवण कर मानव तो क्या पशु-पक्षी भी विमुग्ध हो जाते हैं और अपने क्रूर हिंसक स्वभाव को विस्मृत कर अहिंसक बन जाते हैं।

भारतीय संस्कृति के एक महान् आचार्य ने जो सगीत की मोहिनी से भली-भाति परिचित है, क्या ही सुन्दर कहा है कि पशु और मूर्ख भी जब सगीत कला पर मुग्ध हो जाते हैं तब पण्डित गण मुग्ध हो तो उसमें आश्चर्य क्या है ?

जैन साहित्य के अध्येता यह अच्छी तरह से जानते हैं कि 'कपिल मुनि' ने उत्तराध्यन सूत्र के आठवें अध्ययन को ध्रुवपद में गाकर पाँच सौ तस्करों को स्त्येय कृत्य से विरक्त करके जैनेन्द्री दीक्षा प्रदान की थी।[१]

---

१. ···ताहे ताणवि पंचवि चोरसयाणि ताले कुट्टंति, सोऽवि गायति धुवगं, "अधुवे असासयमि, ससारमि दुक्खपउराए" किं णाम त होज्ज कम्मयं ? जेणाह दुग्गइ ण गच्छेज्जा" ॥ १ ॥ एवं सव्वत्थ सिलोगन्तरे धुवगं गायति 'अधुवेत्यादि', तत्थ केइ पढमसिलोगे सबुद्धा, केइ

भारतीय इतिहास विज्ञो से यह बात छिपी हुई नही है कि उन भक्त-प्रवर कवियों ने और प्रबुद्ध प्रतिभा सम्पन्न सन्तो ने सगीत द्वारा जन-गण मन में से उदासीनता और निराशा को हटाकर आशा और उल्लास का संचार किया, भोग की भयंकर गदगी को हटाकर भक्ति का सुगन्धित सरसब्ज बाग लगाया व दार्शनिक जैसे गहन गंभीर विचारो को और धार्मिक जैसी भव्य भावनाओ को गगन चुम्बी राज प्रासादो से लेकर गरीबो की झोंपडियो तक पहुँचाने का प्रयत्न किया।[१] वस्तुतः सगीत एक ऐसा सुनहरी धागा है जिसने सारे देश को एकता के सूत्र में बाधा है।

संगीत हृदय का उच्छ्वास हैं। मानव की भव्य-भावनाओ की सहज सरल और मधुर अभिव्यक्ति है। जीवन की कमनीय कला है, जिसके अभाव में जीवन नीरस है। महाकवि शेक्सपियर के शब्दो में 'जो मानव संगीत नही जानता और उसके स्वरो पर मुग्ध नही होता वह पतित, विश्वास घाती और आत्मद्रोही है। उसका हृदय गहन अंधकार युक्त रात से भी अधिक भयंकर है। वह अविश्वसनीय है।[२]

कर्म योगी श्री कृष्ण ने नारद से कहा-मेरा निवास वैकुण्ठ में नही है और न शुष्क क्रियाकाड करने वाले योगियो के हृदय में ही है। मै तो वहा रहता हूँ जहा पर मेरे भक्त तन्मय होकर सुमधुर स्वर लहरी से गाते हैं।[१]

वीए, एवं जाव पंचविसया संबुद्धा पव्वतिर्यत्ति।' स हि भगवान् कपिलनामा ····· ध्रुवकं संगीतवान्।

--उत्तराध्ययन वृहद् वृत्ति पत्र २८९

१. भारत में भक्ति ने सगीत को और सगीत ने भक्ति को बहुत आगे बढाया है। --महात्मा गाधी

२ Shakespeare :—

The man that hath no music in himself, nor is moved with concerd of sweet sounds is fit for truson stratage in and spoils. The nation of his spirits are dull as might And his affiication as Evelbus let no such mean be trusted.

१. नाहं वसामि वैकुण्ठे, योगिना हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति, तत्र तिष्ठामि नारद॥

संगीत की सुमधुर स्वर लहरी पाषाण हृदय को भी द्रवित करने में सक्षम है। उस पर मानव तो क्या नाग भी डोल जाते हैं। अनुश्रुति है कि बैजूबावरा, गोपालनायक, मोहम्मद 'घोष', और तानसेन आदि के संगीत के समय वन्य पशु तक भी स्तंभित हो जाते थे। दीपक राग से दीपक जगमगा उठते थे। हिंडोला राग से झूले झूम पड़ते थे, मेघ मल्लार राग से पानी बरस पड़ता था और माल कोस राग से शिला भी द्रवित हो जाती थी। संगीत एक प्रकार से विश्व भाषा है।

आज-कल कुछ पाश्चात्य विचारकों ने सगीत का नवीन प्रयोग प्रारम्भ किया है। संगीत के द्वारा उन्होंने अनेक दुस्साध्य मानसिक व शारीरिक व्याधियों का प्रतीकार किया है। उनका यह दृढ मन्तव्य है कि 'भविष्य में संगीत चिकित्सा मानव समाज के लिए वरदान सिद्ध होगी।'

नाट्य शास्त्र के रचयिता आचार्य भरत ने संगीत का महत्त्व प्रतिपादन करते हुए कहा है "संगीत संसार के सभी प्राणियो के दुःख शोक का नाशक है और आपत्ति काल में भी सुख देने वाला है।[1] भर्तृहरि ने संगीत कला से अनभिज्ञ व्यक्ति को पशु की संज्ञा प्रदान की है।[2] और महात्मा गाधी ने कहा है 'संगीत के बिना तो सारी शिक्षा ही अधूरी लगती है।[3] अत चौदह विद्याओ में संगीत एक प्रमुख विद्या मानी गई है।

यह कहना अतिशयोक्ति नही होगा कि सगीत में जितनी मधुरता, सरसता, व सरलता है उतनी अन्य कलाओ में नही। माधुर्य ही सगीत-कला का प्राण है जो जादू की तरह अपना प्रत्यक्ष प्रभाव दिखलाता है।[4]

संगीत क्या है ?

संगीत हृदय की भाषा है और वह अनेक राग-रागिणियो के माध्यम से व्यक्त होता है। सगीत का मूल आधार राग है। राग की परिभाषा प्राय.

---

१ सर्वेषामेव लोकाना, दु.ख शोक विनाशनम्।
यस्मात्सदृश्यते गीतं, सुखद व्यसनेष्वपि॥ —आचार्य भरत

२. साहित्य-संगीत कला विहीन.।
साक्षात् पशु. पुच्छ विषाणहीनः॥ —नीतिशतक

३. गांधी जी की सुक्तियाँ।

४. सगीत का सौन्दर्य श्रवण की मधुरता में है। —शिरुपञ्चमूलम्

सभी मूर्धन्य मनीपियो ने एक सी की है। "जो ध्वनि विशेष स्वर वर्ण से विभूपित हो, जन चित्त को अनुरञ्जन करने वाली हो वह राग है"।[1]

गति क्या है ? जिज्ञासु के प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य ने कहा "आकर्षक स्वर सन्दर्भ का नाम ही गीत है"।[2]

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति की टीका में आचार्य मलयगिरि ने 'पद-स्वर-तालवधानात्मक गान्धर्व को गीत कहा है'।[3]

समवायांग सूत्र की टीका में आचार्य अभयदेव ने गान-विज्ञान को या गन्धर्व कला को गीत कहा है।[4]

गीत शब्द के पूर्व 'सम्' उपसर्ग लग जाने से सगीत शब्द बना है, जिसका अर्थ सम्यक् प्रकार से लय, ताल और स्वर आदि के नियमो के अनुसार पद्य का गाना है।

संगीत का प्रारम्भ कब से ?

सगीत श्रवण करना और गाना मानव जीवन की सहज प्रकृति है। सगीत का प्रारम्भ कब से हुआ, इस विपय में कुछ कह सकना सरल न होगा, किन्तु यह स्पष्ट है कि सगीत का इतिहास बहुत पुराना है। वह मानव जीवन का सदा का साथी है।

भारतीय साहित्य का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि भारतीय साहित्य में अन्य विपयो की चर्चा के साथ संगीत का विशद विश्लेषण किया गया है। आगम, त्रिपिटक, वेद और उपनिपदो में सूत्र रूप में उसकी खासी अच्छी चर्चा है। परवर्ती विज्ञो ने उसका अच्छा विकास किया है। यहाँ पर उसके विकास की सांगोपाग चर्चा करना तो संभव नही है, पर कुछ विचार अवश्य किया जायेगा, जिससे यह ज्ञात हो सके कि गीतो के बीज कहाँ पर बिखरे पड़े हैं ?

---

१. योऽयं ध्वनि विशेपस्तु, स्वरवर्ण विभूपित ।
रञ्जको जन चित्ताना, स राग कथ्यते बुधै. ॥

२. रंजक. स्वर सन्दर्भो, गीतमित्यभिधीयते ।

३. गीतं पदस्वर तालावधानात्मकं गाधर्वमिति भरतादि शास्त्र वचनात् ।
—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

४. गीतं—गन्धर्व कला गान विज्ञान मित्यर्थ· । —समवायाङ्ग ७२

जैनागमों में संगीत

आगम जैन दर्शन कला आदि के विचारों का मूल स्रोत है। आगमो में अनेक स्थलो पर विविध दृष्टियो से गीतो का वर्णन उपलब्ध होता है। कही कला की दृष्टि से, कही विषय प्रतिपादन की दृष्टि से और कही विरक्ति के विवेचन के रूप में। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, प्रश्न व्याकरण, जीवाभिगम, ज्ञातृ धर्म कथा, समवायाङ्ग, वृहत्कल्प, स्थानाङ्ग और अनुयोग द्वार आदि आगमो में 'गीत' 'शब्द का प्रयोग हुआ है और कही कही पर तो प्रस्तुत शब्द पर विस्तार से विवेचन भी हुआ है।

भगवान् श्री ऋषभदेव ने प्रजा के हित के लिए, अभ्युदय के लिए, जन-जीवन में सुख और शान्ति का सचार करने के लिए कलाओ का उपदेश प्रदान किया।[१] उन कलाओ में बहत्तर कलाए पुरुष के लिए थी[२] और चौसठ कलाएं महिलाओ के लिए थी। उन बहत्तर कलाओ में गीत पचम कला और चौसठ कलाओं में गीत ग्यारहवी कला है। उस युग में स्त्री और पुरुष दोनों के लिए इस कला का परिज्ञान करना आवश्यक माना जाता था। ज्ञातृधर्म कथा में मेघ-कुमार का वर्णन करते हुए उसका विशेपण 'गोत रति गाधर्व नाटच कुशल' दिया है।[३] दशाश्रुतस्कंव में भोगकुल व उग्रकुल के पुत्रो का वर्णन करते हुए कहा है कि वे स्त्रियो के समूह से परिवृत्त, वडे शब्द से तडित, नाटय, गीत, वादित्र, तंत्री, ताल, त्रुटित, घन, मृदंग, आदि वाद्य यंत्रो से युक्त थे।[४] आगमों में विवाह के पश्चात् भी 'उप्पि पासाय फुट्टेतेहि विहरति' का उल्लेख है।[५]

---

१ बावत्तरि कलाओ, चउसट्ठि महिलागुणे, सिप्पसयं च कम्माण तिन्नि वि पयाहि आए उवदिसइ ... .

—कल्प सूत्र, सुबोधिका टीका सू० २११

२ (क) लेहाइआओ गणिअप्पहाणाओ सउणरुअपज्ज वसाणाओ बावत्तरि कलाओ उपदिदेस। —जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वक्षस्कार

(ख) समवायाग ७२

३. गीइ रई गधव्व नट्ट कुसले। —ज्ञातृ धर्म कथा पृ० ३८ आगमोदय

४. हय-नट्ट-गीए-वाइए-तंतीतल तालतुडिय-घण मुइंग-मद्दल-पडु-प्पवाइर-वेणं। -दशाश्रुत स्कंव १० दशा पृ० ४१३ आ० आतमाराम जी म०।

५. अनुत्तरोपपातिक तृतीय वर्ग पृ० ३८।

(ख) ज्ञातासूत्र अ० १ : तथा १ था

राजा महाराजा और अभिजात्य वर्ग के लोग ही नही अपितु साधारण व्यक्ति भी गाने के शौकिन थे। जैसे चित्र और संभूत ये मातंग पुत्र तिसरय वेणु, और वीणा को बजाते हुए जब नगर से निकलते थे तब लोग मुग्ध हो जाते थे। कौमुदी महोत्सव पर भी लोग गीत गाते थे।[१] इसी प्रकार इन्द्र महोत्सव पर भी।[२] आवश्यक चूर्णि में वर्णन है कि राजा उदयन बडा संगीतज्ञ था। उसने सुमधुर संगीत के द्वारा एक बार मदोन्मत्त बने हुए हाथी को वश मे कर लिया था। एक बार उज्जैनी के राजा प्रद्योतन ने राजकुमारी वासवदत्ता को सगीत सिखाने के लिए उसको नियुक्त किया था और उसने उसे सगीत की शिक्षा दी थी।[३] सिन्धु-सौवीर के राजा उद्रायण भी श्रेष्ठ संगीतज्ञ थे। वे स्वयं तो वीणा बजाते और रानी नृत्य करती थी।[४] वह सरसो की राशिपर भी नृत्य करती थी।[५]

स्थानाङ्ग मे काव्य के चार प्रकारो मे संगीत की गणना की गई है।[६] वह वाद्य, नाटय, गेय और अभिनय के भेद से चार प्रकार का है। उसमें वीणा ताल, तालसय, और वादिन्त्र को मुख्य स्थान दिया है।

गीत के प्रकार

समवायाङ्ग में गीत कला का उल्लेख करते हुए टीकाकार गीतो के तीन भेद किये है।[७] जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में चार प्रकार के गीत बताये है।[८]

शिष्य जिज्ञासा करता है--भगवन् ! स्वर कितने हैं ? गीत का प्रादुर्भाव

---

१. उत्तराध्ययन टीका १३, पृ० १८५।

२ उत्तराध्ययन टीका पृ० १३६।
(ख) निशीथ सूत्र १९-११-१२। तथा भाष्य।

३. आवश्यक चूर्णि ३, पृ० १६१

४. उत्तराध्ययन टीका १८ पृ० २५३

५. आवश्यक चूर्णि पृ० ५५५

६. चउव्विहे कव्वे पण्णते तं जहा-गज्जे, पज्जे, कत्थे, गेए।
— स्थानाङ्ग ३७९ आगमो पृ० २८७

७. गीत कला सा च निबन्धन मार्गश्छलिक मार्ग भिन्न मार्ग मार्ग भेदात् त्रिधा।

८. अप्पेगइया चउव्विहं गेय गायंति त जहा-उक्खित्त, पायत्तं मंदाइयं रोइआवसाण। --जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति पृ० ४७९ अमोलक ऋषि

कहाँ से होता है ? कहाँ उच्छ्वास ग्रहण किये जाते है ?] और कितने गीत के प्रकार हैं ?[१]

आचार्य समाधान देते है—वत्स, सात स्वर हैं और वे नाभि से समुत्पन्न होते हैं, शब्द ही उनका मूल स्थान है। छन्द के प्रत्येक चरण में उच्छ्वास ग्रहण किये जाते है और गीत के तीन प्रकार हैं।[२]

शिष्य पुनः प्रश्न करता है–भन्ते। गीत के तीन प्रकार कौन से हैं ? इसका समाधान भी आगमकार देते हैं--"गीत प्रारम्भ मे मृदु होता है, मध्य में तेज होता है और अन्त में पुनः मन्द होता है।[३]

गीत के दोष

शिष्य पुन. जिज्ञासा प्रस्तुत करता है भन्ते ! गीत के कितने दोष और कितने गुण हैं ? इस जिज्ञासा का भी सूत्रकार सुन्दर समाधान देते है--

वत्स ! गीत के छह दोष और आठ गुण है। जो इन दोषो का और गुणो का परिज्ञाता होता है वही कला–कोविद सम्यक् प्रकार से गाता है।[४]

शिष्य पुन· परिप्रश्न करता है—भगवन्। वे गीत के छह दोष और आठ गुण कौन से हैं ? समाधान किया जाता है कि छह दोष ये हैं।[५]

---

१ सत्त सराओ कओ संभवति गेयस्स का भवति जोणी कतिसमता उस्सासा कति वा गेयस्स आगारा ? —स्थानाङ्ग ७।३।१९।३९३
(ख) अनुयोग द्वार गा० १९

२ (क) सत्त सरा णाभीतो भवति गीतं च रुय जोणी तं पादसमा ऊसासा, तिन्नि य गीयस्स आगारा। — स्थानाङ्ग ७।३।१९।५३३
(ख) अनुयोग द्वार गा॰ २१

३ आइमिउ आरभता समुव्वहता य मज्झगारमि।
अवसाणे तज्जवितो, तिन्नि य गेयस्स आगारा ॥
—स्थानाङ्ग ७।३।२१।५५३
(ख) अनुयोग द्वार गा० २१

४. (क) छद्दोसे अट्ठगुणे तिन्नि य वित्ताइं दो य भणितीओ।
जाणाहिति सो गाहिइ सुसिक्खिओ रंगमज्झम्मि ॥
—स्थानाङ्ग ७।३।२२।५५३
(ख) अनुयोग द्वार २२

५. भीतं दुतं रहस्सं गायंतो मा तं गाहि उत्तालं।
काकस्सरमणुनासं च होति गेयस्स छद्दोसा ॥
—स्थानाङ्ग ७।३।२३।५५३
(ख) अनुयोग द्वार २३

(१) *भीतं—* भयभीत मानस से गाना।

(२) *द्रुतं—* जल्दी जल्दी गाना।

(३) *अपित्थं—* श्वास युक्त शीघ्र गाना अथवा ह्रस्व स्वर व लघुस्वर से गाना।

(४) *उत्तालं—* अति उत्ताल स्वर से व अव्वस्थान ताल से गाना (तालसे विरुद्ध गाना)

(५) *काकस्वरं—* कौए की तरह कर्ण-कटु शब्दो से गाना।

(६) *अनुनासिकम्—*अनुनासिका से गाया जाय अर्थात् नाक से गाना।

गीत के गुण

गीत के आठ गुण इस प्रकार हैं—[१]

(१) *पूर्णं—* स्वर, लय, और कला से युक्त गाना।

(२) *रक्त—* पूर्ण तल्लीनता पूर्वक गाना।

(३) *अलंकृत*—स्वर विशेष से अलंकृत गाना।

(४) *व्यक्त—* स्पष्ट रूप से गाना जिससे स्वर और अक्षर साफ-साफ ज्ञात हो सकें।

(५) *अविघुष्ट*—अविपरीत स्वर से गाना।

(६) *मधुर—* ऋतुराज वसन्त के आगमन पर जैसे कोकिला मस्त होकर गाती है, वैसा मधुर गाना।

(७) *सम—* ताल वंश, व स्वर से समत्व गाना।

(८) *सुललित*—कोमल स्वर से गाना।

ये आठो गुण संगीत-कला के लिए आवश्यक हैं। इनके अतिरिक्त और भी गुण शास्त्रकार ने प्रतिपादित किये है जो इस प्रकार हैं :—[२]

---

१. पुन्नं रत्तं च अलंकियं च वत्तं तहा अविघुट्ठं।
मधुरं समं सुकुमारं, अट्ठगुणा होंति गेयस्स ॥

—स्थानाङ्ग ७।३।२४

(ख) अनुयोग द्वार ६

२. उरकंठ सिरपसत्थं च, गेज्ज ते मउरिभिअपदवद्धं।
समतालपडुक्खेवं सत्तसर सीहरं गीयं ॥

—स्थानाङ्ग ७।३।२५

(ख) अनुयोग द्वार ७

(१) उरोविशुद्ध—जो स्वर वक्षस्थल में विशुद्ध होकर निकलता है वह उरोविशुद्ध कहा जाता है।

(२) कंठविशुद्ध—जो स्वर भंग न होकर स्पष्ट तथा कोमल रहे वह कंठ विशुद्ध कहा जाता है।

(३) शिरोविशुद्ध—मूर्धा को प्राप्त होकर भी जो स्वर नासिका से मिश्रित नही होता वह शिरोविशुद्ध कहा जाता है।

(४) मृदुक— जो राग कोमल स्वर से गाया जाय वह मृदुक कहलाता है।

(५) रिङ्गित— जहाँ आलाप के कारण स्वर अठखेलियाँ करता सा प्रतीत हो, वह रिङ्गित कहलाता है।

(६) पदबद्ध— जहाँ गेय पद विशिष्ट लालित्ययुक्त भाषा में निर्मित किये गये हो।

(७) समताल-प्रत्युत्क्षेप—जहाँ नर्तकी का पाद-निक्षेप और ताल आदि परस्पर मिलते हो, वह समताल प्रत्युत्क्षेप कहा जाता है।

(८) सप्तस्वरसीभर—जहाँ सातो स्वर अक्षरादि से मिलान खाते हो उसे सप्तस्वरसीभर कहा जाता है।

वे अक्षरादि समसात प्रकार के हैं।[१]

(१) अक्षर सम—जहाँ ह्रस्व के स्थान पर ह्रस्व, दीर्घ के स्थान पर दीर्घ, प्लुत के स्थान पर प्लुत, और सानुनासिका के स्थान पर सानुनासिक अक्षर बोला जाय, वह अक्षर सम कहा जाता है।

(२) पद सम— जहाँ पद विन्यास राग से युक्त हो।

(३) तालसम— जहाँ करादि का हिलाना ताल के अनुकूल हो।

(४) लयसम— वाद्य यन्त्रो के एव लय के साथ स्वर मिलाकर गाना।

(५) ग्रहसम— वासुरी या सितार आदि के स्वर को सुनकर उसी तरह से गाना।

(६) निश्वसितोच्छ्वसितसम—जिसमे निश्वास और उच्छ्वास का क्रम व्यवस्थित हो।

---

१. अक्खरसमं पयसमं, तालसमं लयसमं च गेयसमं।
नीससिओससियसम, सचारसम सरा सत्त॥ —अनुयोग द्वार ८

(७) *संचारसम*–वाद्य यंत्रो के साथ ही गाया जाय। प्रकारान्तर से गेयगीत के अन्य आठ गुण भी आगमकार ने निर्दिष्ट किये हैं। वे ये है—[1]

(१) *निर्दोष* – गीत के जो वत्तीस दोष वतलाये हैं, उनसे रहित गाना।

(२) *सारवन्त*– विशिष्ट अर्थ से युक्त गाना।

(३) *हेतुयुक्त*— गीत से निबद्ध, अर्थ का गमक और हेतु युक्त हो ऐसा गाना।

(४) *अलंकृत*—उपमादि अलकारो से युक्त हो।

(५) *उपनीत*—उपनय से युक्त हो।

(६) *सोपचार*—कठिन न हो, विशुद्ध हो, सम्य हो व अनुप्रास युक्त हो।

(७) *मित*— संक्षिप्त व सारयुक्त हो।

(८) *मधुर* – योग्य शब्दो के चयन से श्रुति मधुर हो।

छन्द

आगमकार ने छन्द तीन प्रकार के वतलाये हैं—[2]

(१) *सम* – जिस छन्द में चारो पादो के अक्षरो की संख्या समान हो वह सम कहलाता हैं।

(२) *अर्धसम*— जिस छन्द के प्रथम और तृतीय, द्वितीय और चतुर्थ पाद समान संख्या वाले हो वह अर्धसम कहलाता है।

(३) *विषम सम*-जिसमें किसी भी पाद की संख्या एक दूसरे से न मिलती हो, वह विषम कहलाता है।

कौन कैसा गाता है ?

शिष्य प्रश्न करता है—भगवन्! क्या सभी व्यक्ति एक सदृश गाते है या विभिन्न तरह से गाते हैं ?

---

१. निद्दोसं सारवंतं च हेउजुत्तमलंकियं।
उवणीय सोवयारं च, मियं मधुर मेव य ॥ —स्थानाङ्ग
(ख) अनुयोग द्वार ९

२. सममद्धसमं चेव, सव्वत्थ विसमं च जं।
तिन्नि वित्तप्पदायाइं चउत्थं नोपलब्भती ॥ —स्थानाङ्ग
(ख) अनुयोग द्वार १०

आगमकार समाधान करते हैं कि सभी एक सदृश नही गाते किन्तु अलग-अलग प्रकार से गाते हैं।[१] स्थानाङ्ग के अनुसार श्यामा मधुर गाती है। काली खर और रूक्ष गाती है। गौरी चतुर गाती है। अंधा द्रुत गाता है। पिंगल विस्वर गाता है।[२] और अनुयोग द्वार के अनुसार—गौरी मधुर गाती है, श्यामा खर और रूक्ष गाती है, काली चतुर गाती है, काणी अविलम्ब गाती है, अंधा द्रुत गाता है और पिंगल विस्वर गाता है।

सप्तस्वर

सप्त स्वरो पर ही सगीत का सुहावना सौध निर्मित हुआ है। स्थानाङ्ग व अनुयोग द्वार में सप्त स्वरो का सुन्दर व सरस वर्णन है। दोनो ही आगमों की गाथाएँ एक सदृश हैं। वे सात स्वर इस प्रकार हैं —[३]

(१) षड्ज—जो नासिका, कंठ, छाती, तालु, जिह्वा और दाँत इन छह स्थानो से उत्पन्न होता है।[४]

---

१. केसी गातति य मधुर केसी गातति खर च रुक्ख च।
केसी गायति चउरं, केसी विलंवं दुतं केसी।।
विस्सरं पुण केरिसी ? —स्थानाङ्ग ७
(ख) अनुयोग द्वार स्वर लक्खणा गा० १२

२. सासा गायइ मधुरं, काली गायइ खरं च रुक्खं च।
गोरी गातति चउर, काण विलब दुतं अंधा।।
विस्सरं पुण पिंगला। —स्थानाङ्ग ७।३।२०।५५३
(ख) गोरी गायइ महुरं, सामा गायइ खर च रुक्खं च।
काली गायइ चउर काणा य विलबिय दुय अधा।।
विस्सरं पुण पिंगला। —अणुयोग द्वार स्वरलक्खणा १३

३ सज्जे रिसभे गंधारे, मज्झिमे पचमे सरे।
धेवते चेव णिसाते, सरा सत्त वियाहिता।।
सज्ज तु अग्गजिब्भाते, उरेण रिसभं सरं।
कंठुग्गतेण गधार, मज्झजिब्भाते मज्झिमं।।
णासाए पंचमं बूया, दतोट्ठेण य धैवतं।
मुद्धाणेण य णेसातं, सरठाणा वियाहिता।। —स्थानाङ्ग ७।१।३
(ख) अणुयोगद्वार-गा० १ से ३ स्वरलक्षण

४ नासा कण्ठमुरस्तालु, जिह्वां दन्ताश्च सश्रितः।
षड्भि. सञ्जायते यस्मात्तस्मात् षड्ज इति स्मृत.।।
—स्थानाङ्ग अभयदेव वृत्ति

(२) *वृषभ* —जब वायु नाभि से उत्पन्न होकर कंठ और मूर्धा से टक्कर खाकर वृषभ के शब्द की तरह निकलता है।[१]

(३) *गांधार*—जब वायु नाभि से उत्पन्न होकर हृदय और कंठ को स्पर्श करता हुआ सगंध निकलता है।[२]

(४) *मध्यम*—जो शब्द नाभि से उत्पन्न होकर हृदय से टक्कर खाकर पुन नाभि में पहुँच जाता है अर्थात् अन्दर ही अन्दर गूंजता रहता है।[३]

(५) *पञ्चम*—नाभि, हृदय, छाती, कंठ और सिर, इन पांच स्थानों से उत्पन्न होने वाला स्वर।[४]

(६ *धैवत*—अन्य सभी स्वरों का जिसमें संमिश्रण हो, इसका अपर नाम रैवत है।[५]

(७) *निषाद*—जो स्वर अपने तेज से अन्य स्वरों को दबा देता है और जिसका देवता सूर्य हो।[६]

स्वर परिज्ञान

मयूर के स्वर से षड्ज, कुक्कुट के स्वर से ऋषभ, हंस के स्वर से गांधार, गवेलक के स्वर से मध्यम, कोयल के स्वर से पचम, सारस और क्रोंच के स्वर

---

१. वायु समुत्थितो नाभे कठशीर्ष समाहत.।
नर्दत्युषभवद् यस्मात् तस्मादृषभ उच्यते ॥
—स्थानाङ्ग अभयदेव वृत्ति २

२ वायुः समत्थितो नाभे कण्ठशीर्ष समाहतः।
नानागंधावह. पुण्यो, गान्धार स्तेन हेतुना ॥ —वही ३

३ वायुः समुत्थितो नाभेरुरोहृदि समाहत ।
नाभि प्राप्तो महानादो, मध्यमत्वं समश्नुते ॥ —वही ४

४. वायुः समुत्थितो नाभेरुरोहृत्कण्ठशिरोहत.।
पञ्चस्थानोत्थितस्यास्य पञ्चमत्वं विधीयते ॥ —वही ५

५ अभिसन्धयते यस्मादेतान् पूर्वोत्थितान् स्वरान्।
तस्मादस्य स्वरस्यापि, धैवतत्वं विधीयते ॥ —वही ६

६. निषीदति स्वरा यस्मान्निषादस्तेन हेतुना।
सर्वाश्चाभिभवत्येष, यदादित्योऽस्य दैवतम् ॥ —वही ७

से धैवत तथा अंकुश से प्रताडित हस्ती की चिघाड से निषाद स्वर परिज्ञात होता है[1]। तात्पर्य यह है कि मयूर षड्ज स्वर में आलापता है, कुक्कुट ऋषभ स्वर में बोलते हैं, इत्यादि। इसी प्रकार अचेतन पदार्थों से भी सात स्वरो का ज्ञान होता है। जैसे ढोल से षड्ज, गोमुखी से वृषभ, शंख से गाधार, झल्लरी से मध्यम, तबले से पञ्चम, नगाडे से धैवत और महाभेरी से निषाद स्वर जाना जाता हैं।[2] आचार्यों ने इसके अतिरिक्त दो स्वर षड्ज, और पञ्चम स्वर को निकाल कर चार स्वर कोमल और एक स्वर को तीव्र मानकर द्वादश स्वर भी माने है।

स्वरों का फल

आगमकार ने स्वरो का फल बतलाते हुए कहा है–जो मानव षड्ज स्वर से बोलता है, वह आजीविका प्राप्त करता है। उसके प्रत्येक कार्य सिद्ध होते हैं। उसे गायें, पुत्र व मित्र प्राप्त होते हैं तथा वह कान्ताप्रिय होता है।[3] वृषभ स्वर का प्रयोग करने वाला ऐश्वर्य, सेना, सन्तान, धन, वस्त्र, अलंकार आदि प्राप्त करता हैं।[4] गाधार स्वर से गाने वाला आजीविका के सभी साधन

---

१ सज्जं रवति मयूरो, कुक्कुडो रिसह सर।
हसो णदति गंधारं, मज्झिमं तु गवेलगा॥
अह कुसुमसभवे काले, कोइला पचमं सर।
छट्ठ च सारसा कोचा, णिसायं सत्तम गाता॥
—स्थानाङ्ग ७।३।५५२ गा० ४-१

(ख) अणुयोग द्वार सरलक्खण गा० १-२

२. सज्जं रवति मुइगो गोमुही रिसभं सरं।
संखो णदति गंधारं, मज्झिमं पुण झल्लरी॥
चउचलणपतिट्ठाणा, गोहिया पचम सर।
आडवरो रे वतितं, महाभेरी य सत्तमं॥ —स्थानाङ्ग ७

३. सज्जेण लभति वित्तिं, कतं च ण विणस्सति।
गावो मित्ता य पुत्ता य, णारीणं चेव वल्लभो॥
—स्थानाङ्ग ७।३।८

(ख) अनुयोग द्वार स्वर लक्खण गा० १

४. रिसभेण उ एसज्जं, सेणावच्चं धणाणि य।
वत्थगंधमलंकारं, इत्थिओ सयणाणि व॥ —स्थानाङ्ग ७।३।९
(ख) अनुयोग द्वार गा० २

उपलब्ध करता है, तथा अन्य कलाओं का भी ज्ञाता होता है।[१] मध्यम स्वर से गाने वाला सुखी जीवन व्यतीत करता है।[२] पञ्चम स्वर से गाने वाला-पृथ्वीपति बहादुर संग्राहक, और गुणज्ञ होता है।[३] रैवत स्वर से गाने वाला दुःखी, प्रकृति का नीच और अनार्य होता है। वह प्रायः शिकारी, तस्कर और मल्लयुद्ध करने वाला होता है।[४] निषाद स्वर से गाने वाला कलह प्रिय, घुमक्कड, भारवाही, चोर, गोघातक और आवारा होता है।[५]

ग्राम और मूर्छनाएँ

इन सातो स्वरो के तीन ग्राम हैं (१) षड्जग्राम, (२) मध्यमग्राम, और गांधारग्राम।[६] प्रत्येक ग्राम की सात-सात मूर्छनाएँ ये हैं :—

(१) मंगी, (२) कौरवीय, (३) हरि, (४) रजनी, (५) सारकांता, (६) सारसी, (७) शुद्धषड्जा।[७]

---

१. गंधारे गीत जुत्तिण्णा, वज्जवित्ती कलाहिता।
भवति कतिणो पन्ना, जे अन्ने सत्थपारगा॥ —स्थानाङ्ग ७।३।१०
अनुयोग द्वार गा० ३

२. मज्झिमसरसंपन्ना, भवति सुहजीविणो।
खायति पीयती देती, मज्झिमं सरमस्सितो॥ —स्थानाङ्ग ७।३।११

३. पंचमसरसपन्ना, भवंति पुढवीपती।
सूरा संगह कत्तारो, अणेगगणणातगा॥ —स्थानाङ्ग ७।३।१२

४ रेवतसरसंपन्ना, भवंति कलहप्पिया।
साउणिता वग्गुरिया, सोयरिया मच्छवं घाय॥
—स्थानाङ्ग ७।३।१३

(ख) अनुयोग द्वार स्वर लक्खणा ६

५ चंडाला मुट्ठिया सेया, जे अन्ने पावकम्मिणो।
गोघातगा य जे चोरा, णिसायं सरमस्सिता॥
—स्थानाङ्ग ७।३।१४

६ एतेसिं सत्तण्हं सराणं तओ गाया पण्णता तं०
सज्जगामे, मज्झिमगामे, गंधारगामे।

७ सज्जगामस्स णं सत्त मुच्छणातो पण्णते त जहा—
मंगी कोरव्वीया हरी य रयतणी य सारकंता य।
छट्ठी य सारसो णाम, सुद्धसज्जा य सत्तमा॥

मध्म ग्राम की सात मूर्च्छनाएं ये हैं :—(१) उत्तरमंदा, (२) रजनी, (३) उत्तरा, (४) उत्तरासमा, (५) आशोकाता, (६) सौवीरा, (७) अभीरु ।[1]

गाधारग्राम की सात मूर्छना ये हैं :—

(१) नंदी, (२) क्षुद्रिमा, (३) पूरिया, (४) शुद्धगाधारा, (५) उत्तरगाधारा, (६) सुष्ठुतरमायाया, (७) उत्तरायता कोटिमातसा ।[2]

संगीतशास्त्र में इन मूर्छनाओं के अन्य नाम उपलब्ध होते हैं। वे ये हैं :—

(१) ललिता, (२) मध्यमा, (३) चित्रा, (४) रोहिणी, (५) मतंगजा, (६) सौबीरी, (७) षण्मध्या ।

(१) पंचमा, (२) मत्सरी, (३) मृदुमध्यमा, (४) शुद्धा, (५) अन्त्रा, (६) कलावती, (७) तीव्रा ।

(१) रौद्री, (२) ब्राह्मी, (३) वैष्णवी, (४) खेदरी, (५) सुरा, (६) नादावती, (७) विशाला ।

इस प्रकार ये इक्कीस मूर्छनाएँ होती हैं।

स्थानाङ्ग और अनुयोग द्वार के आधार पर पार्श्वदेव ने 'सगीतसार' और 'सुधाकलश' ने 'संगीतोपनिषद्' का निर्माण किया।

उपाध्याय यशोविजय जी ने 'श्री पाल राजा नो रास' नामक ग्रन्थ में सप्त स्वरो से समुत्पन्न होने वाले ६ रागो, छत्तीस रागिनियो और उनके भेद प्रभेदो का निरूपण किया है।

वैदिक ग्रन्थो में संगीत

वैदिक मान्यताओ का मूल आधार वेद है। ऋग्वेद चारो वेदो में प्राचीनतम ग्रन्थ माना जाता है। जब ऋग्वेद के मंत्र स्वरालाप में गाये जाते हैं तब

---

१. मज्झिमगामस्स णं सत्त मुच्छणातो पण्णते तं जहा—
उत्तरमंदा रयणी, उत्तरा उत्तरासमा।
आसोकता य सोवीरा अभिरुहवति सत्तमा ।। —स्थानाङ्ग ७।३।१६

२. गंधारगामस्स णं सत्त मुच्छणातो पण्णते त जहा—
णंदी त खुद्दिमा पूरिमा य चउत्थीय सुद्धगंधारा।
उत्तरगंधारावित, पंचमिता हवति मुच्छा उ ।।
सुट्ठुतरमायामा सा छट्ठी णियमसो उ णायव्वा।
अह उत्तरायताकोडीमातसा सत्तमी मुच्छा ।।
—स्थानाङ्ग ७।३।१७, १८

उसे 'साम' कहते हैं। 'सामवेद' में स्वतंत्र मंत्र बहुत ही कम है। उसमें प्रायः सभी मंत्र ऋग्वेद के ही है। 'साम' का अर्थ गाना है। वैदिक मान्यतानुसार संगीत का प्रादुर्भाव् इसी से हुआ है।

प्राचीनकाल में गंधर्व और किन्नर इस कला के मर्मज्ञ होते थे, अतः 'गन्धर्ववेद' के नाम से भी यह कला प्रसिद्ध रही है।

ऋग्वेद में तीन प्रकार के वाद्यो का उल्लेख है—दुंदुभि, वाण-वांसुरी, और वीणा। यजुर्वेद[१] में भी सगीत के प्रसंग मे वीणा, वांसुरी और शंख वजाने का वर्णन मिलता है। अनेक ग्रन्थो में गीतो के गाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। भागवत पुराण में व्यास ने[२], गीर्वाण गिरा की सुप्रसिद्ध कवयित्री विज्जका[३] ने, पातञ्जल महाभाष्यकार[४] ने और नैषध महाकाव्य मे श्री हर्ष ने गीत-गान का उल्लेख किया है।

वैदिक विद्वानो ने सगीत पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी लिखे हैं। सर्वप्रथम इसका शास्त्रीय वर्णन भरत मुनि के नाट्य शास्त्र में मिलता है। भामह का 'अलंकारशास्त्र', मतंग का 'वृहद्देशी', कल्लोनाथ का संगीत रत्नाकर, 'राग निवोध' संगीत पारिजात 'संगीत दर्पण' आदि इस कला सम्बन्धी अनेक उल्लेखनीय ग्रंथ हैं।

बौद्धसाहित्य में संगीत

जैन और वैदिक साहित्य में जिस प्रकार संगीतकला का वर्णन मिलता है उसी प्रकार वौद्ध साहित्य मे भी प्राप्त होता है।

'विनय पिटक' वौद्ध साहित्य का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें राजगृह की पहाड़ी पर होने वाले समाज का वर्णन मिलता है, जिसमें नृत्य और संगीत होते थे।[५]

---

१. यजुर्वेद ३०।६-७, ११।१७।२०।

२ कदाचिदौत्थानिककौतुका पल्वे जन्मर्क्ष योगे समवेतयेषिताम्।
वादित्र गीतद्विज मन्त्रवाचकैश्चकार सूनोरभिषेचनं सती॥

३. विलासमसृणोल्लसन्मुसललोलदो कन्दली
परस्परपरिस्खलद्वलयनि.स्वनोद् वन्धुरा।
लसन्ति कलहुंकृतिप्रसमकम्पितोर. स्थल-
त्रुटद्गमके संकुला कलम कण्डनी गीतय.॥

४. देखिए कुशलवो और उनके गीतो का उल्लेख।

५. विनय पिटक ३।५।२।६।

गुट्टिल जातक में बनारस का वर्णन है। उस समय बनारस संगीत विद्या का केन्द्र था। उससे ज्ञात होता है कि वहाँ कभी कभी वीणा-वादन और संगीत की प्रतियोगिता होती थी।[१]

लोक गीत

पॅरी के अनुसार 'लोक गीत आदिमानव का उल्लासमय संगीत है'। ग्रिम के शब्दो में 'लोग गीत अपने आप बनते है'। मराठी के उन्नायक डाक्टर सदासिव फड़के का कथन है कि 'शास्त्रीय नियमो को विशेष परवाह न करके सामान्य लोक-व्यवहार के उपयोग में लाने के लिए मानव अपने आनन्द तरग में जो छन्दोवद्ध वाणी सहज उद्भूत करता है, वही लोक गीत है।[२] लोक गीतो में जहाँ देश, काल और परिस्थिति की छाया वोलती है वहाँ उसमें जीवन का रंग भी चमकता है। इन गीतो में विज्ञान की तराश नही होती, पर मानव हृदय की कोमल भावनाओ का उभार होता है। भावो की लडियाँ शब्दो की कडियो में अपने आप पिरो दी जाती हैं। इन गीतो के माधुर्य से पुरुषो ने अपनी थकान नष्ट की है। बूढो ने अपना मन वहलाया है, वैरागियो ने उपदेश का पान कराया है, विधवाओ ने जीवन का रस पाया है, किसानो ने अपने हल जोते हैं और मौजियो ने चुटुले चुटकले छोड़े हैं। इस प्रकार ये गीत निष्कर्म भाव को दूर करने और उत्साह व प्रेरणा का संचार करने में मूल्यवान सिद्ध हुए हैं।

लोक-गीत और कला गीतो में यही अन्तर है कि लोक-गीत जहाँ समूहगत भावो की अभिव्यक्ति करता है वहाँ कला-गीत मानव के व्यक्तिगत भावो को प्रकट करता है। लोक गीत के लिए अंग्रेजी में 'फोक साग' शब्द प्रयुक्त होता है।

लोक-गीतो में लोक जीवन को अनुप्राणित करने की अद्भुत शक्ति है। इन सहज सलोने लोक गीतो के पीछे जो मूक साधना, मार्मिक अनुभूतियाँ और कसकभरी सजीवता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। दुवली-पतली टेढ़ी-मेढ़ी पगडडियों की भाँति अठखेलियाँ करती हुई जन-जीवन की इस गंगा को पृथ्वी पुत्रों ने भगीरथ प्रयत्न से धरती पर अवतरित किया है। लोक-गीत हमारे विकास के इतिहास की अमूल्य निधि है, हमारी प्रगति का एक दर्पण है।

---

१. जातक २।५।२४८

२. सम्मेलन पत्रिका—लोक संस्कृति विशेपाङ्क—मराठी लोक-गीत पृ० २५०।

देश का सच्चा इतिहास और उसका नैतिक एवं सामाजिक आदर्श इन गीतों में सुरक्षित है।[१]

श्री श्यामा चरण दुबे ने लिखा है 'ईंट पत्थर के प्रेमी विद्वान् यदि धृष्टता न समझे तो जोर देकर कहा जा सकता है कि ग्राम गीत (लोक गीत) का महत्त्व मोहन जो-दडो से कही अधिक है। मोहन जो-दडो सरीखे भग्न स्तूप ग्राम गीतो के भाष्य का काम दे सकते है'।[२]

किसी पाश्चात्य विचारक ने ससार के गीतो का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है 'फ्रास के गीत सुन्दर और नाटकीय होते हैं। जर्मन के गीत बोझिल और हृदय स्पर्शी होते हैं। सामान्य युरोपीय गीत गेय, गुनगुनाने योग्य, पुष्ट और असंबद्ध होते है। रूसी गीत उदास और अनगढ होते है। स्पेनी गीत मन्द और स्वप्निल होते हैं। हिब्रूगीत आध्यात्मिक और प्रभावशाली होते हैं। अमेरिकी गीत विलक्षण और सुन्दर होते हैं तथा भारतीय गीत धार्मिक, आध्यात्मिक दार्शनिक व सामाजिक होते हैं।

लोक-गीत अपने आप में लय प्रधान होता है। अध्येताओ का कथन है कि प्राय. संसार के लोक-गीतो की ध्वनियाँ भारतीय ध्वनियो से मिलती है। अन्य कलाओ की तरह सगीत कला भी विदेशियों ने भारतीयो से सीखी है। यह कला भारत से ईरान, अरब आदि देशो में होती हुई ईसा की ग्यारहवी शताब्दी तक यूरोप पहुँच गयी थी। स्ट्रेबो के कथन से परिज्ञात होता है कि प्राचीन यूनानी यह स्वीकार करते हैं कि गीत-कला भारत की ही देन हैं।[३] भारत ही इस कला की जन्म भूमि है।

गाथा शब्द पर विचार

जैनागमो के पद्यो को 'गाहा' कहते हैं। उसका सस्कृत रूप 'गाथा' है। गाथा आर्याछन्दनिवद्ध होती है।[४] वह गेय है। जैनागमो के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय वाङ्मय में भी अनेक स्थलो पर गाथाओ का उल्लेख है।

ऋग्वेद में 'गाथित्' शब्द आया है जो वहा गाने वाले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ब्राह्मण तथा अरण्यक ग्रन्थो में गाथाएं आई हैं। वे छन्दोबद्ध और गेय हैं। उन गाथाओ का उद्देश्य सत्कर्मों का उत्कीर्तन करना है। शतपथ

---

१. कविता कौमुदी ५ वा भाग, लाला लाजपतराय का पत्र।
२. छत्तीसगढी लोक-गीतो का परिचय ले० श्यामा चरण दुबे।
३. भारतीय सस्कृति शिवदत्तज्ञानी पृ० २९९।
४ सस्कृतेतरभाषानिवद्धायामार्यायाम्। —जम्बूद्वीप वक्षस्कार

ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, मैत्रायणी सहिता, पारस्कर गृह्य सूत्र, आश्वलायन-गृह्य सूत्र, वाल्मीकीय रामायण, पालीजातक, श्री मद्भागवत, महाभारत, और गाथासप्तशती आदि सस्कृत प्राकृत ग्रन्थो मे गाथाएं गाने की अनेक परम्पराओ के उदाहरण मिलते है। गाथाएं विविध लयो में गाई जाती थी।

संगीत का उद्देश्य

भारतीय सस्कृति का साध्य मोक्ष रहा है। मोक्ष को संलक्ष्य में रखकर ही भारतीय विज्ञो ने साहित्य का सृजन किया है। आत्मा को माया या कर्म वंधन से मुक्त कर अमरत्व के पथ की ओर ले जाना ही उनके मन्तव्यो का मूल उद्देश्य है। न्याय,[१] साख्य,[२] वैशेषिक,[३] वेदान्त,[४] बौद्ध[५] और जैन दर्शन[६] ने ही नही अपितु आधिभौतिक विषयो का विश्लेषण करने वाले शब्द-शास्त्र[७] और आयुर्वेदिक ग्रन्थो[८] ने भी उपसंहार में मोक्ष को स्थान दिया है। इसी तरह प्राचीन संगीतज्ञो ने संगीत को भी अन्य पुरुषार्थों के साथ मोक्ष को प्राप्त करने का प्रधान सावन स्वीकार किया है।[९] एतदर्थ ही प्राचीन भारतीय

---

१. प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त सिद्धान्तावयवतर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभासच्छल-जातिनिग्रहस्थानाना तत्त्वज्ञानान्नि.श्रेयसम्।
—न्यायदर्शन १।१

२. अथ त्रि-विधदुःखात्यन्त निवृत्तिरन्यन्त-पुरुषार्थ.। —साख्य दर्शन १

३. धर्म विशेषप्रसूताद् द्रव्य-गुण कर्म-सामान्य विशेष-समवायाना पदार्थाना साधर्म्य-वैधर्म्याभ्या तत्त्वज्ञानान्नि श्रेयसम्। —वैशेषिक दर्शन १।४

४. अनावृत्ति. शब्दादनावृत्ति. शब्दात्। —वेदान्त दर्शन ४।४।२२

५. क्षणिकाः सर्व संस्कारा इत्येवं वासना यका।
स मार्ग इह विज्ञेयो निरोधो मोक्ष उच्यते॥ —षड्दर्शन समुच्चय

६. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः। —तत्त्वार्थ सूत्र १

७. द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म पर च यत्।
शब्द ब्रह्माणि निष्णात· परं ब्रह्माधिगच्छति।
व्याकरणात्पदसिद्धि. पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति।
अर्थात्तत्त्व-ज्ञानं तत्त्वज्ञानात् पर श्रेयः॥
—हैमशब्दानुशासनम् १।१।२

८. निवृत्तिरपवर्ग तत् परं प्रशान्तं तत्तदक्षर तद्ब्रह्म स मोक्ष।
—चरकसंहिता पुरुषविचयशारीराध्ययनम्।११

९. धर्मार्थकाममोक्षाणा, साधनं गीतमुच्यते
यतस्तत. प्रयत्नेन गेयं श्रोतव्यमेव च॥ —गीतालंकार

संगीत परम्परा संगीत को भगवद् भजन का माध्यम मानती रही। उसमें त्याग-वैराग्य की भव्य भावना को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ। महात्मा गांधी के शब्दो में "संगीत पहले धर्म शिक्षा का एक अंग था।"

मध्यकाल में संगीत

मध्यकाल में मानव आध्यात्मिकता से हट कर भौतिकता की ओर बढा। जिससे संगीत में मोक्ष पुरुषार्थ का स्थान शनैः शनैः कम होने लगा। बादशाही जमाने में संगीत की बहुत उन्नति हुई है। 'लेनपूल' के मतानुसार 'प्रत्येक मुगल शाहजादे से यह आशा की जाती थी कि वह संगीत में प्रवीण हो।' बाबर संगीत का अत्यधिक प्रेमी था। हुमायूँ के दरबार में प्रति सोमवार व बुधवार को संगीतज्ञ एकत्रित होते थे। १५३५ ई० मे जब उसने माण्डू पर विजय पताका फहराई तब 'बच्चू' नामक गायक पर इतना मुग्ध हुआ कि उसे दरबार में विशिष्ट स्थान दिया। सूरवंशी अफगान सुलतान और आदिलशाह सूरि भी संगीत के प्रेमी थे। अबुल फजल, के अनुसार अकबर के दरबार में विभिन्न देशो के ३६ संगीताचार्य रहते थे, उनमें तानसेन प्रमुख था। जहांगीर और शाहजहाँ ने भी सगीतज्ञो को आश्रय दिया था। हाँ औरगजेब अवश्य ही संगीत का विरोधी था और उसने दिल्ली में सगीत का जनाजा निकाला था। पर रोशन अख्तर मोहम्मद शाह ने पुन. संगीत को बढावा दिया। उसी युग में शौरी ने संगीत में 'ठप्पा' उपस्थित किया। बहादुर शाह जफर स्वयं अच्छे संगीतज्ञ थे। ईश्वी सन् १७७९–१८०४ मे जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह के दरबार में विशिष्ट संगीतज्ञो का सम्मेलन भी हुआ था और 'सगीतसागर' नामक पुस्तक भी लिखी गई। उसके पश्चात् 'नगमाते या सफी' नामक ग्रन्थ में राग-रागिनियों का सरलता से वर्णन किया गया। इस प्रकार मध्यकाल में संगीत की उन्नति हुई, पर मुख्यतः मनोरंजन के साधन के रूप में ही; फिर भी उस युग में जैन सन्त कवियो ने और वैदिक भक्त कवियो ने जो सगीत सिरजा वह आध्यात्मिक रस से आप्लावित है। उसका तेजस्वी स्वर भौगोलिक सीमाओ को लाघकर सुदूर प्रान्तो में भी गूंजा और उसने जन-जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया। वह बहुत लोक प्रिय रहा।

आज का संगीत

वर्तमान भारतीय सगीत को प्राचीन संगीत का प्रतिनिधि नही कह सकते और न वह उसका परिष्कृत और विकसित रूप ही है। आज का कलाकार उसमें बिजली की तड़प, सर्चलाइट की चकाचौंध और सर्कस की कलाबाजी

दिखाने पर तुला हुआ है और उसी में वह संगीत कला की सार्थकता अनुभव कर रहा है।

आज कल सिनेमा के गीतो का प्रचार बढ रहा है। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन करना है, पर मनोरंजन का स्तर दिन प्रतिदिन हीन व हीनतर होता जा रहा है। सिनेमा संगीत के इस तामसी प्रचार ने आत्म-कल्याण की अमर प्रेरणा प्रदान करने की अपेक्षा जिन विनाशकारी दुर्भावनाओ का सृजन किया है, वह किस विचारशील से छिपा है? सिनेमा संगीत केवल दो पुरुषार्थों का प्रतिनिधित्व कर रहा है। विषय वर्धक विचारो का प्राधान्य गीतो मे इतना बढ गया है कि उसमें नैतिक चेतना, जीवन की गहनतम समस्याओ का समाधान, सद्भावना, सहिष्णुता और सदाचार का वहिष्कार हो गया है। वस्तुत. ये हलके गीत भारतीय और सभ्यता के लिए कलक है। एक दिन आर्यावर्त के महामानव भगवान् श्री महावीर ने स्पष्ट शब्दो में कहा था कि 'विषय वर्धक गीत, गीत नही किन्तु विलाप है।[1]

भगवती सूत्र में महब्बल कुमार ने कहा—ये विकारोत्तेजक गीत कला नही है किन्तु विलास है।[2] जो श्रमण व श्रमणी इस प्रकार के गीत गाता है, उसके लिए निशोथ में प्रायश्चित का विधान किया है।[3]

संगीत मन की तरावट है, हृदय का प्रकाश है, जीवन का सौरभ है, साहित्य का निचोड़ है यदि उसमें भावो का गाभीर्य नही है, स्वस्थ और पवित्र विचार नही है, तो वह कोरा संगीत भारतीय सस्कृति की दृष्टि से आतिशबाजी का खेल है। केवल मनोरंजन का साधन है। जिस संगीत में आत्मानुसंधान का उन्मेष नही है, वह मुक्त आत्मा की अमर अभिव्यक्ति नही हो सकता और न वह उत्कृष्ट एव परिष्कृत रुचि का परिचायक ही हो सकता है।

आज आवश्यकता है कि कलाकार सास्कृतिक साधना का संबल लेकर अपनी प्रतिभा की चमत्कृत लेखनी से ऐसे सरस संगीत का निर्माण करे जो कि आत्मस्थ सौन्दर्य पर पडे हुए घने आवरण को हटाकर सौन्दर्य ज्योति प्रज्वलित कर सके और अपनी मधुरता, कोमलता, व प्राञ्जलता की जगमगाती ज्योति से जन-जोवन को आलोकित कर सके।

---

१. सव्वं विलवियं गीयं —उत्तराध्ययन १३।१६

२. गीतं विलसितं —भगवती

३. जे भिक्खु गाएज्ज वा, वाएज्ज वा णच्चेज्ज वा।
—निशीथ १४०।उद्दे १७

१५

संस्कृति एक चिन्तन

संस्कृति क्या है ? यह एक अत्यन्त गम्भीर प्रश्न रहा है, इस प्रश्न का उत्तर अनेक दृष्टियों से विचारको ने दिया है। संस्कृति मानव के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगीण प्रकार है। वह मानव जीवन की एक प्रेरक शक्ति है, जीवन की प्राणवायु है, जो चैतन्य भाव की साक्षी प्रदान करती है। संस्कृति विश्व के प्रति अनन्य मैत्री की भावना है जो विश्व के समस्त प्राणियो के प्रति अद्रोह की स्थिति उत्पन्न कर सम्प्रीति की भावना पैदा करती है। बाह्य स्थूल भेदो को मिटाकर वह एकत्व तक पहुँचने का प्रयास करती है। इस प्रकार राष्ट्र का लोकहितकारी तत्त्व संस्कृति है।

संस्कृति का अर्थ सस्कार सम्पन्न जीवन है। वह जीवन जीने की कला है, पद्धति है। वह आकाश में नही धरती पर रहती है, वह कल्पना मे नही जीवन का ठोस सत्य है। बुद्धि का कुतूहल नही किन्तु एक आदर्श है।

संस्कृति और कृषि शब्द समानार्थक हैं। कृषि शब्द से संस्कृति शब्द अधिक व्यापक है और विशुद्धि का प्रतीक है। कृषि का उद्देश्य है भूमि को विकृति को दूर कर लहलहाती खेती को उत्पन्न करना। सर्वप्रथम कृषक भूमि को साफ करता है, एक सदृश बनाता है, पत्थर आदि को हटाता है, घास-फूस अलग कर भूमि को साफ करता है, खाद डालकर भूमि को उस योग्य बनाता है कि बीज उसमे अच्छी तरह से पनप सके। सस्कृति में भी यही किया जाता है। मानसिक, वाचिक और कायिक विकृतियाँ दूर की जाती हैं। विकारो को हटाकर विचारो का विकास किया जाता है। वह संस्कार व्यक्ति से प्रारभ होकर परिवार, समाज, राष्ट्र और सम्पूर्ण विश्व में परिव्याप्त हो जाता है। व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र का सशोधन और संस्कार करना ही संस्कृति है। संस्कृति का प्रयोजन मानव जीवन है, मानव-जीवन को ही सुसंस्कृत बनाया

जा सकता है एतदर्थ ही वैदिक ऋषि ने कहा, मानव से बढ़कर विश्व मे कोई श्रेष्ठ प्राणी नही है—

"न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्"

यही कारण है कि आज तक किसी भी मानवेतर प्राणियो की संस्कृति उत्पन्न नही हुई है। और कभी उत्पन्न होगी, यह भी संभव नही है। इस दृष्टि से संस्कृति मानव जीवन का ही एक प्रगतिशील तत्त्व है। संस्कृति और संस्कार हम कुछ भी क्यो न कहे, वह हमारे जीवन को उज्ज्वल बनाने की कला है।

संस्कृति किसी एक व्यक्ति के प्रयत्नो का परिणाम नही है, किन्तु अनेक व्यक्तियो के द्वारा बौद्धिक क्षेत्र में किये गये प्रयत्नो का परिणाम है। एक विद्वान् के अभिमतानुसार—मानव की शिल्पकलाएँ, उसके अस्त्र-शस्त्र, उसका धर्म तथा तंत्र-विद्या और उसकी आर्थिक उन्नति, उसका कला कौशल ये सभी सस्कृति में आते है। संस्कृति मानवी जीवन के उन सब तत्त्वो के समाहार का नाम है जो धर्म और दर्शन से प्रारंभ होकर कला-कौशल समान और व्यवहार इत्यादि में अन्त होते हैं।

सस्कृति एक ऐसा विराट् तत्त्व है जिसमे सभी कुछ समाविष्ट हो जाता है। मानव जीवन के ज्ञान, भाव और कर्म ये तीन पक्ष हैं जिसे दूसरे शब्दो में बुद्धि, हृदय, और व्यवहार कहा जा सकता है। इन तीनो तत्त्वो का जब पूर्ण सामंजस्य होता है तब संस्कृति होती है। प्रबुद्ध विचारको ने सस्कृति के चार तत्त्व माने हैं (१) तत्त्वज्ञान, (२) नीति (३) विज्ञान और (४) कला। इन चारो तत्त्वो में सभी कुछ समाविष्ट हो जाता है। एक लेखक ने विज्ञान, दर्शन, धर्म और संस्कृति का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि बाहर की ओर देखना विज्ञान है, अन्दर की ओर देखना दर्शन है और ऊपर की ओर देखना धर्म है किन्तु संस्कृति मे धर्म, दर्शन और विज्ञान इन तीनो का पूर्ण सामंजस्य है अर्थात् संस्कृति मे, धर्म भी है, दर्शन भी है, विज्ञान भी है और कला भी है। यदि एक शब्द में कहा जाय तो सस्कृति जीवन का सार है।

धर्म, दर्शन, साहित्य और कला ये सभी तत्त्व मानव जीवन के विकास के श्रेष्ठ फल है। मानव जीवन के प्रयत्नो की उत्कृष्ट उपलब्धि है। संस्कृति राजनीति और अर्थ नीति को पचाकर विराट् मनस्तत्व को जन्म देती है। यदि राजनीति और अर्थनीति पथ की साधना है तो सस्कृति साध्य है। बौद्धिक प्यास को शान्त करने हेतु जो कार्य मानव करता है वे कार्य सास्कृतिक कार्य कहलाते है। मानव अपनी बुद्धि से विचार और कर्म के क्षेत्र मे जो सृजन करता है वह संस्कृति है। पाश्चात्य विचारक मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा—"विश्वके

सर्वोच्च कथनो और विचारो का ज्ञान ही सच्ची संस्कृति है।" संस्कृति अदृश्य जीवन तत्त्वो की भाति कुछ रहस्यमय और दुर्बोध है। वह ठीक-ठीक शब्दो की पकड मे नही आती तथापि इतना कहा जा सकता है कि संस्कृति किसी जाति या देश की आत्मा है। इससे उसके सब संस्कारो का बोध हो जाता है जिसके सहारे वह सामुहिक या सामाजिक जीवन का निर्माण करता है। डाक्टर भगवान् दास ने सस्कृति की परिभाषा इस प्रकार की है—मानसिक क्षेत्र में उन्नति की सूचक उसकी प्रत्येक कृति संस्कृति का अंग बनती है। इसमें प्रधान रूप से धर्म, दर्शन सभी ज्ञान विज्ञानो तथा कलाओ सामाजिक और राजनैतिक सस्थाओ एव प्रथाओ का समावेश होता है।

संस्कृति एक अविरोधी तत्त्व है जो विरोध को नष्ट कर प्रेम का सुनहरा वातावरण निर्माण करता है। नाना प्रकार की धर्म साधना, कलात्मक प्रयत्न, योग मूलक अनुभूति और तर्क मूलक कल्पना-शक्ति से मानव जिस विराट् सत्य को अधिगत करता है वह सस्कृति है। संस्कृति एक प्रकार से विजय यात्रा है, असत् से सत् को ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर बढ़ने का उपक्रम है।

गंभोर विचारक साने गुरुजी ने लिखा है—जो संस्कृति महान् होतो है वह दूसरो सस्कृति को भय नही देती, बल्कि उसे साथ लेकर पवित्रता देती है। गंगा की गरिमा इसी मे है कि वह दूसरे के प्रवाह को अपने में मिला लेती है इसी कारण वह पवित्र, स्वच्छ और आदरणीय कही जा सकती है। लोक मे वही सस्कृति आदर के योग्य होती है जो विभिन्न धाराओ को साथ लेकर चलती है।

संस्कृति एक सुन्दर सरिता के समान है, जो सदा प्रवाहित होती रहता है। सरिता के प्रवाह को बाध देने पर सरिता सरिता नही रहती वह तो बाध बन जाता है, इसी तरह संस्कृति जो जन-जन के मन मे घुलमिल चुकी है उसे राष्ट्र की सीमा में सीमित करना उचित नही है। संस्कृति रूपी सरिता को एक सीमा में आबद्ध करना मानव की भूल है। सरिता को तरह संस्कृति का प्राणतत्त्व भी उसका प्रवाह है। सस्कृति का अर्थ है प्रतिपल प्रतिक्षण विकास की ओर बढना। संस्कृति विचार, आदर्श, भावना और संस्कार-प्रवाह का एक सुसङ्गित और सुस्थिर संस्थान है जो मानव को सहज ही पूर्वजो से प्राप्त होता है।

सच्ची संस्कृति भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनो को एक सूत्र में गूंथती है। इसमें पूर्व और नूतन का मेल है। कितने ही व्यक्ति अतीत के

भक्त होते हैं। वे उसे ही अच्छा मानकर रुक जाते हैं। किन्तु भूतकाल के गुणवान् तत्त्वों को ही ग्रहण कर आगे बढना चाहिए। भूतकाल जीवन को तभी शक्ति प्रदान करता है, जब तक उसमें ग्रहण तत्त्व रहता है। भूतकाल वर्तमान का खाद बन कर ही भविष्य के लिए विशेष उपयोगी बनता है। कितने ही व्यक्तियो के मन में अतीत के प्रति उद्वेग का भाव रहता है। उन्हें भी स्मरण रखना चाहिए कि जीवन एक वृक्ष की भाति है, वृक्ष को रस ग्रहण करने के लिए जड़ो की सहायता लेनी पड़ती है। जड़ें भूमि में छिपी रहने पर भी वे वृक्ष को हरा भरा रखती हैं। जिस वृक्ष की जड़ें नष्ट हो गई हैं वह वृक्ष हरा-भरा और स्थिर नही रह सकता; अतएव बुद्धिमत्ता यह है कि अतीत के गुणो को ग्रहण कर नवीन उत्साह के साथ वर्तमान के जीवन को बनाना चाहिए, भविष्य के जीवन विकास के लिए। इस प्रकार पुरातन और नूतन का मेल ही उच्च सस्कृति की उपजाऊ भूमि है।

सस्कृति को समुज्ज्वल बनाने के लिए शील की अत्यधिक आवश्यकता है। शील मानव और पशु में अन्तर करने वाला एक भेदक तत्व है। शील मानव का वह परीक्षण प्रस्तर है जिस पर खरे और खोटेपन को परीक्षा होती है। शील मानव-जीवन के विकास का मूल आधार है। शील ने मानव मन की उद्दाम वृत्तियो को संयमित किया। शील शब्द अनेक अर्थों में विश्व के विभिन्न साहित्य में व्यवहृत हुआ है। जैन सस्कृति में वह पच महाव्रत के रूप में प्रसिद्ध है,[1] वैदिक सस्कृति में वह यम के रूप में प्रतिष्ठित है[2] और बौद्ध सस्कृति में पञ्चशील के रूप में विख्यात है। इस प्रकार महाव्रत, यम और शील मानव जीवन के विकास के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। शील से हमारी संस्कृति का सम्बन्ध अतीत काल से रहा है। शील शून्य सस्कृति संस्कृति नही, किन्तु विकृति है।

संस्कृति और सभ्यता

सस्कृति और सभ्यता ये दोनो एक नही हैं किन्तु पृथक् हैं। संस्कृति को अंग्रेजो में कल्चर (Culture) कहा जाता है और सभ्यता को अंग्रेजो में सिवि

---

१. अहिंससच्च च अतेणग च,
तत्तो य बम्भ च अपरिग्गह च।
पडिवज्जिया पच महव्वयाइं
चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ। —उत्तराध्ययन २१।२२

२. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। —योगदर्शन २।३०

लिजेशन (Civilization) कहा जाता है। संस्कृति अन्तकरण है तो सभ्यता शरीर है। संस्कृति अपने को सभ्यता के द्वारा व्यक्त करती है। संस्कृति वह साचा है जिसमें समाज के विचार ढलते हैं, वह बिन्दु है जहा से जीवन की समस्याएं देखी जाती है। समाज-जीवन के शरीर को लेकर जिन वाह्याचारो की सृष्टि हुई है, मानव-मन की वाह्य प्रवृत्ति मूलक प्रेरणाओ का जो विकास हुआ वह सभ्यता है और अन्तर्मुखी प्रवृत्तियो से जो कुछ भी निर्माण हुआ है वह सस्कृति है। दीपक की लौ सभ्यता है, उसके अन्दर मे भरा हुआ स्नेह संस्कृति है। सभ्यता जीवन का रूप है और सस्कृति उसका सौन्दर्य है, जो रूप से भिन्न भी है और अभिन्न भी—जो उसके पीछे से झांकता है और जीवन के अवगुण्ठन से भी बाहर फूट पडता है परन्तु वस्तुत. वह अन्तर में समाया हुआ है। एतदर्थ सस्कृति जीवन तत्वो की तरह रहस्यमय और दुर्बोध है। वह किसी जाति और देश की आत्मा है। संस्कृति की अपेक्षा सभ्यता जल्दी बनती और बिगडती है उसका अनुकरण भी शीघ्र किया जा सकता है, किन्तु सस्कृति न पतलून पहनने से बदलती है और न धोती पहनने से, वह तो विचारो के रगड से बनती है, बिगडती है और बदलती है। जीवन के जिस क्षेत्र में मानव के शारीरिक सुखो को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है, उसके विकास को सभ्यता कहते है और जहाँ पर मन और आत्मा को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है, उन प्रयत्नो को हम संस्कृति के नाम से पुकारते है।

डाक्टर बैजनाथ पुरी सभ्यता और संस्कृति के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखते है—सस्कृति आभ्यन्तर है और सभ्यता वाह्य है। सस्कृति को अपनाने मे देर लगती है पर सभ्यता का अनुकरण सरलता से किया जा सकता है। सस्कृति का सम्बन्ध निश्चय ही धार्मिक विश्वास है और सभ्यता सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियो से बँधी हुई है। एक दूसरे विद्वान् ने लिखा है—-सभ्यता मनुष्य के मनोविकारो की द्योतक है, संस्कृति आत्मा के अभ्युत्थान की प्रदर्शिका है। सभ्यता मनुष्य को प्रगतिवाद की ओर ले जाने का सकेत करती है, सस्कृति उसकी आन्तरिक और मानसिक कठिनाइयो पर काबू पाने में सहायक सिद्ध होती है।

पाश्चात्य विद्वान् टाइलर सभ्यता और सस्कृति को एक दूसरे का पर्यायवाची मानता है। वह संस्कृति के लिए सभ्यता व परम्परा शब्द का भी प्रयोग करता है। प्रसिद्ध इतिहासकार टायनवी इसके विपरीत संस्कृति शब्द का प्रयोग करना पसन्द नही करता, अपितु वह सभ्यता शब्द का प्रयोग करना पसन्द करता है। किसी अन्य विद्वान् ने भी कहा है कि सभ्यता किसी संस्कृति

की चरमावस्था होती है। हर संस्कृति की अपनी सभ्यता होती है। सभ्यता संस्कृति की अनिवार्य परिणति है। सस्कृति विस्तार है तो सभ्यता कठोर स्थिरता है।

संस्कृति को भौतिक और आध्यात्मिक इन दो भागो में विभक्त किय जा सकता है। भौतिकवादी संस्कृति को सभ्यता कहते है। इसमे भवन, असन, वसन, वाहन आदि समस्त भौतिक साधन आ जाते हैं, कला का सम्बन्ध इसी से है। कला मानवीय जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। संस्कृति को मन और प्राण कहा जाय तो कला उसका शरीर है। संस्कृति की इसलिए आवश्यकता है कि भविष्य के विचारो की दासता से मानव की रक्षा हो और कला इसलिए आवश्यक है कि कुरूपता से बचा जाय। कला की उपासना विलास के लिए नही, विकास के लिए होनी चाहिए।

भौतिकवादी संस्कृति का प्रचार पाश्चात्य देशो मे अधिक हुआ और अध्यात्मवादी संस्कृति का प्रचार भारतवर्ष मे। यही कारण है कि पाश्चात्य देशवासी सभ्यता को अधिक प्रधानता देते हैं और पौर्वात्य सस्कृति को। स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था कि यूरोप में चीजो को इस दृष्टि से देखा जाता है कि यह धनोपार्जन में कहाँ तक सहायक होगा। भारत में यह परख की जाती है कि इससे मोक्ष लाभ होगा या नही। न हर यूरोपियन लोभी है, न हर भारतीय मुमुक्षु, परन्तु इन दोनो दृष्टियो की प्रधानता अस्वीकार नही की जा सकती। भारतीय आदर्शवादी है तो यूरोपियन या अमेरिकन व्यवहारवादी और वस्तुस्थिति द्रष्टा है। पाश्चात्य देशो का लक्ष्य इहलोक है तो पौर्वात्यो का लक्ष्य परलोक है। जहाँ पर दोनो के ध्येय मे इतना अन्तर है वहाँ साधनो में भेद होगा ही। एक स्थान पर सग्रह का आदर है तो दूसरे स्थान पर त्याग का। एक स्थान पर धर्म सिंहासन का दरबारी होगा तो दूसरे स्थान पर मुकुट लगोटी को नमस्कार करेगा। दोनो देशो के आचार-विचार में, रहन-सहन में, शिक्षा-दिक्षा में, साहित्य और कला मे, आकाश-पाताल का अन्तर होना स्वाभाविक है।

तात्पर्य यह है कि पाश्चात्य सस्कृति जड प्रधान है और पौर्वात्य संस्कृति चेतन प्रधान है। पौर्वात्य सस्कृति का केन्द्रबिन्दु आत्मा रहा है। उन्होंने आत्मा के चिन्तन, मनन और निदिध्यासन पर अधिक बल दिया। भारतीय चिन्तन का मुख्य लक्ष्य आत्मा की खोज करना रहा है। इसी कारण भारतीय आचार व नीतिशास्त्र ने भी ऐसी ही आचार-प्रणालिका निर्माण की, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे आत्म-शुद्धि या आत्म विकास में सहयोगी हो, किन्तु पाश्चात्य देशो में इस प्रकार आत्म-विषयक स्फूर्तजिज्ञासा का अभाव है। वहाँ पर भौतिक

तत्त्व की इतनी अधिक प्रधानता है कि आत्म तत्त्व उपेक्षणीय बन गया है। पौर्वात्य संस्कृति का झुकाव मुख्यतः त्याग, वैराग्य, आत्मानुशासन की ओर रहा है तो पाश्चात्य सस्कृति का झुकाव भौतिक सुख समृद्धि की ओर। पौर्वात्य संस्कृति साधक को प्रतिपल, प्रतिक्षण आत्म निरीक्षण, आत्मशोधन एवं परमात्म पद की उपलब्धि के लिए उत्प्रेरित करती है, आत्मानुशासन सयम और सदाचार का पुनीत पाठ पढाती है। पालने मे झूलने वाले नवजात शिशुओ को भी—*"शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि, संसारमायापरिवर्जितोऽसि"* की लोरियाँ सुनाकर आध्यात्मिक उच्च संस्कार अंकुरित किये जाते है। यहाँ पर *"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः"* तथा *"आया हु मुणेयव्वो"* 'आत्मा को देखना चाहिए, आत्मा का मनन अनुसधान करना चाहिए' के स्वर निरन्तर मुखरित होते रहे है। जब कि पाश्चात्य सस्कृति नित्य नये भौतिक अनुसंधान, सुख समृद्धि की अमित लालसा, एवं आधिभौतिक समृद्धि की प्रतिस्पर्धा में ही मानव को बेहताशा दौडाती रही हैं। उन्होने प्रकृति और परमाणु पर अपना अध्यवसाय केन्द्रित कर उनका विश्लेषण किया, विज्ञान के क्षेत्र में नये नये चमत्कार पूर्ण प्रयोग किये। आज सर्वत्र विज्ञान की गूँज है। विज्ञान अपनी अभिनव चमत्कृतियो से मानव को आश्चर्यान्वित कर रहा है वही मानो जीवन का स्वर्णिम पथ हो। इतिहास, गणित, भूगोल, भूगर्भ, पदार्थ, कला, कृषि, शिक्षा, मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान आणविक शस्त्रास्त्र आदि सभी क्षेत्रो में विज्ञान के अद्‌भुत प्रभाव से मानव प्रभावित है। विज्ञान की प्रगति के नित-नूतन अध्याय जुडते जा रहे हैं।

विज्ञान की प्रगति सभ्यता की प्रगति है। सभ्यता शरीर का गुण है। विज्ञान की सभी सेवाएँ शरीर के लिए हैं, आत्मा के लिए नही। विज्ञान ने आत्मा के लिए आज तक कोई प्रयास नही किया है, यही कारण है कि सभ्यता का चरमो विकास होने पर भी वह मानव के लिए वरदान नही अपितु अभिशाप ही सिद्ध हो रही है। वह विश्व के भाग्य विधाताओ के लिए चिन्ता का कारण बन गई है, अत उस पर सस्कृति के नकेल की आवश्यकता है। जहाँ पर सस्कृति रहती है वहाँ पर सभ्यता रहती ही है, किन्तु जहाँ सभ्यता रहती है वहाँ संस्कृति अनिवार्य रूप से रहे यह आवश्यक नही है। संस्कृत व्यक्ति सभ्य होता ही है पर सभ्य व्यक्ति सस्कृत हो भी सकता है और नही भी हो सकता। रावण परम विद्वान् था, शक्तिशाली भी था, उसने विद्या और शक्ति का दुरुपयोग किया इसलिये वह 'राक्षस' कहलाया। आज संसार में विद्या की कमी नही है, शक्ति की भी कमी नही है, बल्कि पूर्वकाल से अधिक वृद्धि हुई है, इन सभी की वृद्धि का अर्थ है केवल सभ्यता की वृद्धि। जब

संस्कृति की वृद्धि नही होती, केवल सभ्यता की ही वृद्धि होती है तब वह मानव जाति को खतरे में डाल देती है, अत पौर्वात्य संस्कृति में सभ्यता संस्कृति की चेरी बनकर रही है। संस्कृति की प्रवृत्ति महाफल देने वाली होती है। सांस्कृतिक कार्य लघुबीज के समान होते है, किन्तु वह बीज ही बड़ा वृक्ष बन जाता है, कल्पवृक्ष की तरह फल देनेवाला होता है। जीवन की उन्नति और विकास के लिए संस्कृति की आवश्यकता है उनसे कम महत्त्व संस्कृति का नही है। दोनो ही एक ही रथ के दो पहिए हैं। एक दूसरे के पूरक है। एक के बिना दूसरे की कुशल नही है। जो विचारक हैं वे दोनो की आवश्यकता पर जोर देते रहे हैं। वस्तुतः उन्नति का यही राजमार्ग है। आत्मा को भूलकर शरीर की रक्षा करना ही पर्याप्त नही है। संस्कृति जीवन के लिए परम आवश्यक है। वह जीवन वृक्ष का संवर्धन करने वाला मधुर रस है।

भारतीय संस्कृति

वस्तुतः संस्कृति सार्वदेशिक होती है। परन्तु विशिष्ट गुणो के आरोप से उसका रूप देशिक और राष्ट्रीय होता है। देश भेद की दृष्टि से अनेक मानव हैं और उनकी अनेक संस्कृतियां हैं। यहाँ नानात्व अनिवार्य है वह नानात्व मानव जीवन की भझट नही किन्तु सजावट है। देश काल की सीमा में सीमित मानव का घनिष्ट सम्बन्ध किसी एक संस्कृति से ही सभव है। वही सस्कृति हमारे मन में, विचारो में रमी रहती है, वही हमारे जीवन का संस्कार करती है। विश्व में लाखो, करोडो स्त्रियां और पुरुष हैं, किन्तु जो हमारे माता पिता हैं उन्ही के गुण हमारे में आते है हम उन्ही गुणो को अपनाते हैं। वैसे ही संस्कृति का भी सम्बन्ध है। वह सच्चे अर्थों में हमारी धात्री है। एक सस्कृति में निष्ठा रखने का अर्थ विचारो को सकुचित करना नही है, किन्तु बात यह है कि यदि हम एक सस्कृति के मर्म को समझ जायेंगे तो अन्य संस्कृतियों के रहस्य को भी सहज व सरल रूप में समझ सकेंगे। अपने केन्द्र की उन्नति ही बाह्य विकास की नीव है। कहावत भी है 'घर खीर तो बाहर भी खीर, घर में एकादशी तो बाहर भी सूना'। जब हमारी एक संस्कृति में निष्ठा पक्की होगी तो हमारे मन की परिधि विस्तृत होगी, हमारा हृदय विराट् और विशाल होगा।

भारतीय संस्कृति का उच्चारण करते ही भारत देश की संस्कृति ऐसा भान सबके अन्तर्मानस में होने लगता है। इसका कारण यही है कि हम उस स्थान की मर्यादा से सोचने लगते हैं किन्तु भारतीय सस्कृति का अर्थ है प्रकाश के मार्ग में अनुष्ठान करने से प्राप्त होने वाली सस्कार सम्पन्नता। भारत, भा =

प्रकाश में, या प्रकाश के मार्ग में, रत = दत्तचित होकर अनुष्ठान करने से जो संस्कार सम्पन्नता मानव के मन में वढती है वह भारतीय संस्कृति है। आन्तरिक स्वरूप की दृष्टि से भारतीय संस्कृति सार्वदेशिक है किन्तु कतिपय आदर्शों एवं विशिष्टताओ पर अधिक वल देने से उसका वाह्य रूप भी है। अपने दीर्घ अनुभव, तप पूत ज्ञान और सूक्ष्म चिन्तन के द्वारा भारत के आत्मदर्शी ऋषि इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आत्म साक्षात्कार ही मानव जीवन का परम पुरुषार्थ है।

भारतीय संस्कृति खडी भूमि है पर उसका सिर आकाश की ओर उठा हुआ है। मानव चलता जमीन पर है पर वह देखता है आगे या ऊपर की ओर वैसे ही भारतीय सस्कृति का उपासक अन्य सासारिक कार्य करता हुआ भी अपनी दृष्टि आत्मा को ओर रखेगा। वह कमल की तरह कीचड में पैदा होकर के भी उससे निर्लिप्त रहेगा।

मानव समाज में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं—(१) केन्द्रोन्मुखी और (२) वृत्तोन्मुखी। पहली प्रवृत्ति में परिधि से केन्द्र की ओर जाया जाता है। कही भी रहे किन्तु केन्द्र से बँधा रहता है, वह केन्द्र मे ही ध्यानस्थ रहता है। दूसरी प्रवृत्ति में केन्द्र से परिधि की ओर वढा जाता है। भारतीय सस्कृति केन्द्रोन्मुखी है। वह जगत् में रहकर के भी आदर्शोन्मुखी है। बाहर में रहकर भी अन्तस्थ और आत्मस्थ है। इसके विपरीत पाश्चात्य संस्कृति वृतोन्मुखी है, वाह्य प्रसारी है, वह केन्द्र से वाहर की ओर जातो है, केन्द्र से दूर फैलने की ओर उसकी प्रवृत्ति है। इन दो प्रवृत्तियो से ही दो संस्कृतियो का जन्म हुआ, एक त्याग की ओर वढी और दूसरी भोग की ओर। भारतीय सस्कृति का आदर्श है राम, कृष्ण, महावीर, वुद्ध और गाँधी। राम की मर्यादा, कृष्ण का कर्मयोग, महावीर की सर्वभूत हितकारी अहिंसा और अनेकान्त, वुद्ध की करुणा, गाँधी की धर्मानुप्राणित राजनीति और सत्य का प्रयोग ही भारतीय सस्कृति है।

'दयता, दीयता दम्यताम्' इस एक सूत्र में ही भारतीय संस्कृति का सम्पूर्ण सार आ जाता है। दया, दान और दमन ही भारतीय संस्कृति का मूल है। मानव की क्रूर वृत्ति को नष्ट करने के लिए दया को आवश्यकता है, सग्रह वृत्ति को मिटाने के लिए दान की जरूरत है और भोग के उपशान्ति हेतु दमन आवश्यक है। वेद दान का, वुद्ध दया का और जिन दमन का प्रतीक है।

भारतीय सस्कृति की अनेक विशेषताएँ है जो अन्य सस्कृतियो से इस सस्कृति को पृथक् करती हैं। विश्व की समस्त प्राचीन सस्कृतियो का यदि हम

तुलनात्मक अध्ययन करें तो प्रत्येक संस्कृति में भारतीय संस्कृति के बीज अन्निहित मिलते है। मिस्र, असीरिया, ईरान, वेवीलोनिया, चीन और रोम की संस्कृति बहुत पुरानी मानी जाती है, किन्तु इन देशो में प्राप्त पुरातत्त्व सामग्री में भारतीय संस्कृति का व्यापक और प्रमुख प्रभाव परिलक्षित होता है। इन सस्कृतियो में कितनी ही सस्कृतियो का आज अस्तित्व नही है, वे विनष्ट हो चुकी हैं पर भारतीय संस्कृति आज भी जीवित है। वेद, उपनिषद्, आगम और त्रिपिटक ने जो अध्यात्म धारा प्रवाहित की थी, वह आज भी भारतीयो के लिए प्रेरणा स्रोत है। विदेशियो ने भारत पर अनेक वार आक्रमण किये किन्तु वे भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वो को नष्ट नही कर सके। डाक्टर वैजनाथपुरी के शब्दो में कहा जाय तो "भारतीय संस्कृति आदि काल से ही यह एक शिला के रूप में अविचल रही है। अन्य सास्कृतिक थपडो ने इस पर आघात किया पर वे इस के मूल स्वरूप को नही बदल सके। वे अपने प्रवाह के कुछ अश इस शिला पर छोड गये जिसको इसने सहर्ष ग्रहण किया ...... भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व को किसी भी रूप में न तो परिवर्तित कर सके और न क्षति ही पहुँचा सके। यह संस्कृति अविचल शिला के रूप में खडी रही और इस का आज भी वही रूप देखते है जो पहले था।" साराश यह है कि विदेशी आक्रमणो के झझावातो में भी भारतीय सस्कृति का अखण्ड दीप सदा जलता रहा। कोई भी शक्ति उस दीप को बुझा नही सकी।

जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं वह आदि से अन्त तक न आर्यों की रचना है और न द्रविडो का प्रयत्न, अपितु उसके भीतर अनेक जातियो का अंशदान है। यह सस्कृति रसायन की प्रक्रिया से तैयार की हुई है जिसके अन्दर अनेक औषधियो का रस मिला हुआ है। यहाँ आर्य, अनार्य, ग्रीक, शक, कुषण, हूण, यूनानी, पारसी, गोड आदि विभिन्न जातियो के विचारो का समिश्रण हुआ है किन्तु वे विचार पयपानीवत् इस प्रकार घुलमिल गये है कि उन्हें किसी भी प्रकार पृथक् नही किया जा सकता। आत्मीयता यह भारतीय सस्कृति की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। भारत के अतिरिक्त किसी भी देश की सस्कृति में यह विशेषता नही है। वहुत दिनो पूर्व जर्मन तत्त्व वेत्ता पॉलडूसेन भारत आये थे। जव वे अपने देश लौटने लगे तो वम्वई में आयोजित अपने एक विदाई समारोह में भारतवासियो के आतिथ्य, औदार्य की प्रशसा करते हुए उन्होने कहा कि वाइविल में हमने पढा था कि अपने पडौसी को अपना ही समझना चाहिए। उसे पढकर मैं सोचा करता था कि पराये को अपना क्यो समझा जाय ? इसका हेतु क्या है ? सारी वाइविल मे मुझे इस का हेतु नही मिला,

भारत आने पर आत्मा की एकता का अनुभव मैंने उसी प्रकार किया जैसा कि उपनिषदो में पढ़ा था।[१]

आत्मीयता से भारतीय जनता ने किसे नही मोहा? जो आया, उसे अपना लिया। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का स्वर भारतीय संस्कृति का शाश्वत स्वर है, इसलिए यहाँ क्षुद्र स्वार्थों की जगह परार्थ और परमार्थ की मंदाकिनी बही है।

भारत में जन्म लेने वालो का आचरण और व्यवहार इतना निर्मल और पवित्र रहा है कि उनके पावन चरित्र की छाप प्रत्येक व्यक्ति पर गिरी एतदर्थ ही आचार्य मनु ने कहा—

एतद्देश प्रसूतस्य, सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

भारतवर्ष ने भौतिकवाद की अपेक्षा आत्मवाद पर अधिक बल दिया है। यहाँ के दार्शनिको, मनीषियो और तीर्थंकरो का रुझान आत्मा की ओर रहा है। उनकी चिन्तन-धारा का केन्द्र बिन्दु आत्मा है। आत्म-विजय के अभाव में विश्व-विजय शान्ति प्रदाता नही है। एतदर्थ ही भगवान् महावीर ने कहा एक व्यक्ति हजारो लाखो योद्धाओ को समराङ्गण में परास्त कर सकता है, फिर भी उसकी वास्तविक विजय नहीं है। वास्तविक विजय तो आत्म विजय करने में है[२]। भगवान् महावीर के चिन्तन की यही प्रतिध्वनि शाक्यपुत्र तथागत की वाणी में मुखरित हुई है[३], और कर्म योगी श्री कृष्ण ने भी कुरुक्षेत्र के मैदान में यही कहा—तुम दूसरे शत्रुओ को जीत कर अपना भला नही कर सकते। अपनी आत्मा को जीतकर उसका उद्धार करके ही तुम अपना उद्धार कर सकते हो—उद्धरेदात्मानात्मानम्[४]। अनन्तकाल से आत्मा को जिन आन्तरिक शत्रुओ में घेर रखा है जिसके कारण आत्मा की ज्ञान ज्योति धुंधली हो गई है उन शत्रुओ को परास्त करना ही सही विजय है और इसी पर भारतीय संस्कृति ने बल दिया है।

---

१ विशेष लेखक की पुस्तक 'संस्कृति के अंचल में' देखें।
सम्मेलन-पत्रिका लोक-सस्कृति विशेषाक पृ० १८ मनुस्मृति।

२. जो सहस्सं सहस्साण, संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ॥
—उत्तराध्ययन ७।३४

३. यो सहस्सं सहस्सेन, संगामे मानुसे जिने।
एकं च जेय्यमत्तानं, स वे संगामजुत्तमो॥ —धम्मपद ८।४

४. मद्भगवद्गीता अ० ६, श्लोक ५

संस्कृति की तीन धाराएँ

भारतीय संस्कृति एक होते हुए भी तीन धाराओ में प्रवाहित हुई है। एक ही धारा तीन रूपो में विभक्त हुई है जिसे वैदिक, जैन और बौद्ध धारा कहा गया है; तथापि अपने मूल रूप में उसके दो ही रूप स्पष्ट परिलक्षित होते हैं जिसे हम श्रमण संस्कृति और ब्राह्मण संस्कृति के नाम से सम्बोधित करते है। ब्राह्मण संस्कृति का मूल आधार वेद रहा है। वेदो में जो कुछ भी आदेश और उपदेश उपलब्ध होते हैं उन्ही के अनुसार जिस परम्परा ने अपने जीवन-यापन की पद्धति का निर्माण किया वह परम्परा ब्राह्मण सस्कृति कहलाई और जिस परम्परा ने वेदो को प्रामाणिक न मानकर समत्त्व की साधना पर अधिक बल दिया वह श्रमण संस्कृति कहलाई। श्रमण सस्कृति और वैदिक संस्कृति का मिलाजुला रूप ही भारतीय संस्कृति है। ब्राह्मण संस्कृति और श्रमण संस्कृति में अत्यधिक विरोध रहा, महाभाष्यकार पतंजलि ने अहि-नकुल एवं गो व्याघ्र जैसे शाश्वत विरोध का उल्लेख किया।[१] आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने ग्रन्थ में इसी बात का समर्थन किया है[२] तथापि यह स्पष्ट है कि एक सस्कृति का प्रभाव दूसरी संस्कृति पर अवश्य ही पडा है और वे एक दूसरे से प्रभावित्त रही हैं। आचार-भेद और विचार-भेद होने पर भी उनमें कुछ समानता भी रही हुई है। वैदिक परम्परा में मूल में एक धारा होने पर भी न्याय और वैशेषिक, सांख्य और योग, पूर्वमीमासा और उत्तरमीमासा जैसी उपधाराएं समय समय पर मुख्य धारा से फूटती रही हैं। इधर श्रमण सस्कृति में भी जैन और बौद्ध धाराओ के अनेक भेद प्रभेद प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होते हैं जैसे जैन परम्परा में श्वेताम्बर और दिगम्बर, तथा बौद्ध परम्परा में हीनयान और महायान। इस प्रकार ये धाराएँ पृथक् पृथक् होते हुए भी अपने-अपने मूल रूप में समाहित होकर एक हो जाती हैं।

सस्कृति और उसके स्वरूप के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्कृति मानव-जीवन का सौन्दर्य है, माधुर्य है, सौरभ है, संस्कृति जीवन की मिठास है, गरिमा है जितनी सस्कृति अपनाई जायेगी, उतना ही जीवन महान बनेगा। जिस समाज और राष्ट्र की संस्कृति प्राणवन्त है, उसका कभी विनाश नही हो सकता। वह ध्रुव तारे की तरह सदा चमकता रहेगा।

---

१. महाभाष्य २।४।९।

२. सिद्धहैमशब्दानुशासन ३।१।१४१।

१६

श्रमण संस्कृति

भारत की अनेकविध संस्कृतियो में श्रमण संस्कृति एक प्रधान एव गौरवपूर्ण संस्कृति है। समता प्रधान होने के कारण यह संस्कृति श्रमण संस्कृति कहलाती है। वह समता मुख्य रूप से तीन वातो में निहारी जा सकती है (१) समाज विषयक (२) साध्यविषयक और (३) प्राणी जगत् के प्रति दृष्टि विषयक।[१]

समाज विषयक समता का अर्थ है—समाज में किसी एक वर्ण का जन्म सिद्ध श्रेष्ठत्व और कनिष्ठत्व न स्वीकार कर गुणकृत या कर्मकृत श्रेष्ठत्व या कनिष्ठत्व मानना। श्रमण संस्कृति समाज-रचना या धर्म विषयक अधिकार जन्म सिद्ध वर्ण और लिंग को न देकर गुणो के आधार पर ही समाज रचना करती है। जन्म से किसी का महत्व नही है। महत्त्व है सद्गुणो का, पुरुषार्थ का। जन्म से कोई महान् नही होता और न हीन ही होता है। हीनता और श्रेष्ठता का सही आधार जीवनगत गुण-दोष ही हो सकते हैं।

साध्यविषयक समता का अर्थ है : अभ्युदय का एक सदृश रूप। श्रमण संस्कृति का साध्य एक ऐसा आदर्श है जहाँ किसी भी प्रकार का स्वार्थ नही है, न ऐहिक और न पारलौकिक ही। वहाँ विषमता नही, समता का ही साम्राज्य है। वह अवस्था तो योग्यता अयोग्यता, अधिकता, न्यूनता, हीनता व श्रेष्ठता से पूर्ण रूप से परे है।

प्राणीजगत् के प्रति दृष्टि विषयक समता का अर्थ है—संसार में जितने भी जीव हैं, चाहे मानव हो या पशु-पक्षी हो, कीट या वनस्पति आदि हो, उन सभी को आत्मवत् समझना, उनका वध आत्मवध की तरह कष्टप्रद होना। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भव्य भावना इसमें अठखेलिया करती हैं। श्रमण शब्द का मूल समण है। समण शब्द 'सम' शब्द से निष्पन्न है। जो सभी जीवो

---

१. जैनधर्म का प्राण पृ० १

को अपने तुल्य मानता है, वह समण है। जिस प्रकार मुझे दुःख प्रिय नही है, उसी प्रकार सभी जीवो को भी दुःख प्रिय नही है, इस समता की भावना से जो स्वयं किसी प्राणी का वध नही करता और न दूसरो से करवाता है, वह अपनी समगति के कारण समण कहलाता है।[1]

जिसके मन में समता की सुर-सरिता प्रवाहित होती है वह न किसी पर द्वेष करता है और न किसी पर राग ही करता है अपितु अपनी मनः स्थिति को सदा सम रखता है, इस कारण वह समण कहलाता है।[2]

जिसके जीवन में सर्प के तन की तरह मृदुलता होती है, पर्वत की तरह जिसके जीवन में स्थैर्य होता है, अग्नि की तरह जिसका जीवन प्रज्वलित होता है, समुद्र की तरह जिसका जीवन गभीर होता है, आकाशकी तरह जिसका जीवन विराट् होता है, वृक्ष की तरह जिसका जीवन आश्रयदाता है, मधुकर की तरह जिसकी वृत्ति होती है जो अनेक स्थानो से मधु को बटोरता है, हरिण की तरह जो सरल होता है, भूमि की तरह जो क्षमाशील होता है, कमल की तरह जो निर्लेप होता है, सूर्य की तरह जिसका जीवन तेजस्वी होता है और पवन की तरह जो अप्रतिहत विहारी होता है, वह समण है।[3]

समण वह है जो पुरस्कार के पुष्पो को पाकर प्रसन्न नही होता और अपमान के हलाहल को देखकर खिन्न नही होता अपितु सदा मान और अपमान में सम रहता है।[4]

आगमसाहित्य में अनेक स्थलो पर समण के साथ समता का सम्बन्ध जोड़कर यह बताया गया है कि समता ही श्रमण संस्कृति का प्राण है।

---

१. जह मम न पियं दुक्खं जाणिय एमेव सव्वजीवाणं।
न हणइ न हणावेइ य सममणई तेण सो समणो ॥
—दशवैकालिक निर्युक्ति गा. १५४

२. नत्थि य सि कोइ वेसो पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु।
एएण होइ समणो ऐसो अन्नोऽवि पज्जाओ ॥
—दशवैकालिक निर्युक्ति गा. १५५

३. उरगगिरिजलणसागरनहयलतरुगणसमो य जो होई।
भमरमिगधरणिजलरुहरविपवणसयो जओ समणो।
—दशवैकालिक निर्युक्ति गा. १५७

४. तो समणो जइ सुमणो भावेण य जइ न होइ पावमणो।
समणे य जणे य जणे समो समो य माणावमाणे सु ॥—वही १५६

उत्तराध्ययन में कहा है--सिर मुंडा लेने से कोई समण नही होता किन्तु समता का आचरण करने से ही समण होता है।[१]

सूत्रकृतांग मे समण के समभाव की अनेक दृष्टियो से व्याख्या करते हुए लिखा है—मुनि को गोत्र-कुल आदि का मद न कर, दूसरो के प्रति घृणा न रखते हुए सदा सम भाव में रहना चाहिए।[२] जो दूसरो का अपमान करता है वह दीर्घकाल तक संसार में भ्रमण करता है। अतएव मुनि मद न कर सम रहे।[३] चक्रवर्ती दीक्षित होने पर अपने से पूर्वदीक्षित अनुचर के अनुचर को भी नमस्कार करने में संकोच न करे किन्तु समता का आचरण करें।[४] प्रज्ञासम्पन्न मुनि क्रोध आदि कपायो पर विजय प्राप्त कर समता धर्म का निरूपण करे।[५]

जैन संस्कृति की साधना समता की साधना है। समता, समभाव, समदृष्टि, एवं साम्यभाव ये सभी जैन संस्कृति के मूल तत्त्व हैं। जैन परम्परा में सामायिक की साधना को मुख्य स्थान दिया गया है। श्रमण हो या श्रावक हो, श्रमणी हो या श्राविका हो, सभी के लिए सामायिक की साधना आवश्यक मानी गई है। षडावश्यक में भी सामायिक की साधना को प्रथम स्थान दिया गया है। भरत और बाहुबली का आख्यान अत्यधिक प्रसिद्ध है।[६] जिसमें प्रहार में से प्रेम प्रकट हुआ, विषमता में से समता का जन्म हुआ, चित्त शुद्ध हुआ और बाहुबली समता के मार्ग पर बढ गये। समता आत्म परिष्कार का मूल मंत्र है।

समता के अनेक रूप है। आचार की समता अहिंसा है, विचारो की समता अनेकान्त है, समाज की समता अपरिग्रह है और भाषा की समता स्याद्वाद है। जैन संस्कृति का सम्पूर्ण आचार और विचार समता पर आधृत है। जिस आचार और विचार में समता का अभाव है, वह आचार और विचार जैन संस्कृति को कभी मान्य नही रहा।

---

१. न वि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण वम्भणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो।
समणाए समणो होइ, वम्भचेरेण वम्भणो।
नाणेण य मुणी होई, तवेणं होई तावसो॥

—उत्तराध्ययन २५।२९-३०

२. सूत्रकृताङ्ग १।२।२।१
३. वही १।२।२।२
४. वही १।२।२।३
५. वही १।२।२।६
६. देखिए लेखक का ऋषभदेव : एक परिशीलन ग्रन्थ

समता किसी भौतिक तत्त्व का नाम नही है। मानव मन की कोमल वृत्ति ही समता तथा क्रूर वृत्ति ही विषमता है। प्रेम समता है, वैर विषमता है। समता मानवमन का अमृत है और विषमता विष है। समता जीवन है और विषमता मरण है। समता धर्म है और विषमता अधर्म है। समता एक दिव्य प्रकाश है और विषमता घोर अंधकार है। समता ही श्रमण सस्कृति के विचारो का निथरा हुआ निचोड है।

आचार की समता का नाम ही वस्तुत अहिंसा है। समता, मैत्री, प्रेम, अहिंसा—ये सभी समता के ही अपर नाम हैं। अहिंसा जैन संस्कृति के आचार एवं विचार का केन्द्र है। अन्य सभी विचार और आचार उसके आसपास घूमते हैं। जैन संस्कृति में अहिंसा का जितना सूक्ष्म विवेचन और विशद विश्लेषण हुआ है—उतना विश्व की किसी भी संस्कृति में नही हुआ। श्रमण सस्कृति के कण-कण में अहिंसा की भावना परिव्याप्त है। श्रमण-संस्कृति की प्रत्येक क्रिया अहिंसा मूलक है। खान-पान, रहन-सहन, बोल-चाल आदि सभी में अहिंसा को प्रधानता दी गई है। विचार, वाणी और कर्म सभी में अहिंसा का स्वर मुखरित होना चाहिए। यदि श्रमण संस्कृति के पास अहिंसा को अनमोल निधि है तो सभी कुछ है और वह निधि नही है तो कुछ भी नही है। आज के अणु-युग में श्वास लेने वाली मानव जाति के लिए अहिंसा ही त्राण की आशा है। अहिंसा के अभाव में न व्यक्ति सुरक्षित रह सकता है, न परिवार पनप सकता है, और न समाज तथा राष्ट्र ही अक्षुण्ण रह सकता है। अणु-युग में अणुशक्ति से सत्रस्त मानव जाति को उबारने वाली कोई शक्ति है तो वह अहिंसा है। आज अहिंसा के आचरण की मानव जाति को नितान्त आवश्यकता है। अहिंसा ही मानव जीवन के लिए मगलमय वरदान है। आचार-विषयक अहिंसा का यह उत्कर्ष श्रमण संस्कृति के अतिरिक्त कही भी नही निहारा जा सकता। अहिंसा को व्यावहारिक जीवन में ढाल देना ही श्रमण संस्कृति का सच्ची साधना है।

जैसे वेदान्त दर्शन का केन्द्र बिन्दु अद्वैतवाद और मायावाद है, सांख्य दर्शन का मूल प्रकृति और पुरुष का विवेकवाद है, बौद्ध दर्शन का चिन्तन विज्ञानवाद और शून्यवाद है, वैसे ही जैन सस्कृति का आधार अहिंसा और अनेकान्त वाद है। अहिंसा के सम्बन्ध में इतर दर्शनो ने भी पर्याप्त मात्रा में लिखा है। उसे अन्य सिद्धान्तो की तरह प्रमुख स्थान भी दिया है तथापि यह स्पष्ट है कि उन्होने जैनो की तरह अहिंसा का सूक्ष्म विश्लेषण, व गम्भीर चिन्तन नहीं किया है। जैन सस्कृति के विधायको ने अहिंसा पर गहराई से से विवेचन किया है। उन्होने अहिंसा को एकागी और संकुचित व्याख्या न

कर सर्वाङ्गपूर्ण व्याख्या की है। हिंसा का अर्थ केवल शारीरिक हिंसा ही नही प्रत्युत किसी को मन और वचन से पीड़ा पहुँचाना भी हिंसा माना है। अहिंसा की नव कोटियाँ है।

इनके अतिरिक्त जैनो मे प्राणी की परिभाषा केवल मनुष्य और पशु तक ही सीमित नही है अपितु उसकी परिधि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक है। कीडी से लेकर कुजर तक ही नही परन्तु पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय वायुकाय और वनस्पति काय के सम्बन्ध में भी गम्भीर विचार किया गया है।

अहिंसा के सबंध में प्रबलतम युक्ति यह है कि सभी जीव जीना चाहते हैं, कोई भी मरना नही चाहता। अतः किसी भी प्राणी का वध न करो।[१] जिस प्रकार हमे जीवन प्रिय है, मरण अप्रिय है, सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है, अनुकूलता प्रिय है, प्रतिकूलता अप्रिय है, मृदुता प्रिय है, कठोरता अप्रिय है, स्वतन्त्रता प्रिय है, परतन्त्रता अप्रिय है, लाभ प्रिय है, अलाभ, अप्रिय है, उसी प्रकार अन्य जीवो को भी जीवन आदि प्रिय हैं और मरण आदि अप्रिय हैं। यह आत्मोपम्य दृष्टि ही अहिंसा का मूलाधार है। प्रत्येक आत्मा तात्त्विक दृष्टि से समान है अत. मन वचन और काया से किसी को सन्ताप न पहुँचाना ही पूर्ण अहिंसा है। दूसरे शब्दो में कहा जाय तो भेद ज्ञान पूर्वक अभेद आचरण ही अहिंसा है।

हमारे मन मे किसी के प्रति दुर्भावना है तो हमारा मन अशान्त रहेगा। नाना प्रकार के सङ्कल्प-विकल्प मन में घूमते रहेगे और चित्त क्षुब्ध रहेगा। हम जो भी कार्य करें दुर्भावना रहित होकर, अत्यन्त सावधानी के साथ, प्रमाद रहित होकर करें। कदाचित् सावधानी रखते हुए हिंसा हो भी गई तो वह आत्मा का उतना अहित न करेगी जितना कि प्रमत्तयोग से की गई हिंसा करती है।[२] हिंसा का मुख्य अग हमारा प्रमाद है, प्राणो का हनन तो उसका परिणाम मात्र है। यदि हमने प्रमाद किया और उसका परिणाम किसी का प्राणहनन नही हुआ तथापि हम हिंसा के भागी हो ही गये। हम हिंसा के दोषी उसी क्षण हो गये जब हमारे मन में प्रमाद आया। प्रमाद से हम अपनी आत्मा को तो कलुषित कर ही चुके, आत्मा पर कर्मों का आवरण डाल कर उसे अशुद्ध कर चुके। इस प्रकार अहिंसा का अर्थ है प्रमाद-अर्थात् राग-द्वेषादि दूषणो से और असावधानी से मुक्त होना। यही आत्म-विकास का सही मार्ग

---

१. सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जोविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं णिग्गन्था वज्जयंति णं।—दशवैकालिक ६।१०

२. प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा। —तत्त्वार्थ सूत्र ७।१३

है। जितने अंशो तक हम प्रस्तुत पथ पर बढेंगे, उतने ही अंशो तक हम सुखी होंगे। जब हम पूर्ण रागद्वेष और असावधानी से मुक्त हो जायेंगे, तब पूर्ण अहिंसक बन जायेंगे।

राग-द्वेष तथा प्रमाद से रहित होना सरल कार्य नही है। विरले व्यक्ति ही इस पथ के पथिक हो सकते हैं। अहिंसा की साधना वही व्यक्ति कर सकता है जिसके संस्कार निर्मल हो, हृदय में उदारता अठखेलियां कर रही हो, निर्लोभ वृत्ति हो, अदीनता हो, करुणा की भावना हो, सरलता और विवेक हो।

जैन संस्कृति ने जीवन की प्रत्येक क्रिया को अहिंसा के गज से नापा है। जो क्रिया अहिंसा मूलक है वह सम्यक् है और जो हिंसा मूलक है वह मिथ्या है। मिथ्या क्रिया कर्म बंधन का कारण है और सम्यक् क्रिया कर्म क्षय का कारण है। यही कारण है कि जैन संस्कृति ने धार्मिक विधि-विधानो में ही अहिंसा को स्थान नही दिया अपितु जीवन के दैनिक व्यवहार में भी अहिंसा का सुन्दर विधान किया है। अहिंसा माता के समान सभी की हितकारिणी है।[१] हिंसा के बढते हुए दिन दूने रात चौगुने साधनो को देखकर आज मानवता कराह रही है, भय से कांप रही है। विश्व के भाग्य विधाता चिन्तित हैं। ऐसी विकट वेला में अहिंसा-माता ही विनाश से बचा सकती है। आज अहिंसा की जितनी आवश्यकता है संभवत. उतनी पहले कभी नही रही। इस समय व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और सम्पूर्ण विश्व को अहिंसा की अनिवार्य आवश्यकता है। अहिंसा के अभाव में न व्यक्ति जिन्दा रह सकता है, न परिवार, समाज और राष्ट्र ही पनप सकता है। अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिए अहिंसा ही एक मात्र उपाय है। व्यक्ति, समाज और देश के सुख और शान्ति की आधार-शिला अहिंसा, मैत्री और समता है। भगवान् महावीर ने अहिंसा को ही सब सुखो का मूल माना है। जो दूसरो को अभय देता है, वह स्वयं भी अभय हो जाता है। अभय की भव्य-भावना से ही अहिंसा, मैत्री और समता का जन्म होता है। जब दूसरे को पर माना जाता है तब भय होता हैं। जब उन्हें आत्मवत् समझ लिया जाता है तब भय कहां? सब उसके हैं और वह सबका है। अतएव अहिंसा का साधक सदा अभय होकर विचरण करता है। 'मैं विश्व का हूँ और विश्व मेरा हैं' यह अहिंसा का अद्वैतात्मक दर्शन-शास्त्र है। मेरा सुख सभी का सुख है और सभी का दुःख मेरा दुःख है यह अहिंसा का नीतिमार्ग है, व्यवहार पक्ष है।

---

१. मातेव सर्वभूतानामहिंसा हितकारिणी।

विचारात्मक अहिंसा का ही अपर नाम अनेकान्त है। अनेकान्त का अर्थ है--बौद्धिक-अहिंसा। दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की भावना एव विचार को अनेकान्त दर्शन कहते है। जब तक दूसरो के दृष्टिकोण के प्रति, विचारो के प्रति, सहिष्णुता व आदर-भावना नही होगी तब तक अहिंसा की पूर्णता कथमपि संभव नही। संघर्ष का मूल कारण आग्रह है। आग्रह में अपने विचारो के प्रति राग होने से वह उसे श्रेष्ठ समझता है और दूसरो के विचारों के प्रति द्वेष होने से उसे कनिष्ठ समझता है। एकान्त दृष्टि में सदा आग्रह का निवास है, आग्रह से असहिष्णुता का जन्म होता है और असहिष्णुता में से ही हिंसा और संघर्ष उत्पन्न होते हैं। अनेकान्त दृष्टि मे आग्रह का अभाव होने से हिंसा और सघर्ष का भी उसमे अभाव होता है। विचारो की यह अहिंसा ही अनेकान्त दर्शन है।

स्याद्वाद के भाषाप्रयोग में अपना दृष्टिकोण बताते हुए भी अन्य के दृष्टिकोणो के अस्तित्व की स्वीकृति रहती है। प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मवाला है तब एक धर्म का कथन करनेवाली भाषा एकाश से सत्य हो सकती है, सर्वांश से नही। अपने दृष्टिकोण के अतिरिक्त अन्य के दृष्टिकोणो की स्वीकृति वह 'स्यात्' शब्द से देता है। 'स्यात्' का अर्थ है– वस्तु का वही रूप पूर्ण नहीं है जो हम कह रहे है। वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। हम जो कह रहे हैं उसके अतिरिक्त भी अनेक धर्म हैं। यह सूचना 'स्यात्' शब्द से की जाती है। स्यात् शब्द का अर्थ है सभावना और शायद संभावना में संदेहवाद को स्थान है जबकि जैन दर्शन में सन्देहवाद को स्थान नही है किन्तु एक निश्चित दृष्टिकोण है।

वाद का अर्थ है सिद्धान्त या मन्तव्य। दोनो शब्दो का मिलकर अर्थ हुआ—सापेक्ष सिद्धान्त, अर्थात् वह सिद्धान्त जो किसी अपेक्षा को लेकर चलता है और विभिन्न विचारो का एकीकरण करता है। अनेकान्तवाद, अपेक्षावाद, कथचिद्-वाद और स्याद्वाद इन सब का एक ही अर्थ है।

स्याद्वाद की परिभाषा करते हुए कहा गया है—अपने या दूसरे के विचारो, मन्तव्यो वचनों तथा कार्यो में तन्मूलक विभिन्न अपेक्षा या दृष्टिकोण का ध्यान रखना ही स्याद्वाद है।

आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं, जैसे ग्वालिन मंथन करने की रस्सी के दो छोरो में से कभी एक को और कभी दूसरे को खीचती है उसी प्रकार अनेकान्त पद्धति भी कभी एक धर्म को प्रमुखता देती है और कभी दूसरे धर्म को।[1] इस

---

१. एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तु-तत्त्वमितरेण, अन्तेन जयति जैनी-नीतिर्मन्थान-नेत्रमिव गोपी। —पुरुषार्थ सिद्धयुपाय

प्रकार स्याद्वाद का अर्थ हुआ विभिन्न दृष्टिकोणो का विना किसी पक्षपात के तटस्थ बुद्धि से समन्वय करना। जो कार्य एक न्यायाधीश का होता है वही कार्य विभिन्न विचारो के समन्वय के लिए स्याद्वाद का है। जैसे न्यायाधीश वादी और प्रतिवादी के बयानो को सुनकर जाँच पडताल कर निष्पक्ष न्याय देता है, वैसे ही स्याद्वाद भी विभिन्न विचारो में समन्वय करता है।

दूसरे शब्दो में विचारो के अनाग्रह को ही वस्तुतः अनेकान्त कहा है। अनेकान्त एक दृष्टि है, एक भावना है, एक विचार है जिसमें सम्पूर्ण सत्य निहित रहता है। वह व्यापक रूप से सोचने-समझने की पद्धति है। जब अनेकान्त वाणी का रूप ग्रहण करता है तब वह स्याद्वाद वन जाता है। अनेकान्त विचार-प्रधान है और स्याद्वाद भाषाप्रधान है। जहाँ तक दृष्टि विचार रूप रहती है वहाँ तक वह अनेकान्त है और जब दृष्टि वाणी का रूप धारण करती है तब वह स्याद्वाद बन जाती है और जब वही दृष्टि आचार का रूप धारण करती है तब अहिंसा के नाम से पहचानी जाती है। अनेकान्त जैन सस्कृति का मुख्य सिद्धान्त है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है—अनेकान्त के बिना लोक व्यवहार भी नही चल सकता। मैं उस अनेकान्त को नमस्कार करता हूँ जो जन-जीवन को आलोकित करने वाला विश्व का एक मात्र गुरु है।[1] जब वस्तु को एकान्त दृष्टि से देखा और परखा जाता है तव उसके सही एवं परिपूर्ण स्वरूप का परिज्ञान नही हो सकता। वस्तु का वस्तुत्व अनेकान्त दृष्टि से देखा जा सकता है। एतदर्थ ही आचार्य हरिभद्र ने कहा है—कदाग्रही व्यक्ति पहले अपना विचार निश्चित कर लेता है फिर उसे परिपुष्ट करने के लिए युक्तियाँ खोजता है। वह युक्तियो को अपने विचार की ओर घसीटने का प्रयत्न करता हैं किन्तु निष्पक्ष व्यक्ति उसी बात को स्वीकार करता है जो युक्ति से सिद्ध होती है।[2]

एकान्तवादी का मन्तव्य है कि जो वस्तु सत् है वह कभी भी असत् नही हो सकती, जो नित्य है वह कभी भी अनित्य नही हो सकती। इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य समन्तभद्र ने कहा—विश्व की प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय की अपेक्षा सत् है और पर चतुष्टय की अपेक्षा असत् है। इस प्रकार की व्यवस्था के

---

१. जेण विणा लोगस्स वि, ववहारो सव्वहा न निव्वडइ।
तस्स भुवणेक्क गुरुणो, णमो अणेगंत-वायस्स। —सन्मति तर्क

२. आग्रही वत निनीषति युक्ति,
तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्ष-पात-रहितस्य तु युक्तिर्यत्र,
तत्र मतिरेति निवेशम्॥

अभाव में किसी भी तत्त्व की सुन्दर व्यवस्था संभव नहीं है।[१] प्रत्येक वस्तु का अपना निजी स्वरूप होता है, जो अन्य के स्वरूपसे भिन्न होता है। अपना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव होता है। यही स्वचतुष्टय है। स्व से भिन्न जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव है वह पर चतुष्टय है। जैसे एक घडा स्व द्रव्य (मत्तिका) की अपेक्षा से है, पर द्रव्य (पीतल आदि) की अपेक्षा से नही है। अपने क्षेत्र-जहां वह है की अपेक्षा से है, पर क्षेत्र की अपेक्षा से नही है। स्व-काल जिसमें वह है की अपेक्षा से घट का सद्भाव है पर काल की अपेक्षा से असद्भाव है। अपने स्वभाव की अपेक्षा से घट का अस्तित्व है, पर भाव को अपेक्षा से अस्तित्व नही है। घट को तरह अन्य सभी वस्तुओ के सम्बन्ध में यही समझना चाहिए। जब एकान्त का कदाग्रह त्याग कर अनेकान्त का आश्रय लिया जाता है, तभी सत्य तथ्य का सही निर्णय होता है।

समता का भव्य-भवन अहिंसा और अनेकान्त की भित्ति पर आधारित है। जब जोवन में अहिंसा और अनेकान्त मूर्त रूप धारण करता है तब जीवन में समता का मधुर सगीत झंकृत होने लगता है। श्रमण संस्कृति का सार यही है कि जीवन में अधिकाधिक समता को अपनाया जाय और 'तामस' विषमभाव को छोड़ा जाय। 'तामस' समता का ही तो उलटा रूप है। समता श्रमण संस्कृति की साधना का प्राण है और आगम साहित्य का नवनीत है। भारत के उत्तर में जिस प्रकार चादनी को तरह चमचमाता हुआ हिमगिरि का उत्तुग शिखर शोभायमान है वैसे ही श्रमण संस्कृति के चिन्तन-मनन के पीछे समत्व योग का दिव्य और भव्य शिखर चमक रहा है। श्रमण संस्कृति का यह गंभीर आघोष रहा है कि समता के अभाव में आध्यात्मिक उत्कर्ष नही हो सकता और न जीवन में पूर्ण शान्ति ही प्राप्त हो सकती है। भले ही कोई साधक उग्र तपश्चरण क्यो न करले, भले ही समस्त आगम साहित्य को कंठाग्र करले, भले ही उसकी वाणी में द्वादशागी का स्वर मुखरित हो, यदि उसके आचरण में वाणी में और मन में समता की सुर-सरिता प्रवाहित नही हो रही है तो उसका समस्त क्रियाकाण्ड और आगमों का परिज्ञान प्राण रहित कंकाल की तरह है। आत्म विकास की दृष्टि से उसका कुछ भी मूल्य नही है। आत्मविकास की दृष्टि से जीवन के कण कण में, मन के अणु-अणु में समता की ज्योति जगाना आवश्यक है। साम्यभाव को जीवन में साकाररूप देना ही श्रमण संस्कृति की आत्मा है।

---

१. सदेव सर्वं को नेच्छेत्, स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासात्, न चैन्न व्यवतिष्ठते। —समन्तभद्र

१७

श्रमण संस्कृति की प्राचीनता

मोहनजोदडो और हडप्पा के ध्वंसावशेषो ने पुरातत्त्व के क्षेत्र में एक नई हलचल पैदा कर दी है। जहाँ आज तक सभी प्रकार की प्राचीन सास्कृतिक धारणाएं आर्यो के परिकर मे बधी थी, वहाँ पर खुदाई से प्राप्त उन अवशेषो ने यह प्रमाणित कर दिया है कि आर्यो के कथित भारत-आगमन के पूर्व यहाँ एक समृद्ध संस्कृति और सभ्यता थी। उस संस्कृति के मानने वाले मानव सुसभ्य, सुसस्कृत और कलाविद् ही नही थे अपितु आत्मविद्या के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। पुरातत्त्व विदो के अनुसार जो अवशेष मिले हैं, उनका सीधा सम्बन्ध श्रमण संस्कृति से है। आज यह सिद्ध हो चुका है कि आर्यों के आगमन के पूर्व ही श्रमण संस्कृति भारतवर्ष में अत्यन्त विकसित अवस्था में थी। पुरातत्त्व सामग्री से ही नहीं अपितु ऋग्वेद आदि वैदिक साहित्य से भी इस सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है।

व्रात्य

अथर्ववेद में व्रात्य शब्द आया है। हमारी दृष्टि से यह शब्द श्रमण-परम्परा से ही सम्बन्धित होना चाहिए।

व्रात्य शब्द अर्वाचीन काल में आचार और संस्कारो से हीन मानवो के लिए व्यवहृत होता रहा है। अभिधान चिन्तामणि कोश में आचार्य हेमचन्द्र ने भी यही अर्थ किया है।[१] मनुस्मृतिकार ने लिखा है—क्षत्रिय, वैश्य और ब्राह्मण योग्य अवस्था प्राप्त करने पर भी असस्कृत हैं क्यो कि वे व्रात्य है और वे आर्यों के द्वारा गर्हणीय हैं।[२] उन्होने आगे लिखा है—'जो ब्राह्मण, सतति उपनयन

---

१. व्रात्य संस्कारवर्जित । व्रते साधु कालो व्रात्य । तत्र भवो व्रात्य. प्रायश्चित्तार्ह., सस्कारोऽत्र उपनयन तेन वर्जित ।

—अभिधान चिन्तामणिकोष ३।५१८

२. अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते, यथाकालमसंस्कृता ।
सावित्रीपतिता व्रात्या, भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥ —मनुस्मृति १।५१८

आदि व्रतो से रहित हो उस गुरु मंत्र से परिभ्रष्ट व्यक्ति को व्रात्य नाम से निर्दिष्ट किया गया है।[१] ताण्डय महाब्राह्मण में एक व्रात्य स्तोत्र है जिसका पाठ करने से अशुद्ध व्रात्य भी शुद्ध और सुसंस्कृत होकर यज्ञ आदि करने का अधिकारी हो जाता है।[२] इस पर भाष्य करते हुए सायण ने भी व्रात्य का अर्थ आचार हीन किया है।[३]

इन सभी अर्वाचीन उल्लेखो मे व्रात्य का अर्थ आचारहीन बताया गया है। जवकि इनसे पूर्ववर्ती जो ग्रन्थ हैं उनमें यह अर्थ नही है, अपितु विद्वत्तम, महाधिकारी, पुण्यशील और विश्वसम्मान्य आदि महत्त्वपूर्ण विशेषण व्रात्य के लिए व्यवहृत हुए है।[४] व्रात्यकाण्ड की भूमिका में आचार्य सायण ने लिखा है—इसमें व्रात्य की स्तुति की गई है। उपनयन आदि से हीन मानव व्रात्य कहलाता है। ऐसे मानव को वैदिक कृत्यो के लिए अनधिकारी और सामान्यतः पतित माना जाता है। परन्तु कोई व्रात्य ऐसा हो जो विद्वान् और तपस्वी हो, ब्राह्मण उससे भले ही द्वेष करें परन्तु वह सर्वपूज्य होगा और देवाधिदेव परमात्मा के तुल्य होगा।[५] यह स्पष्ट है कि अथर्ववेद के व्रात्य काण्ड का सम्बन्ध किसी ब्राह्मणेतर परम्परा से है। व्रात्य ने अपने पर्यटन में प्रजापति को भी प्रेरणा दी थी।[६] उस प्रजापति ने अपने में सुवर्ण आत्मा को देखा।[७]

प्रश्न यह है कि वह व्रात्य कौन है जिसने प्रजापति को प्रेरणा दी ? डाक्टर सम्पूर्णानन्द व्रात्य का अर्थ परमात्मा करते है[८] और बलदेव उपाध्याय भी उसी

---

१. द्विजातय सवर्णासु, जनयन्त्यव्रतास्तु तान्।
तान् सावित्री-परिभ्रष्टान् व्रात्यानिति विनिर्दिशेत्।—मनुस्मृति १०।२०

२. हीना वा एते। हीयन्ते ये व्रात्या प्रवसन्ति। ···षोडशो वा एतत् स्तोमः समाप्तुमर्हति।   —ताण्डय महाब्राह्मण

३. व्रात्यान् व्रात्यता आचारहीनता प्राप्य प्रवसन्त प्रवास कुर्वत.।
—ताण्डय महाब्राह्मण सायण भाष्य

४. कञ्चिद् विद्वत्तम महाधिकारं, पुण्यशीलं विश्वसमान्यं।
ब्राह्मणविशिष्ट व्रात्यमनुलक्ष्य वचनमिति मंतव्यम्॥
—अथर्ववेद १५।१।१।१ सायण भाष्य

५. वही १५।१।१।१

६. व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत्।—अथर्ववेद १५।१।१।१

७. स प्रजापति. सुवर्णमात्मन्नपश्यन्।   —वही १५।१।१।३

८. अथर्ववेदीयं व्रात्यकाण्ड पृ० १।

अर्थ को स्वीकार करते हैं,[१] किन्तु व्रात्य-काण्ड का परिशीलन करने पर प्रस्तुत कथन युक्तियुक्त प्रतीत नही होता। व्रात्य-काण्ड में जो वर्णन है, वह परमात्मा का नहीं अपितु किसी देहधारी का है। हमारी दृष्टि से उस व्यक्ति का नाम भगवान् ऋषभदेव है। क्योंकि भगवान् ऋषभदेव एक वर्ष तक तपस्या में स्थिर रहे थे। एक वर्ष तक निराहार रहने पर भी उनके शरीर की पुष्टि और दीप्ति कम नही हुई थी।

व्रात्य शब्द का मूल व्रत है। व्रत का अर्थ धार्मिक संकल्प, और जो संकल्पो में साधु है, कुशल है, वह व्रात्य है।[२] डाक्टर हेवर प्रस्तुत शब्द का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं—व्रात्य का अर्थ व्रतो में दीक्षित है अर्थात् जिसने आत्मानुशासन की दृष्टि से स्वेच्छापूर्वक व्रत स्वीकार किये हो वह व्रात्य है।[३] यह निर्विवाद सत्य है कि व्रतो की परम्परा श्रमण संस्कृति की मौलिक देन है। डाक्टर हर्मन जेकोवी की यह कल्पना कि जैनो ने अपने व्रत ब्राह्मणो से लिये है,[४] निराधार कल्पना ही है। वास्तविक सत्य उसमें नही है। अहिंसा आदि व्रतो की परम्परा ब्राह्मण संस्कृति की नही, जैन सस्कृति की देन है। वेद, ब्राह्मण और आरण्यक साहित्य में कही पर भी व्रतो का उल्लेख नही आया है। उपनिषदो, पुराणो और स्मृतियो में जो उल्लेख मिलता है, वह सारा भगवान् पार्श्वनाथ के पश्चात् का है। भगवान् पार्श्व की व्रत-परम्परा का उपनिषदो पर प्रभाव पड़ा और उन्होने उसे स्वीकार कर लिया। यही तथ्य श्रीरामधारी सिंह दिनकर ने निम्न शब्दो में बताया है—'हिन्दुत्व और जैन धर्म आपस में घुलमिलकर इतने एकाकार हो गये हैं कि आज का साधारण हिन्दू यह जानता भी नही कि अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये जैनधर्म के उपदेश थे, हिन्दुत्व के नही।'[५]

---

१. वैदिक साहित्य और संस्कृति पृ० २२९।

२ 'वियते यद् तद्व्रतम्, व्रते साधु कुशले वा इति व्रात्य.।'

३. Vratya as initiated in vratas. Hence vratyas means a person who has volmitanly accepted the moral code of vows for his own spiritual discipline. —By Dr. Hebar

४. The sacred Books of the East Vol. XXII. Intr. P. 24. It is therefore probable that the Jaines have borrowed their own vows from Brahamans, not from Buddhists.

५. संस्कृति के चार अध्याय पृ० १२५

"व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत्" इस सूत्र में 'आसीदीयमान' शब्द का प्रयोग हुआ है। उसका अर्थ है—पर्यटन करता हुआ। यह शब्द श्रमण संस्कृति के सन्त का निर्देश करता है। श्रमणसंस्कृति का सन्त आदि काल से ही पक्का घुमक्कड रहा है। घूमना उसके जीवन की प्रधानचर्या रही है। वह पूर्व,[1] पश्चिम[2] उत्तर[3] और दक्षिण आदि सभी दिशाओं में अप्रतिवद्ध रूप से परिभ्रमण करता है। आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर उसे अप्रतिबन्धविहारी कहा है। वर्षावास के समय को छोडकर शेष आठ माह तक वह एक ग्राम से दूसरे ग्राम, एक नगर से दूसरे नगर विचरता रहता है।[4] भ्रमण करना उसके लिए प्रशस्त माना गया है।[5]

डाक्टर ग्रीफिथ ने व्रात्य को धार्मिक पुरुष के रूप मे माना है।[6] एफ० आई० सिन्दे न व्रात्यो को आर्यों से पृथक् माना है। वे लिखते है—वस्तुत व्रात्य कर्म-काण्डो ब्राह्मणो से पृथक् थे। किन्तु अथर्ववेद ने उन्हें आर्यों में सम्मिलित ही नही किया उनमें से उत्तम साधना करने वालो को उच्चतम स्थान भी दिया है।[7]

व्रात्य लोग व्रतो को मानते थे, अर्हन्तो (सन्तो) की उपासना करते थे। और प्राकृत भाषा बोलते थे। उनके सन्त ब्राह्मण सूत्रो के अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय थे।[8] व्रात्यकाण्ड मे पूर्ण ब्राह्मचारी को व्रात्य कहा है।[9]

विवेचन का सार यह है कि प्राचीन काल में व्रात्य शब्द का प्रयोग श्रमण संस्कृति के अनुयायी श्रमणो के लिए होता रहा है। अथर्ववेद के व्रात्य-काण्ड में

---

१. स उदतिष्ठत् स प्राचीदिशमनुव्यचलत्। —अथर्ववेद १५।१।२।१
२. स उदतिष्ठत् स प्रतीची दिशमनुव्यचलत्। —अथर्ववेद १५।१।२।१५
३. स उदतिष्ठत् स उदीची दिशमनुव्यलत्। —अथर्ववेद
४ दशवैकालिक चूलिका–२, गा० ११।
५. विहार चरिया इसिणं पसत्था। —दशवैकालिक चूलिका–२, गा० ५
६. "The Religion & Philosophy of Atharva Veda."
Vratyas were outside the pale of the orthodox Aryans. The Atharva Veda not ouly admitted them in the Aryan fold but made the most rightous of them, the highest divinity.
—F. I. Sinde
७. देखें लेखक का ऋषभदेव . एक परिशीलन ग्रन्थ।
८. वैदिक इण्डैक्स, दूसरी जिल्द १९५८ पृ० ३४३, मैक्डावल और कीथ।
९. वैदिक कोश, वाराणसेय हिन्दु विश्वविद्यालय १९६३, सूर्यकान्त

रूपक की भाषा में भगवान् ऋषभ का ही जीवन उट्टङ्कित किया गया है। भगवान् ऋषभ के प्रति वैदिक ऋषि प्रारंभ से ही निष्ठावान् रहे हैं और उन्हें वे देवाधिदेव के रूप में मानते रहे हैं।[1]

वातरशनामुनि

श्रीमद्‌भागवत पुराण में लिखा है--स्वयं भगवान् विष्णु महाराजा नाभि का प्रिय करने के लिए उनके रनिवास में महारानी मरुदेवी के गर्भ में आये। उन्होंने वातरशना श्रमण ऋषियो के धर्म को प्रकट करने की इच्छा से यह अवतार ग्रहण किया।[2]

ऋग्वेद में वातरशन-मुनि का उल्लेख आया है। वे ऋचाएं इस प्रकार हैं:—

मुनयो वातऽरशनाः पिशगा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिम् यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥
उन्मदिता मौनेयन वातॉ आ तस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ ॥

अर्थात् अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते हैं जिससे पिंगलवर्ण वाले दिखाई देते हैं। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं अर्थात् रोक देते है तब वे अपनी तप की महिमा से दीप्तिमान होकर देवता स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। सर्व लौकिक व्यवहार को छोडकर वे मौनेय की अनुभूति में कहते हैं "मुनिभाव से प्रमुदित होकर हम वायु में स्थित हो गये हैं। मर्त्यो! तुम हमारा शरीर मात्र देखते हो।" रामायण की टीका में जिन वातवसन मुनियो का उल्लेख किया गया है वे ऋग्वेद में वर्णित वातरशन मुनि ही ज्ञात होते हैं। उनका वर्णन उक्त वर्णन से मेल भी खाता है।[3] केशी मुनि भी वातरशन की श्रेणी के ही थे।[4]

---

१. भगवान् परमर्षिभि: प्रसादितो नाभ: प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मरुदेव्या धर्मान् दर्शयितुकामा वातरशनाना श्रमणानाम् ऋषीणाम् ऊर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तन्वावतार। — भागवत पुराण ५।३।२०

२. ऋग्वेद १०।११।१३६,२,३

३. वातरशना. वातरशनस्य पुत्रा. मुनय. अतीन्द्रियार्थदर्शिनो जूतिवात-जूतिप्रभृतयः पिशंगा पिशंगानि कपिलवर्णानि मला मलिनानि वल्कल-रूपाणि वासासि वसते आच्छादयन्ति।

--सायण भाष्य १०।१३६।२

४. वही १०।१३५।७

तैत्तिरीयारण्यक में भगवान् ऋषभदेव के शिष्यों को वातरशन ऋषि और ऊर्ध्वमंथी कहा है।[1]

वातरशन मुनि वैदिक परम्परा के नही थे। क्यों कि वैदिक परम्परा में संन्यास और मुनि पद को पहले स्थान नही था। श्रमण शब्द का उल्लेख तैत्तिरीयारण्यक और श्री मद् भागवत के साथ ही वृहदारण्यक उपनिषद[2] और रामायण[3] में भी मिलता है। इण्डो-ग्रीक और इण्डो-सीथियन के समय भी जैनधर्म श्रमण धर्म के नाम से प्रचलित था। मैगस्थनीज ने अपनी भारत यात्रा के समय दो प्रकार के मुख्य दार्शनिको का उल्लेख किया है। श्रमण और ब्राह्मण उस युग के मुख्य दार्शनिक थे।[4] उस समय उन श्रमणो का बहुत आदर होता था। काल ब्रुक ने जैन सम्प्रदाय पर विचार करते हुए मैगस्थनीज द्वारा उल्लिखित श्रमण सम्बन्धी अनुच्छेद को उद्धृत करते हुए लिखा है कि श्रमण वन में रहते थे। सभी प्रकार के व्यसनो से अलग थे। राजा लोग उनको बहुत मानते थे और देवता की भांति उनकी पूजा और स्तुति करते थे।[5]

केशी

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार भगवान् ऋषभदेव जब श्रमण बने तो उन्होने चार मुष्टि केशो का लोच किया था। सामान्य रूप से पांच-मुष्टि केशलोच करने की परम्परा है। भगवान् केशो का लोच कर रहे थे। दोनो भागो के केशो का लोच करना अवशेष था। उस समय प्रथम देवलोक के इन्द्र शक्रेन्द्र ने भगवान् से निवेदन किया कि इतनी सुन्दर केशराशि को रहने दें। भगवान ने इन्द्र की प्रार्थना से उसको उसी प्रकार रहने दिया।[6] यही कारण है कि केश रखने

---

१. वातरशना हवा ऋषय· श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनो बभूवु·।

—तैत्तियारण्यक २।७।१ पृ० १३७

२. वृहदारण्यकोपनिषद् ४।३।२२।

३. तपसा भुञ्जते चापि, श्रमण भुञ्जते तथा।

—रामायण बालकाण्ड स० १४ श्लोक २२।

४. एन्शियेन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाय मैगस्थनीज एण्ड एरियन, कलकत्ता १९२६ पृ० ९७-९८

५. ट्रान्सलेशन आव द फ्रेग्मेन्टस आव द इण्डिया आव मेगस्थनीज, बान, १८४६, पृ० १०५

६. चउहिं अट्ठाहिं लोअं करेइ। —मूल

वृत्ति—तीर्थकृता पंचमुष्टिलोच सम्भऽवेपि अस्य भगवतश्चतुर्मुष्टिक-लोचगोचर. श्रीहेमाचार्यकृतऋषभचरित्राद्यभिप्रायोऽयं प्रथममेकया

के कारण उनका एक नाम केशी या केशरिया जी हुआ। जैसे सिंह अपने केशों के कारण केसरी कहलाता है वैसे ही भगवान् ऋषभ केशी, केसरी और केशरियानाथ के नाम से विश्रुत हैं। ऋग्वेद में भगवान् ऋषभ की स्तुति केशी के रूप में की गई है।[१] वातरशना मुनि प्रकरण में प्रस्तुत उल्लेख आया है, जिससे स्पष्ट है कि केशी ऋषभदेव ही थे। अन्यत्र ऋग्वेद में केशी और वृषभ का एक साथ उल्लेख भी प्राप्त होता है। मुद्गल ऋषि को गायें (इन्द्रिया) चुराई जा रही थी। उस समय केशी के सारथी ऋषभ के वचन से वे अपने स्थान पर लौट आयी। अर्थात् ऋषभ के उपदेश से वे इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो गयी।[२] ऋग्वेद में भगवान् ऋषभ का उल्लेख अनेक वार हुआ है।[३]

अर्हन्

जैन और बौद्ध साहित्य में सहस्रों वार अर्हन् शब्द का प्रयोग हुआ है। जो वीतराग और तीर्थंकर भगवान् होते हैं, वे अर्हन् की संज्ञा से पुकारे गये हैं। अर्हन् शब्द श्रमण संस्कृति का अत्यधिक प्रिय शब्द रहा है। अर्हन् के उपासक होने से जैन लोग आर्हत कहलाते हैं। आर्हत लोग प्रारंभ से ही कर्म में विश्वास रखते थे। यही कारण था कि वे ईश्वर को सृष्टि कर्ता नही मानते थे। आर्हत मुख्य रूप से क्षत्रिय थे। राजनीति की भाँति वे धार्मिक प्रवृत्तियो में विशेष रुचि रखते थे और वे समय पर वाद-विवादो में भी भाग लेते थे। इस आर्हत परम्परा

मुष्टया श्मश्रुकूर्च्चयोर्लोचे तिसृभिश्च शिरोलोचे कृते एकां मुष्टिमवशिष्यमाणां पवनान्दोलिता कनकावदातयोः प्रभुस्कन्धयोरुपरि लुठन्तीं मरकतोपमानभमाविभुती परमरमणीया वीक्ष्य प्रमोद मानेन शक्रेण भगवन् ! मय्यनुग्रहं विधाय ध्रियतामियमित्थमेवेति विज्ञप्ते भगवतापि सा तथैव रक्षितेति। न ह्येकान्तभक्तानां याञ्चामनुग्रहीतारः खण्डयन्तीति"

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति वक्षस्कार २, सू० ३०

१. केश्यग्नि केशी विषं केशी विभर्त्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योति रुच्यते॥

—ऋग्वेद १०।११।१३६।१

२. ककर्दवे वृषभो युक्त, आसीदवावचीत्सारथिरस्य केशी दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्ति ष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्।

—ऋग्वेद १०।९।१०२।६

३. ऋग्वेद १।२४।१९०।१, ऋग्वेद २।४।३३।१५, ऋग्वेद ५।२।२८।४, ऋग्वेद ६।१।१।८, ऋग्वेद ६।२।१९।११, ऋग्वेद १०।१२।१६६।१।

की पुष्टि श्री मद्भागवत[1] पद्मपुराण[2] विष्णुपुराण[3] स्कंदपुराण[4] शिवपुराण[5] मत्स्यपुराण[6] और देवीभागवत[7] आदि से भी होती है। इनमें जैन धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक आख्यान उपलब्ध होते हैं। हनुमन्नाटक में, 'अर्हन्नित्यथ जैन शासनरताः' लिखा है। श्रमणनेता के लिए अर्हन् शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में भी हुआ है।[8]

विष्णु पुराण के अनुसार असुर लोग आर्हत धर्म के मानने वाले थे। उनको मायामोह नामक किसी व्यक्ति विशेष ने आर्हत धर्म में दीक्षित किया था।[9] वे सामवेद, यजुर्वेद और ऋग्वेद में श्रद्धा नही रखते थे।[10] वे यज्ञ और पशुवलि में भी विश्वास नही रखते थे।[11] अहिंसा धर्म में उनका पूर्ण विश्वास था।[12] वे श्राद्ध और कर्म काण्ड का विरोध करते थे।[13] मायामोह ने अनेकान्तवाद का भी निरूपण किया था।[14] ऋग्वेद मे असुरों को वैदिक आर्यों का शत्रु कहा है।[15]

वैदिक आर्यों के आगमन के पूर्व भारतवर्ष में सभ्य और असभ्य ये दो जातियाँ थी। असुर, नाग, और द्रविड ये नगरो मे रहने के कारण सभ्य जातियाँ कहलाती थी और दास आदि जगलो मे निवास करने के कारण असभ्य जातियाँ कहलाती

---

१. श्रीमद्भागवत ५।३।२०
२. पद्मपुराण १३।३५०
३. विष्णुपुराण १७-१८ अ.
४. स्कंदपुराण ३६-३७-३८
५. शिवपुराण ५।४-५
६. मत्स्यपुराण २४।४३-४९
७. देवीभागवत ४।१३।५४-४७
८. अर्हन् विभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम् अर्हन्निद दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति।—ऋग्वेद २।४।३३।१०
९. अर्हतैतं महाधर्मं मायामोहेन ते यत।
प्रोक्तास्तमाश्रिता धर्ममार्हतास्तेन तेऽभवन्। —विष्णुपुराण ३।१८।१२
१०. विष्णुपुराण ३।१८।१३।१४
११. विष्णुपुराण ३।१८।२७
१२. विष्णुपुराण ३।१८।२५
१३. विष्णुपुराण ३।१८।२८-२९
१४. विष्णुपुराण ३।१८।८-११
१५. ऋग्वेद १।२३।१७४।२-३

थीं। सम्यता और संस्कृति की दृष्टि से असुर अत्यधिक उन्नत थे। आत्म विद्या के भी जानकार थे।[१] शक्तिशाली होने के कारण वैदिक आर्यों को उनसे अत्यधिक क्षति उठानी पडी। वैदिक वाङ्मय में देव-दानवो का, जो युद्ध वर्णन आया है, हमारी दृष्टि से यह युद्ध असुर और वैदिक आर्यों का युद्ध है। वैदिक आर्यों के आगमन के साथ ही असुरो के साथ जो युद्ध छिडा वह कुछ ही दिनों में समाप्त नही हो गया, अपितु वह संघर्ष ३०० वर्षों तक चलता रहा।[२] आर्यों का इन्द्र पहले वहुत शक्ति सम्पन्न नही था।[3] एतदर्थ प्रारंभ में आर्य लोग पराजित होते रहे थे।[४] महाभारत के अनुसार असुर राजाओ की एक लम्वी परम्परा रही है[५] और वे सभी राजागण व्रत परायण, वहुश्रुत और लोकेश्वर थे।[६] पद्मपुराण के अनुसार असुर लोग जैन धर्म स्वीकार करने के पश्चात् नर्मदा के तट पर निवास करने लगे।[७]

ऊपर के संक्षिप्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्रमण संस्कृति भारत की एक महान् संस्कृति और सम्यता है जो प्राग् ऐतिहासिक काल से ही भारत के विविध अंचलो में फलती और फूलती रही है। यह संस्कृति वैदिक संस्कृति की धारा नही है अपितु एक स्वतत्र संस्कृति है। इस संस्कृति की विचारधारा वैदिक संस्कृति की विचारधारा से पृथक् है। वैदिक सस्कृति प्रवृत्ति प्रधान है और श्रमण संस्कृति निवृत्ति प्रधान। वैदिक संस्कृति विस्तारवादी है और श्रमण संस्कृति शम, श्रम और सम प्रधान है। वैदिक संस्कृति का प्रतिनिधि ब्राह्मण है, श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि श्रमण है। जो बाह्य दृष्टि से विस्तार करता है, वह ब्राह्मण है और जो शान्ति, तपस्या व समत्वयोग की साधना करता है, वह श्रमण है। ब्राह्मण संस्कृति विस्तारवादी होने से प्रवृत्ति प्रधान है, श्रमण संस्कृति सीमित होने से निवृत्ति प्रधान है। ब्राह्मण संस्कृति ने ऐहिक

---

१. महाभारत शान्तिपर्व २२७।१३।

२. अथ देवासुरं युद्धमभूद् वर्षशतत्रयम्। —मत्स्यपुराण २४।३७

३. अशक्त' पूर्वमासीस्त्व कथंचिच्छक्तता गत.।
कस्त्वदन्य इमा वाच सुक्रूरा वक्तुमर्हति॥
—महाभारत शान्तिपर्व २२७।२२

४. देवासुरमभूद् युद्ध, दिव्यमब्दशतं पुरा।
तस्मिन् पराजिता देवा, दैत्यैर्ह्लादपुरोगमै॥ —विष्णुपुराण ३।१७।७

५. महाभारत शान्तिपर्व २२७।४९-५१

६. महाभारत शान्तिपर्व २२७।५९-६०

७. नर्मदासरितं प्राप्य, स्थिता दानवसत्तमा। —पद्मपुराण १३।४१२

अभ्युदय पर बल दिया है, श्रमण संस्कृति ने आत्मा की शाश्वत मुक्ति पर बल दिया है। इस प्रकार दोनो का लक्ष्य पृथक् होने से दोनों संस्कृतियो में मौलिक अन्तर है।

दूसरी बात यह है कि जैन संस्कृति बौद्ध संस्कृति की भी शाखा नही है। जो विद्वान् जैन संस्कृति को बौद्ध संस्कृति की शाखा मानते है, उनके इतिहास विपर्यास पर तरस आता है। त्रिपिटक साहित्य का परिशीलन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि तथागत बुद्ध ने अनेक स्थलो पर श्रमण भगवान् महावीर को निग्गंथ नाथपुत्त के नाम से सम्बोधित किया है। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्व के आचार-विचार की छाप बुद्ध के जीवन पर और उनके धर्म पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। जैन पारिभाषिक शब्द ही नही, कथा और कहानियाँ भी बौद्ध-साहित्य में ज्यो की त्यो मिलती हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जैन संस्कृति, जिसे श्रमण संस्कृति कहा गया है, वैदिक और बौद्ध संस्कृति से पूर्व की संस्कृति है, भारत की आदि संस्कृति है।

●

१८

भारतीय संस्कृति के संस्कर्त्ता महावीर

•

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व के भारतीय इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो हृदय सन्न रह जाता है। यह विश्वास ही नही हो पाता कि क्या भारतीय संस्कृति इतनी विकृत, इतनी गँदली, इतनी तिरस्कृत वन सकती है? सत्ता, महत्ता, प्रभुता व अंधविश्वास के नाम पर इतने अधिक अत्याचार-अनाचार और भ्रष्टाचार पनप सकते हैं?

संक्षेप में कहा जा सकता है कि उस युग का मानव दानव वन चुका था। धर्म के नाम पर, संस्कृति के नाम पर, सभ्यता के नाम पर वह मूक पशुओ के प्राणो के साथ खिलवाड़ कर रहा था। जातिवाद, पंथवाद और गुरुडमवाद का स्वर इतना तेजस्वी वन चुका था कि मानवता की आवाज सुनाई नहीं दे रही थी। स्त्री-जाति की दशा भी दयनीय थी। वह गृहलक्ष्मी के पद से हटकर गृहदासी वन गई थी। मानवीय आदर्शों के लिये वस्तुत. वह एक प्रलय की घडी थी। ऐसी विकट परिस्थिति में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को मध्य रात्रि में क्षत्रियकुण्ड में भगवान् महावीर का जन्म हुआ। उनकी माता का नाम त्रिशला[१], पिता का नाम सिद्धार्थ[२], वड़े भाई का नाम नन्दीवर्द्धन[३], वहन का नाम सुदर्शना[४], पत्नी का नाम यशोदा[५], और पुत्री का नाम प्रियदर्शना[६] था। विदेह गणराज्य के मनोनीत अध्यक्ष चेटक उनके मामा थे[७]।

---

१. आचाराग द्वि श्रु भावनाधिकार, कल्पसूत्र पुण्य. सू. १०६, पृ. ३६।
२. आचाराग, द्वि श्रु कल्पसूत्र सू. १०५ पृ० ३६।
३ कल्प सू. १०५ पृ. ३६।
४. आचा द्वि. श्रु. भा.
   (ख) कल्पसूत्र. सूत्र. १०७, पृ. ३६।
५. आचाराग. द्वि श्रु. भा.।
   (ख) कल्प. सू. १०७ पृ. ३६।
६. आचाराग।
७. आवश्यक-चूर्णि, पूर्वभाग. पृ० २४५

बिहार प्रान्त के मुजफ्फरपुर जिले में जो वर्तमान में बसाढ गाँव (वैशाली नगरी) है, वही एक समय मे इतिहासप्रसिद्ध गणतंत्रो की राजधानी थी। वैशाली के पास ही क्षत्रियगण की राजधानी थी। सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक डाक्टर हर्मन जैकोबी और डाक्टर ए० एफ० आर० हार्नल आदि का मन्तव्य है कि वैशाली नगरी, जिसका वर्तमान में 'वेसाउपट्टी' (बसाढ) नाम है उसका उपनगर ही वस्तुत. क्षत्रियकुण्ड है। वैशाली के सन्निकट होने से महावीर को आगमो में वैशालिक[१] भी कहा गया है।

जब भ० महावीर गर्भ में आये थे तब धन-धान्य की विशेष समृद्धि होने से उनका नाम वर्धमान हुआ[२] और ज्ञातृकुल में उत्पन्न होने से दूसरा नाम 'नायपुत्र' (ज्ञातपुत्र या नातपुत्त) रखा गया। आचाराग[३], सूत्रकृताङ्ग[४], भगवती[५], उत्तराध्ययन[६], दशवैकालिक[७], आदि में प्रस्तुत नाम का स्पष्ट उल्लेख अनेक स्थलो पर हुआ है। विनयपिटक[८], मज्झिमनिकाय[९]

---

१. भगवती. श २. उ. १।
   (ख) भगवती. श. १२, उ. २।
   (ग) उत्तरा. अ ६, गा. १७।
२. आचा. श्रु २, अ १, ९९५।
   (ख) कल्प. सू. १०३, पृ ३२।
३. आचाराग. द्वि. श्रु. अ. १५, सू. १००३।
   (ख) आचा श्रु. १, अ. ८, उ. ८, ४४८।
४. (क) सूत्र. उ. १, गा. २२।
   (ख) सूत्र. श्रु. १, अ. ६, गा. २।
   (ग) सूत्र. श्रु १ अ. ६, गा. २४।
   (घ) सूत्र. श्रु. २, अ. ६, गा. १९।
५. भगवती श. १५, ७९।
६. उत्तरा. अ. ६, गा १७।
७. दश. अ. ५, उ २, गा. ४९।
   (ख) दश. अ ६, गा. २१।
८. महावग्ग पृ. २४२।
९. (क) उपालि-सुत्तन्त पृ. २२२।
   (ख) चूल-दुक्ख-क्खन्ध-सुत्तन्त पृ. ५९।
   (ग) चूल सारोपम-सुत्तन्त पृ. १२४।
   (घ) महा सच्चक सुत्तन्त पृ. १४७।

दीघनिकाय[1] सुत्तनिपात[2] में भी यह नाम मिलता है। इस नाम के पीछे एक भावना है।

श्री जिनदास महत्तर और अगस्त्य सिंह स्थविर के कथनानुसार 'ज्ञात' क्षत्रियों का एक कुल या जाति है। वे ज्ञात शब्द से ज्ञातकुल समुत्पन्न सिद्धार्थ का ग्रहण करते हैं और ज्ञातपुत्र से महावीर का[3]। आचार्य हरिभद्र ने 'ज्ञात' का अर्थ उदार क्षत्रिय सिद्धार्थ किया है। प्रो० वसन्तकुमार चट्टोपाध्याय के अनुसार लिच्छवियों की एक शाखा या वंश का नाम 'नाय' (नात) था। 'नाय' शब्द का अर्थ संभवत. ज्ञाति है[4]।

जैनागमों में एक आगम का नाम 'नायधम्मकहा' है। यहाँ 'नाय' शब्द भगवान् के नाम का प्रतीक है। 'नायधम्मकहा' को दिगम्बर साहित्य में 'नाथधम्मकहा' कहा गया है।[5] 'धनञ्जय-नाममाला' में भी महावीर का वंश 'नाथ' माना है और उन्हें 'नाथान्वय' कहा है।[6] सभवत. 'नाय' शब्द का ही 'नाथ' और 'नात' अपभ्रंश हो गया है।

सूत्रकृताङ्ग,[7] भगवती,[8] उत्तराध्ययन,[9] आचारांग,[10] कल्पसूत्र,[11] आदि में महावीर का एक नाम 'काश्यप' प्राप्त होता है और अनेक स्थलों पर वह

(ङ) अभयराज कुमार सुत्तन्त पृ. २३४।
(च) देवदह सुत्तन्त पृ. ४२८।
(छ) सामागाय सुत्तन्त पृ ४४१।

१. (क) सामाञ्ञफल सुत्त पृ. १८-२१।
(ख) सगीति परियाय सुत्त २८२।
(ग) महापरिनिब्बाण-सुत्त पृ. १४५।
(घ) पासादिक सुत्त २५२।

२. सुभिय-सुत्त पृ १०८।

३ (क) दशवैकालिक जिनदासचूर्णि पृ. २२१, (ख) अगस्त्यचूर्णि

४ जैन भारती, वर्ष २, अ. १४, १५, पृ. २७६।

५ जयधवला-भाग १ पृ. १२५।

६. धनञ्जय नाममाला, ११५।

७. सूत्र. १, ६, ७, १, १५, २१, १, ३, २, १४, १, २, १, ११, ५, ३२।

८. भगवती. १५, ८७, ८९।

९ उत्तरा–२, १, ४६ २९१।

१०. आचा–२, २४, ९९३, १००३।

११. कल्पसूत्र. १०९।

विशेषण के रूप में व्यवहृत हुआ है। कश्यप गोत्रीय होने से वे काश्यप कहलाये।[१] इक्षु रस का पान करने के कारण भगवान् ऋषभ काश्यप कहलाये और उनके गोत्र में उत्पन्न होने से महावीर भी काश्यप कहलाये।[२] 'धनञ्जय-नाम माला' में महावीर को अन्तिम तीर्थङ्कर होने से 'अन्त्यकाश्यप' लिखा है।[3]

भयंकर-भय-भैरव तथा महान् उपसर्गों को सहन करने के कारण देवों ने उनका नाम महावीर रखा।[४] आचार्य हरिभद्र के शब्दो में जो शूर विक्रान्त होता है, वह वीर कहलाता है। कषायादि महान् अन्तरंग शत्रुओ को जीतने से भगवान् महाविक्रान्त महावीर कहलाये।[५] जिनदासगणी महत्तर ने लिखा है "यश और गुणो मे महान् वीर होने से भगवान् का नाम महावीर हुआ"।[६] और इसी नाम से वे अधिक प्रसिद्ध हुए है।

महावीर के प्रमाणोपेत शरीर का, उत्फुल्ल नयनो का और चमकते हुए चेहरे का चित्रण 'औपपातिक'[७] में विस्तार से किया गया है। उनकी कमनीय कान्ति के दर्शन से दर्शक आनन्द-विभोर हो जाते थे। समस्त सुख-साधनो से सम्पन्न होने पर भी वे सदा निर्लेप रहे।

अट्ठाईस[८] वर्ष की उम्र में माता-पिता के स्वर्गस्थ होने पर संयम ग्रहण करने की उत्कट भावना होने पर भी अपने बड़े भाई नन्दीवर्धन के विशेष आग्रह से दो वर्ष[९] का समय गृहस्थाश्रम में व्यतीत किया पर अपने संयम में व्यतिक्रम नही आने दिया। उन्होंने सचित्त जल का भी उपयोग नही किया, न रात्रिभोजन ही किया। वे पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए रहे[१०]। उनका मन उस राजसी वैभव में उलझा नही।

---

१. दशवै. जिनदास-चूर्णि. पृ. १३२।
   (ख) दशवै. हारिभद्रीय टीका. पत्र. १३७।
२. दशवै अगस्त्यचूर्णि।
३ धन नाम. पृ० ५८।
४. आचाराग. २, ३, ४०० प. ३८९।
५. दशवै. हारिभद्रीय टीका, पत्र १३७।
६. दशवै जिनदास-चूर्णि पृ १३२।
७ औप. वीरदर्शन।
८ महावीर-कथा पृ० १११।
   (ख) कल्पसूत्र. सू. ११० पृ. ३६।
९. महावीर कथा, पृ. ११३।
१०. आचारांग-प्रथम. उ. अ ९, गा. ११, पृ० ५९१।

तीस वर्ष के कुसुमित यौवन मे गृहवास त्याग कर एकाकी निर्ग्रन्थ मुनि बने[1]। प्रव्रजित होने के पश्चात् चार-चार, छ-छ माह तक निराहार और निर्जल रहकर कठिन तप किया[2]। निर्जन स्थानो में रहकर विशुद्ध आत्मचिन्तन से अन्तर्ज्योति जगाई[3]। वर्षा में, सर्दी में, धूप में, छाया में, आधी और तूफानो मे भी उनका साधना-दीप जगमगाता रहा। देव, दानव, मानव और पशुओ के द्वारा भीषण कष्ट देने पर भी अदीन भाव से, अव्यथित मन से, अम्लान चित्त से व मन-वचन और काया को वश में रखते हुए उनको सहन किया[4]। वे वीर सेनानी की भांति निरन्तर आगे बढते गए, कभी भी पीछे कदम नही रखा[5]। गौतम बुद्ध की तरह उनका मन कभी भी तपस्या से नही ऊबा। अपितु आत्म-साधना के लिए मानो उन्होने शरीर का व्युत्सर्ग ही कर दिया[6]।

अन्य तीर्थङ्करो की अपेक्षा महावीर का तपःकर्म अधिक उग्र था[7]। बौद्ध ग्रन्थो में[8] और जैनागमो[9] में महावोर के शिष्यो को भी दीर्घतपस्वी कहा गया है। इससे भी स्पष्ट है कि महावीर कठोर तपस्वी थे। "जिस प्रकार समुद्रो में स्वयंभूरमण श्रेष्ठ है, रसो में इक्षुरस श्रेष्ठ है उसी प्रकार तपस्वियो में महावीर"[10]। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध[11] में महावीर की साधना का जो शब्द-चित्र प्रस्तुत किया है वह पढ़ते हो पाठक का सिर श्रद्धा से नत हो जाता है। साधना करते हुए बारह वर्ष बीते, तेरहवां वर्ष आया, वैशाख महीना था, शुक्ल-पक्ष की दशमी के दिन अन्तिम पहर था, शाल वृक्ष के नीचे गोदोहिका आसन से आतापना ले रहे थे, आत्म-चिन्तन की धारा विशुद्धि की पराकाष्ठा पर पहुँची, साधना सफल हुई, केवल-ज्ञान, केवल दर्शन प्रकट हुआ[12]।

---

१. आवश्यक निर्युक्ति गा. २२९।
२. भगवती श. १५।
३. आचारांग श्रु २, अ० १५, सू. १०१८, सुत्तागमे पृ. ९३।
४. आचारांग श्रु. २, अ० १५, सू. १०१९ „ „ पृ० ९३-९४।
५. आचारांग श्रु १, अ. ९, उ ३, गा. १३।
६. आचारांग श्रु. २, अ. १५, सू. १०१८ पृ. ९३।
७. आवश्यक निर्युक्ति गा. २००।
८. मज्झिमनिकाय, उपालिसुत्त ५६।
९. भगवती, श. १, उद्दे. ३।
१०. सूत्रकृताङ्ग श्रु. १, अ. ६, गा, २०।
११. आचारांग अ० ९, उ. १, २, ३, ४।
१२. आचारांग श्रु. २, अ. १५, सू. १०२०।

सर्वज्ञ होने के पश्चात् भगवान् का प्रथम प्रवचन देव-परिषद् मे हुआ[1]। देव विलासी होने से संयम व व्रत के कठोर कंटकाकीर्ण महामार्ग पर नही बढ़ सकते थे अत प्रथम प्रवचन निष्फल हुआ, जो एक प्रकार से आश्चर्य था[2]।

वहाँ से विहार कर भगवान् पावापुरी पधारे। वहाँ सोमिल ब्राह्मण ने एक विराट् यज्ञ का आयोजन कर रखा था, जिसमे इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायु-भूति, व्यक्त, सुधर्मा, मण्डित पुत्र, मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य, प्रभास—ये ग्यारह वेद-विद् ब्राह्मण आए हुए थे। भगवान् की देवकृत महिमा से इन्द्रभूति के अहंकार को ठेस लगी। वे भगवान् को वाद में पराजित करने के संकल्प से और स्वयं विजेता का गौरव प्राप्त करने का विचार लेकर अपनी शिष्य-मण्डली सहित धर्म-सभा में उपस्थित हुए[3]।

भगवान् ने मधुर सम्बोधन से कहा—गौतम! तुम वेद-वाक्यो का असली अर्थ नही जानते, तुम्हारे मानस में यह संशय है कि जीव है या नही ?

इन्द्रभूति सहम गये। उन्हे सर्वथा प्रच्छन्न अपने विचार के प्रकाशन पर आश्चर्य हुआ। भगवान् ने वेदार्थ समझाकर उनका समाधान किया। अपने चिरसंस्थित सशय के समाधान से तथा भगवान् की दिव्य ज्ञानशक्ति से वे अत्यन्त प्रभावित हुए। विजेता वनने की कामनावाले स्वयं पराजित हो गए। इन्द्रभूति की भाँति अन्य पण्डित भी अपने शिष्य-वर्ग सहित एक-एक कर आये और भगवान् के शिष्य वन गये। इस प्रकार चार हजार चार सौ विद्वान् ब्राह्मणो ने जैनेन्द्री दीक्षा ग्रहण की। भगवान् ने उन्ही ग्यारह विज्ञो को गणधर के महत्व-पूर्ण पद पर नियुक्त किया[4]।

श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका इस चतुर्विध तीर्थ की स्थापना कर तीर्थ-ङ्कर बने। भगवान् के सघ मे चौदह हजार श्रमण और छत्तीस हजार श्रमणियाँ सम्मिलित हुई[5]। नन्दी सूत्र के अनुसार चौदह हजार साधु प्रकीर्णकार थे[6]। इससे ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण साधुओ की सख्या इससे अधिक थी। कल्पसूत्र के अनुसार एक लाख उनसठ हजार श्रावक और तीन लाख अठारह

---

१. आचाराग श्रु २, अ. २४, सू. २७।
२. स्थानाङ्ग १०, सू १०७४।
३. आवश्यक निर्युक्ति गा. ५९२।
४. समवायाङ्ग ११।
५. औपपातिक वीरवर्णन।
६. नन्दीसूत्र—

हजार श्राविकाएं थीं[१]। यह संख्या भी व्रती श्रावको की दृष्टि से ही संभव है। जैनधर्म का अनुगमन करनेवालो की संख्या इससे भी अधिक होनी चाहिए।

भगवान् महावीर के प्रभावोत्पादक प्रवचनो से प्रभावित होकर भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के सन्त भी उनकी ओर आकर्षित हुए। उत्तराध्ययन में पार्श्वापत्य केशी और गौतम का मधुर संवाद है। सशय नष्ट होने पर उन्होंने भगवान् के पाँच महाव्रत वाले धर्म को ग्रहण किया[२]। वाणिज्य ग्राम में भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायी गांगेय अणगार और भगवान् महावीर के बीच महत्वपूर्ण प्रश्नोत्तर हुए। अन्तमें वे सर्वज्ञ समझकर महावीर के संघ में मिले[3]। गौतम ने निर्ग्रन्थ उदक पेढाल पुत्र को समझाकर सघ में सम्मिलित किया[४] और स्थविरो को समझाकर कालस्यवेषि अनगार को भी[५]। भगवती सूत्र से यह भी ज्ञात होता है कि भगवान् की परिषद् में अन्यतीर्थिक संन्यासी भी उपस्थित होते थे। आर्य स्कन्वक[६], अम्बड[७], पुद्गल[८] और शिव[९] आदि परिव्राजको ने भगवान् से प्रश्न किया और प्रश्नो के समाधान से सन्तुष्ट होकर अत में शिष्य बने।

भगवान् सर्वज्ञ थे अत. उनके समक्ष गहन से गहन और सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रश्न आते थे और प्रभु उनका उसी क्षण समाधान करते थे। सोमिल ब्राह्मण[१०], तुंगिया नगरी के श्रमणोपासक,[११], राजकुमारी जयन्ती[१२], माकन्दी[१३], रोह[१४], पिंगल[१५] प्रभृति के प्रश्नो के उत्तर इस तथ्य के स्पष्ट प्रतीक है।

भगवान् के त्यागमय उपदेश को श्रवण कर (१) वीराङ्गक, (२) वीरयश, (३) संजय, (४) एणेयक, (५) सेय, (६) शिव, (७) उदयन, (८) और शख—काशीवर्धन ने श्रमणधर्म अगीकार किया था[१६]। मगधाधीश सम्राट् श्रेणिक के पुत्रो ने भी भगवान् के पास संयम ग्रहण किया था और

१. कल्पसूत्र, सू. १३५, पृ. ४३ सू. १३६, पृ. ४४।
२. उत्तराध्ययन, अ २३, गा. ७७।
३. भगवती श. ९, उ. ३२, सू. ३७८।
४. सूत्रकृताङ्ग श्रु. २, अ. ७, सू. ८१२।
५. भगवती श. १, उ. ९, सू ७६। ६. भगवती श. १, उ. १।
७. औपपातिक टी.सू. ४, प.१८२, १९५, (ख) भगवती श. १४, उ ८।
८. भगवती श. २, उ. ५। ९. भगवती श. उ. १०
१०. भगवती उ. १०, प. १३९६-१४०१।
११. भगवती श. २, उ. ५। १२. भगवती श. १२, उ. १।
१३. भगवती श. १८, उ. ३। १४. भगवती श. १, उ. ६।
१५. स्थानाङ्गस्था. ८ सू ७८८। १६. ज्ञातृधर्मकथा अ. १।

श्रेणिक की सुकाली, महाकाली, कृष्णा आदि दश[1] महारानियों ने भी दीक्षा ली थी। धन्ना[2] और शालिभद्र[3] जैसे धन-कुबेरो ने भी संयम स्वीकार किया। आर्द्रकुमार[4] जैसे आर्येतर जाति के युवको ने और हरिकेशी[5] जैसे चाण्डाल-जातीय मुमुक्षुओ ने और अर्जुन मालाकार[6] जैसे क्रूर नर हत्यारों ने भी दीक्षा स्वीकार की थी।

गणराज्य के प्रमुख चेटक[7] महावीर के प्रमुख श्रावक थे। उनके छः जामाता[8]—उदयन, दधिवाहन, शतानीक, चण्डप्रद्योत, नन्दीवर्धन, श्रेणिक और नौ मल्लवी व नौ लिच्छवी ये अठारह गण-नरेश भी भगवान् के परम भक्त थे।

इस प्रकार केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त होने के पश्चात् तीस वर्ष तक काशी, कौशल, पचाल, कलिंग, कम्बोज, कुरु, जागल, वाहूलीक, गाधार, सिंधु, सौवीर आदि प्रान्तो में परिभ्रमण करते हुए, भूले-भटके जीवन के राहियो को मार्गदर्शन देते हुए उन्होने अपना अन्तिम वर्षावास 'मध्यमपावा' में सम्राट् हस्तिपाल की रज्जुक-सभा में किया[9]। कार्तिक कृष्णा अमावस्या की रात्रि में स्वाति नक्षत्र के समय वहत्तर वर्ष की आयु भोगकर सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हुए। निर्वाण के समय नव मल्लकी, नव लिच्छवी ये अठारह गण-राजा समुपस्थित थे। उन्होंने भाव उद्योत के चले जाने पर द्रव्य उद्योत प्रारम्भ किया था[10] तभी से भारतवासी उनकी याद में दीपावली का प्रकाश-पर्व मनाने लगे।

---

१. अन्तकृतदशाग।
२. त्रिषष्टिशलाका. पर्व. १०, सर्ग. १० श्लो. २३६ से. २४८, प २३४, ५।
३ त्रिषष्टिशलाका-पर्व १०, सर्ग १० श्लो. ८४, प. १३३-१।
४ सूत्रकृताङ्ग टी. श्रु २, अ ६, प., १३६-१
५. उत्तराध्ययन. अ. १२। ६. अन्तकृतदशा
७. आवश्यक चूर्णि उत्तरार्द्ध प. १६४;
८. त्रिषष्टि-पर्व. २०, सर्ग ६, श्लो. १८८, प. ७७-२।
९. आवश्यकचूर्णि भाग. २, प. २६४।
(ख) त्रिषष्टि, प. १०, सर्ग. ६ श्लो. १८७, प. ६६-२।
कल्पसूत्र सुबोधिका टीका सू. १२८।
पावाए मज्झिमाए, हत्थिवालस्य रण्गो रज्जुगसभाए अपच्छिमं अन्तरावासं वासावासं उवागए।
१०. (क) समवायाङ्ग समवाय. ७२।
(ख) स्थानाङ्ग ९. उ. ३, सू. ६९३, ३ कल्पसूत्र।

परिशिष्ट

प्रयुक्त ग्रन्थ सूची

(अ)

१ अनुयोगद्वार—आर्यरक्षित सूरि
२ अन्तगढ
३ अनुत्तरोपपातिक
४ अगपण्णत्ती—आचार्य शुभचन्द्र
५ अभिधानराजेन्द्र कोप
६ अमर कोष
७ अभिसमयालंकार टीका
८ *अपभ्रंशकाव्यत्रयी—लालचन्द्र भगवान् गाधी*
९ अभिधानचिन्तामणि कोप
१० अथर्ववेद
११ अथर्ववेद—सायणभाष्य
१२ अथर्ववेदियं व्रात्यकाण्ड
१३ अष्टागहृदय
१४ अयोगव्यवच्छेदिका

(आ)

१५ आचाराग
१६ आचाराग निर्युक्ति—आचार्य भद्रबाहु
१७ आचाराग चूर्णि—जिनदासगणी
१८ आचाराग वृत्ति—शीलाङ्काचार्य
१९ आवश्यक निर्युक्ति
२० *आवश्यक मलयगिरिवृत्ति*
२१ आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति
२२ आवश्यक चूर्णि
२३ आवश्यक कथा
२४ आगम अट्ठुत्तरी
२५ आगमयुग का जैनदर्शन—प० दलसुख मालवणिया
२६ आगम साहित्य में भारतीय समाज—डा० जगदीशचन्द्र
२७ आचार प्रदीप

२८ आचार्य विजय वल्लभ सूरि स्मारक ग्रंथ
२९ आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रंथ

(इ)

३० इण्डियन एण्टी क्वेरी
३१ Out lines of Poliography, General of University of Bombay.

(उ)

३२ उत्तराध्ययन
३३ उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य वृहद्वृत्ति
३४ उत्तराध्ययन निर्युक्ति
३५ उत्तराध्ययन सुखबोधा
३६ उत्तराध्ययन एक समीक्षात्मक अध्ययन : मुनि श्री नथमल जी
३७ उत्तराध्ययन वृहद्वृत्ति
३८ उपदेशपद
३९ उपदेश सप्तति—आचार्य हरिभद्र
४० उत्तरपुराण—जिनसेनाचार्य

(ऋ)

४१ ऋग्वेद
४२ ऋषभदेव चरित्र
४३ ऋषभदेव : एक परिशीलन

(ए)

४४ एन्शियेन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाय मेगास्थनीज एण्ड एरियन कलकत्ता
४५ A History of Indian Literature

(ओ)

४६ ओपपातिक टीका
४७ ओघनिर्युक्ति—द्रोणाचार्य टीका

(क)

४८ कल्पसूत्र—भद्रबाहु पं॰ पुण्यविजय जी सम्पादित
४९ कल्पसूत्र निर्युक्ति
५० कल्पसूत्र चूर्णि
५१ कल्पसूत्र—पृथ्वीचन्द टिप्पण
५२ कल्पसूत्र—कल्पार्थ बोधिनी

५३ कल्पसूत्र, कल्पसुबोधिकाटीका उपाध्याय विनयविजय
५४ कल्पसूत्र, कल्पलताटीका. समयसुन्दर
५५ कल्पसूत्र—कल्पद्रुमकलिका लक्ष्मीवल्लभ
५६ कल्पसूत्र कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनी राजेन्द्रसूरि
५७ कल्पसूत्र देवेन्द्रमुनि शास्त्री
५८ कल्पकिरणावली धर्मसागर
५९ कहावली
६० कविता कौमुदी
६१ कुवलयमाला
६२ काव्यालंकार
६३ केनोनिकल लिट्रेचर

(ख)

६४ खरत्तरगच्छपट्टावली

(ग)

६५ गणधरवाद पं० दलसुखमालवणिया
६६ गाथासहस्री समयसुन्दरगणी
६७ गांधी जी की सूक्तियाँ
६८ गीतालंकार

(च)

६९ चउप्पन्न महापुरुष चरियं
७० चरक संहिता

(छ)

७१ छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का परिचय--श्याम चरण दुबे

(ज)

७२ जयधवला
७३ जातक कथा
७४ जैनसाहित्य का वृहद् इतिहास भाग १–३
७५ जैनधर्मवर स्तोत्र, स्वोपज्ञवृत्ति भावप्रभसूरि
७६ जैन दर्शन डा० मोहन लाल मेहता
७७ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
७८ जैन चित्रकल्पद्रुम पु० पुण्यविजय जी
७९ जैन साहित्य संशोधक

८० जैन दर्शन पं० बेचरदास
८१ जैन तर्क भाषा उपाध्याय यशोविजय
८२ जैन धर्म का प्राण पं० सुखलाल जी
८३ जैन भारती—कलकत्ता
८४ जैन प्रशस्ति संग्रह
८५ General of the Bihar and Orrisa Research Society Seet. 13

(ट)

८६ Translation of the fragments of the India of Megasthanig.

(त)

८७ तत्त्वार्थसूत्र उमास्वाति
८८ तत्त्वार्थ भाष्य
८९ तत्त्वार्थ राजवार्तिक अकलंक
९० तत्त्वार्थ सूत्र श्रुतसागरीया वृत्ति
९१ तत्त्वार्थसूत्र प० सुखलाल जी
९२ तित्थोगालीय पइण्णय
९३ तृतीय द्वात्रिंशिका
९४ तीर्थकल्प
९५ ताण्ड्यमहाब्राह्मण सायणभाष्य
९६ तैत्तियारण्यक

(द)

९७ दशवैकालिक शय्यंभव
९८ दशवैकालिक- आगस्त्यसिंह चूर्णि
९९ दशवैकालिक निर्युक्ति भद्रबाहु
१०० ,, ,, हारिभद्रीया वृत्ति
१०१ दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति
१०२ दशश्रुतस्कंध चूर्णि
१०३ देशीनाममाला
१०४ दशाश्रुतस्कंध आ० आतमारामजी म०
१०५ देवीभागवत
१०६ दर्शन और चिन्तन
१०७ दर्शन अने चिन्तन

(ध)

१०८	धनञ्जय नाममाला	धनञ्जय
१०९	धम्मपद	
११०	धवला	
१११	धर्म और दर्शन	दवेन्द्रमुनि

(न)

११२	निशीथसूत्र	
११३	निशीथ चूर्णि	उपाध्याय अमर मुनि सम्पादित
११४	निशीथ भाष्य	,, ,,
११५	नन्दीसूत्र	देववाचक
११६	नन्दीसूत्रवृत्ति	
११७	नन्दीसूत्रचूर्णि	
११८	नन्दीमलयगिरिवृत्ति	
११९	नन्दीसूत्र	उपा० हस्तीमलजी म० सम्पादित
१२०	नीतिशतक	भर्तृहरि
१२१	न्याय दर्शन	

(प)

१२२	पउमचरियं	
१२३	पउमसिरि चरिउ	
१२४	पंचकल्प महाभाष्य	
१२५	पंचकल्प भाष्य	
१२६	परिशिष्टपर्व	
१२७	पुरुषार्थसिद्धयुपाय	
१२८	पद्मपुराण	
१२९	प्रवन्ध चिन्तामणि	
१३०	पंचकल्प चूर्णि	
१३१	प्रश्नव्याकरण	
१३२	प्रशमरति	उमास्वाति
१३३	प्रभावक चरित्र	
१३४	पाणीनीय शिक्षा	
१३५	प्रज्ञापना	
१३६	प्रबन्ध पारिजात	पन्यास कल्याणविजय गणी

१३७ पुरातन प्रवन्ध संग्रह
१३८ पातञ्जल योग दर्शन

(ब)

१३९ वत्तीसियाँ सिद्धसेन
१४० वुद्धागम
१४१ वृहदारण्यकोपनिषद्
१४२ व्रह्मसूत्र
१४३ वृहत्कल्प निर्युक्ति
१४४ वृहत्कल्पभाष्य भद्रबाहु —सं० पुण्यविजयजी

(भ)

१४५ भगवती
१४६ भागवत पुराण
१४७ भारतीय संस्कृति साने गुरुजी
१४८ भारतीय प्राचीन लिपिमाला
१४९ भद्रबाहु संहिता
१५० भारतीय संस्कृति शिवदत्तज्ञानी
१५१ भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योग—डा० हीरालाल जैन
१५२ भिक्षुस्मृति ग्रन्थ

(म)

१५३ मज्झिमनिकाय
१५४ महावीरकथा
१५५ मिलिन्दप्रश्न
१५६ मोहनपराजय
१५७ मत्स्यपुराण
१५८ मनुस्मृति
१५९ मीमासा सूत्र शावरभाष्य
१६० मीमासा सूत्र
१६१ मरुधर केसरी अभिनन्दनग्रन्थ
१६२ महाभारत
१६३ महाजन जातक
१६४ महावीरविद्यालय सुवर्णमहोत्सवग्रंथ
१६५ मुनि हजारी मल स्मृति ग्रन्थ
१६६ मंत्राधिराज चिन्तामणि जैन स्तोत्र सन्दोह

१६७ मूलाराधना विजयोदया
१६८ मूलाचार वट्टकेराचार्य

(य)

१६९ यजुर्वेद
१७० योगसूत्र
१७१ योगदर्शन
१७२ योगशास्त्र आचार्य हेमचन्द्र
१७३ योगचिन्तामणि
१७४ युक्त्यानुशासन

(र)

१७५ रत्नाकरावतारिका टीका–प्रभाचन्द्राचार्य
१७६ रत्नकरण्डश्रावकाचार
१७७ राइस डेविड्स बुद्धिस्ट इण्डिका

(ल)

१७८ ल रिलिजन दी जैन
१७९ लङ्कावतार
१८० लब्ध्वर्हंनोति
१८१ लीलावई

(व)

१८२ वेदान्तदर्शन
१८३ वैशेषिक दर्शन
१८४ विपाकसूत्र
१८५ विनयपिटक
१८६ विपाक सूत्र अभयदेव वृत्ति
१८७ विष्णुपुराण
१८८ वाल्मीकिरामायण
१८९ वैदिक इण्डैक्स जिल्द २ मेक्डानल
१९० वैदिक कोष
१९१ वैदिक साहित्य और संस्कृति
१९२ वैशेषिक सूत्र
१९३ बलाहस्स जातक
१९४ वसुदेव हिण्डी

१९५ विचार लेस—विचारसार प्रकरण

१९६ वायणाविही

१९७ व्यवहारभाष्य — मुनि माणक सम्पादित

१९८ विशेषावश्यकभाष्य — जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण

(स)

१९९ सन्मतितर्क

२०० सस्कृति के चार अध्याय — दिनकर

२०१ सायणभाष्य

२०२ संस्कृति के अंचल में — देवेन्द्रमुनि

२०३ समाज और संस्कृति — उपाध्याय अमरमुनि

२०४ स्कंधपुराण

२०५ स्याद्वाद मंजरी — डा० जगदीशचन्द्र एम-ए

२०६ स्थानाङ्ग

२०७ सर्वार्थसिद्धि — पूज्यपाद

२०८ समवायाग

२०९ स्थानाङ्ग वृत्ति

२१० सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र

२११ समवायाग — मुनि कन्हैयालाल कमल

२१२ स्थानाङ्ग समवायाग — दलसुख मालवणिया

२१३ सूत्रकृताग

२१४ सम्मेलन पत्रिका

२१५ सुश्रुत संहिता

२१६ सस्कृत लिटरेचर

२१७ साख्य दर्शन

२१८ सुत्तागमे

२१९ सर्वदर्शन संग्रह

२२० सांख्यसूत्र — कपिल

२२१ साख्यकारिका — ईश्वर कृष्ण

२२२ सुखबोधा समाचारी

२२३ समाचारी शतक

२२४ सन्देहरासक और हिन्दीकाव्यधारा

२२५ सेंट मैन्यू की सुवार्ता २५, सेण्ट ल्यू की सुवार्ता १९

२२६	सोनक जातक	
२२७	समराइच्चकहा	याकोबी
२२८	सुरसुन्दरी चरियं	
२२९	सिरिपालकहा	

(श)

२३०	शिवपुराण	
२३१	शिरुपंचमूलम्	
२३२	श्रावक विधि	धनपालकृत

(ष)

२३३	षट्खण्डागम	
२३४	षट्दर्शन समुच्चय वृहद्वृत्ति	
२३५	षट्दर्शन समुच्चय लघुवृत्ति	

(ह)

२३६	हिन्दीविश्वकोष	
२३७	हीरप्रश्न	हीरविजय सूरि
२३८	हिन्दीभाषा का उद्गम और विकास	डा० उदयनारायण तिवारी
२३९	हत्थीपाल जातक	
२४०	हेमकाव्य शब्दानुशासन	
२४१	हेम शब्दानुशासन	
२४२	हेमसमीक्षा	मधुसुदन पुरोहित

(त्र)

२४३	त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र	आचार्य हेमचन्द्र
२४४	त्रिशीका	

(ज्ञ)

२४५	ज्ञातृधर्म कथा	

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति		अशुद्ध	शुद्ध
१		२४	परमात्मिक	पारमात्मिक
२		,,	व	
,,		२५	₹	त्व
,,		२६	घ	र्थ
,,	टि०	४	ज्ज्वा	ज्जवा
३	,,	१	आगम	आगमः
,,	,,	१७	पणी यं	पणीयं
,,	,,	१८	ट्ठ	ट्ठि
४		७	गे	त्ते
,,	,,	२	बि	वि
,,	,,	१२	पूव्व	पुव्व
,,	,,	६	युत्कलं	व्युत्कलं
६		२	दर्शी	दृष्टि -
,,	,,	५	व्य	व्व
,,	,,	८	व्य	व्वं
,,	,,	९	स	सं
,,	,,	१०	हत्तो	तत्तो
७		४	द्वादशागी	द्वादशांगी
,,		१६	आचरांग	आचाराग
८		१	होते	धनी होते
,,		५	पूर्व	पूर्व
,,	,,	१	म	ग
,,	,,	४	न्द	न्द्र
,,	,,	१६	ण	र्ण
१०		५	(,)	(५)
,,	,,	४	घ्रु	घु
१२		७	बिमाई	बिमाह

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३		गरुलो	गरुड़ो
,,		वेसमणो	वैश्रवणो
,,		देविन्दो	देवेन्द्रो
,,		नागपरिया	नागपरिता
१२	८	सयान	समान
,,	१३	सोवस्तिकघंट	सोवस्तिकावर्त
,,	१७	(वि) यावत	द्वयावर्त
	२३	पन्यास	प्रश्वास
१६	१२	रीय	रोप
,,		प्रतिक्रमण कृतिकर्म	प्रतिक्रमण वैनयिक कृतिकर्म
,,		पुरीक	पुण्डरीक
,,		जगलता	जलगता
१७	३	ज्ञात	ज्ञाता
,,	१५	हरेक	हर एक
,,	१५	विन्ध्या	विन्ध्य
,,	टि॰ ५	आयाहिएहिं	आयारिएहिं
,,	,,	वा	वा
,,	,, ६	,,	,,
१८	२	ही	
,,	१३	मिलत	मिलता
,,	टि० २	हा -	हा-
,,	,,	वेहिं	वेहि
,,	,, ६	रक्खिअमज्जेहि	रक्खिअज्जेहिं
,,	,, ७	विहत्तो	विहत्तो
,,	,, ,,	साकओ	सा कओ
१९	१४	कारण	करण
३०	३	सुख	उन्होने सुख
,,	टि॰ १	बण	णव
,,	,, ७	पइम्मय	पइण्णय
,,	,, ९	पुस्तावना	प्रस्तावना

पृष्ठ		पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२		१	सारपेन्टिर	सारपेण्टिर
२३		१	वही	वही
,,	टि०	१	होवतीउ	होवंति
२५		७	स्थानिक	स्थापनिक
२६		२२	दा	दो
,,	,,	२	जम्हाये	जम्हा ए
,,	,,	७	ा	स
२७		१५	अल्पना	कल्पना :
,,	,,	८	ङ्ग	ङ्गा
२८		१६	को	की
२९		५	द्रा	द्वा
,,	,,	१	ड	ड
,,	,,	५	र्वा	र्व
,,	,	११	ग्जू	ज्जू
३०	,,	४	त्यु	त्थूओ
,,	,,	६	दुवाल सं	दुवालसं
३१		१	स्थाविरो	स्थविरो
,,	,,	११	वारह .. गि	वारह....वि
३२		१३	कल्वा	कल्पा
,,		१४	व्या	व्या
,		२३	य	इ
३४		२६	दा	द्वा
३५		१०	अर्थ	अर्द्ध
,,		११	देवाणं	देवा णं
,,	,,	१६	मगद्ध	मगहद्ध
,,	,,	,,	णिमयं	णिम्मियं
३६		५	आर्युवेंद	आयुर्वेद
३७	,,	१०	पहण्णयं	पइण्णयं
३९		७	देवार्द्धि	देवर्द्धि
४०		१७	भौतिक	मौलिक
,,		१९	भौतिक	मौलिक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४१	६	वभोए	वंभीए
,,	,,	लिविए	लिवीए
४३	२०	श्रमा श्रमण	क्षमा श्रमण
४४	टि॰ १	साम्प्रत	साम्प्रतं
,,	,, ६	लहुँगा	लहुगाइँ
४५	१२	पद्धाति	पद्धति
४९	१०	(२ नः) दी	(२) नन्दी
,,	३१	चिूण	चूर्णि
५१	२६	परमम्परा	परम्परा
५४	२५	यन	अनु
५५	टि० ७	निरज्जू	निज्जू
,,	,, १०	अर्थ	अर्थं
५६	१	उम	उमा
५७	,, १	सात्म्य	सात्म्यं
,,	,, ,,	लाघवं	लाघवं
,,	,, ६	वुद्धया	वुद्धचा
५८	,, ६	नर्वा	नंवा
,,	,, ,,	दोष.	दोष
६१	२	व्या	न्या
६२	१७	।	
६४	२	त्यूण	त्युपा
६८	,, २	लोगणुजोग	लोगणुजोग
७९	,, ,,	दिड्ढि	दिट्ठि
८१	,, ५	पणत्ता	पण्णत्ता
,,	,, ६	वथा	कथा
,,	,, ७	देश	देस
,,	,, १०	गा	ग
८३	२१	नि	यि
८६	१५	पँ	पं
,,	२४	दि	पि
,,	२७	घृ	वृ

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८७	७	प्पू	म्पू
८९	१६	ल्लल्प	ल्लकल्प
९१	१	निखरा	बिखरा
,,	१८	छट्ठुण	छट्टण
	टि० ५	मावा	मा वा
९६	१७	लप	छप
,,	,, ८	ऽमूक्व	ऽमूच
९८	४	भूत	एवं भूत
,,	१०	पर्यार्थिक	पर्यायार्थिक
,,	टि० ७	उप्पादव्वयाट्ठिइ	उपादवयठिइ
९९	,, १	संतवायदो से	संलवायदोसे
,,	,, ४	पाडिक्कं	पाडिक्कं
१००	,, ८	ल्	भ
१०१	,, ७	१	३
१०२	,, २	सद सु	सद.सु
,,	,, ६	भाओ	आओ
१०३	७	घनाया	बनाया
,,	९	स्या	त्या
,,	१८	छपा	छचा
,,	२९	श्री योगशास्त्रंनवं प्रकटितम्	प्रकटितं श्री योगशास्त्रं नवम्
,,	२०	नव	नवं
,,	,,	तकः	तर्कः
,,	२१	कृत	कृतो
१०७	टि० १	यशोमम तभ	यशो मम तव
१०८	४	समाव	समान
१०९	,, ३	पठरयत्या	वधिरयत्या
११०	२	यहीं	नहीं
,,	८	वि धन	विवेचन
१११	९	मुच्चय	समुच्चय
,,	२८	त्र	त्रि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११२	१	मि	भिम
११३	६	u	n
,,	टि० ६	नाम	नाममाला
११५	२	चित	चित्त
११८	९	ओरी	ओर
,,	१२	शैशिल्य	शैथिल्य
,,	१३	रह	रही
,,	,, ४	वहुवहा	वहुहा
,,	,, ५	अहु	अट्ठु
११९	,, १	विशं	विंश
,,	,, २	सहस्त्रे	सहस्रे
,,	,, ,,	दृ	दु
,,	,, १	विशंत्या	विंशत्य
,,	,, ४	स्वथा	स्तथा
,,	,, ८	दस	दश स
,,	,, ११	ट्टिया	दृशा
१२०	१३	म्व	म्प

,, पक्ति १३ के नीचे इस प्रकार पढें :—
सभी स्व पर शास्त्रो को मैंने नही देखा है, और जितने देखे भी हैं उतने अभी स्मृति पथ पर नही हैं,

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२०	२२	मुक्त	भुक्त
१२१	३	समयाङ्ग	समवायाङ्ग
,,	५	ज्ञात	ज्ञाता
	टि० १	भि	भिर्ग्र
१२२	४	मिन्न	भिन्न
,,	१३	भम	मय
,,	१६	वा	वा
१२३	४	दा	द
१२४	५	छ्यिा	च्वियां
१२६	२२	यमृत	यामृत
१२७	७	फल्प	कल्प

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३०	२	घा	वा
,,	३	त	त्त
१३३	टि० ३	श्च	च्च
,,	,, ,,	सवं	सर्वं
१३७	१०	डु	ढु
,,	१५	विलल य रुहो	वि मलय रुहो
,,	,, १	उजइवि	उ जइ वि
,,	,, २	रु	रू
१३८	टि० २	वहु लम्मि	वहुलम्मि
,,	,, ३	पत्थु अम्मि	पत्थुअम्मि
१४२	११	यास्या	व्याख्या
,,	,,	ढ	
१४४		४४१	१४४
,,	टि० ४	जवः	जव.
	,, १२	भरहेवासे	भरहे वासे
,,	,, ,,	भ्मु	भ्मू
१४५	,, ५	पोदृवुच्छिजोणी सूलाइ वा	पोट्टसूलाइ वा कुच्छिसूलाइ वा जोणिसूलाइ वा
,,	,, ६	जणक्खवु	जणक्खय कु-
,,	,, ,,	वसणभ्मु	वसणभ्मू
,,	,, ७	ण	णं
,,	,, १२	न्ते	त्ते
१४७	,, १	ण	णा
,,	,, २	क्ता	क्त्वा
,,	,, १२	ष	षः
१४९	५	जौ	जो
१५०	११	एकमेव	एकमेक
१५०	१४	वद	वढ
,,	,, ४	निं	नि
,,	,, ७	मो	मु
,,	,, ११	ते	ता

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५१	२	सोल	सोलह
,,	३	फू	फूल
,,	८	ह-	-ह
,,	,, १	व्याघे	व्याधेः
,,	,, ,,	षष्टिः	षष्टि
,,	११	थ	व
१५४	४	जु	जू
,,	टि० ३	रा	गा
१५४	टि० ४	ष्य स	ष्यस्य
,,	,, ८	ते	ता
१५५	४	ल्य	ल्या
,,	७	,,	,,
,,	२०	वं	एवं
१५७	८	गङ्ची	गुडूची
,,	,, २	वय	वय.
,,	,, ३	पं	प
१६१	१६	उत्तराध्यन,	उत्तराध्ययन
१६६	१५	तालसय,	तालसम
१७१	१४	यधुरं	मधुरं
१७१	१९	सासा	सामा
१८४	१७	दूसरा	दूसरी
१८४	१७	सस्कृति	संस्कृति
१८५	१५	पराक्षण	परीक्षण
१८७	२४	दिक्षा	दीक्षा
१८८	१३	प्रकति	प्रकृति
१८८	२३	चरमो	चरम
१९७	१२	से	०
१९८	१९	चिन्त	चित्त
१९८	२९	मर्गा	मार्गं
२०४	१३	वाह्मण	ब्राह्मण
२०५	११	न	ने